Reg. No. : N-1316/2014-15

Nov. 2015-April 2016
Vol. II, No. I
ISSN 2394-2207

उन्मेष

Unmesh

An International Half Yearly
Refereed Research Journal

सम्पादकद्वय
डॉ० राधेश्याम मौर्य
शिवेन्द्र कुमार मौर्य

सह-सम्पादक
डॉ० अरविन्द कुमार

प्रकाशक
जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़, उ०प्र०

Reg. No. : N-1316/2014-15

ISSN : 2394-2207

उन्मेष

Unmesh

An International Refereed Research Journal

वर्ष २ अंक १ नवम्बर-२०१५-अप्रैल २०१६

सम्पादकद्वय

डॉ० राधेश्याम मौर्य

शिवेन्द्र कुमार मौर्य

सह-सम्पादक

डॉ० अरविन्द कुमार

प्रकाशक

जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, प्रतापगढ़-२३०००१ (उ०प्र०)

lj{kd&eaMYk

M,0 gjh'kpUæ tk;lokYk] पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इविंग क्रिश्चियन महाविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0

Mk0 ch0,u0 flag] पूर्व निदेशक, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0

M,0 pEik dqekjh flag] प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

M,0 n;kjke e0;k ^jRu*] पूर्व सहजिला विद्यालय निरीक्षक, प्रतापगढ़, उ0प्र0

Mk0 f'koefr yky ek;k] निदेशक, निदान केन्द्र, प्रताप बहादुर पार्क जिला चिकित्सालय के सामने, प्रतापगढ़, उ0प्र0

lEikndk

M,0 jk/k';ke ek;k] प्रवक्ता, जी0वी0आई0सी0, देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ0प्र0

f'koUn dqekj ek;k] शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

lg&lEikndk

Mk0 vjfoUn dqekj] हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ÁcU/k&lEikndk

Mk0 lhrk jke flag] एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,
गणपत सहाय पी0जी0 कॉलेज, सुलतानपुर, उ0प्र0

M,0 fot ;] जी0वी0आई0सी0 देल्हूपुर, प्रतापगढ़, उ0प्र0

vuqokn lgk;d

leu yrk dqekjh] शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

lEikndk&e.MYk

M,0 Òj;YkkYk % एसो0प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0

Mk0 lehj dqekj ikBd % असि0 प्रोफेसर, डी0ए0वी0 पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी, उ0प्र0

M,0 ih;"kdkUr 'kek %एसो0 प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग, एम0डी0पी0जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़, उ0प्र0

M,0 lhrkjke flag % एसो0 प्रोफेसर, अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, गनपत सहाय पी0जी0 कॉलेज, सुल्तानपुर, उ0प्र0

M,0 jktho dqekj flag % विभागाध्यक्ष, गणित विभाग, प्रताप बहादुर पी0जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़, उ0प्र0

M,0 vjfoUn dqekj % असि0 प्रोफेसर, डॉ0 हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

lqr"k dqekj % असि0 प्रोफेसर, राजकीय महाविद्यालय, जक्खिनी, वाराणसी, उ0प्र0

vuqt dqekj % प्रवक्ता, जी0जी0आई0सी0 साँगीपुर, प्रतापगढ़, उ0प्र0

egUæ flag ikloku % असि0 प्रोफेसर, राममनोहर लोहिया विधि विश्वविद्यालय, लखनऊ, उ0प्र0

vdqj e0;k % राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कुरुक्षेत्र

ijke'k&e.My

डॉ0 प्रकाश चन्द्र तिवारी, डॉ0 प्रचेतस, अशोक कुमार, अमित कुमार सिंह कुशवाहा

fof/k&ijke'k

Kku Ádk'k e0;k : पूर्व राज्य सूचनायुक्त, उ0प्र0

MhOohO lj"t : एडवोकेट, हाईकोर्ट, मुम्बई

lEikndh; lEid : जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान, सी–23, आवास विकास कालोनी
प्रतापगढ़–230001 (उ0प्र0) भारत
मो0– 09415627372, 08004802456
ई–मेल : unmesh0110@gmail.com
shivendrakr.maurya@gmail.com

izdk'kd

tu lok ,oa 'kks/k f'k{kk lLFkku] izrkix<] m0iz0

eqæd

jkt xkfQDl] ch0,p0;0 jkM] ydk] okjk.klh
मो0 : 09415842611 / 08081711954

u"V %& सम्पादन, संचालन–पूर्णतः अवैतनिक / अव्यवसायिक / अनियतकालीन। उन्मेष में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं। लेखों एवं उद्धरणों से सम्बन्धित किसी भी वाद–विवाद के लिए लेखक की जिम्मेदारी स्वयं की होगी। सम्पादक, प्रकाशक एवं उन्मेष परिवार के किसी भी सदस्य की जिम्मेदारी नहीं होगी। किसी भी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र प्रतापगढ़ होगा।

lEikndh;

mVBkuulieknu lञ्keu neu pA
nhi df;jkFk e/kkoh ;: vk?kk ukfHkdhjfrAA
(धम्मपद, अप्पमादवग्गो)

(मेधावी मनुष्य उद्योग से, सावधानी से, संयम से और दम से साधना करके ऐसा सुरक्षित द्वीप (जमीन) बनाये, जिससे उसको सांसारिक बाढ़ न डुबा सके।)

'धम्मपद' में उल्लिखित तथागत बुद्ध का यह वचन, 14 अप्रैल यानि अम्बेडकर जयन्ती पर सायास स्मरण हो आया। भारत ही नहीं समूचे विश्व में अम्बेडकर जयन्ती की धूम को देखकर ऐसा लगा, कि वाकई में बाबा साहब द्वारा तैयार किया सुरक्षित द्वीप नई दिशा और रोशनी की ओर अग्रसर है। डॉ0 अम्बेडकर ने जिस मेधा, संयम और सावधानी से साधना करके लोगों में समरूपता रूपी जमीन तैयार करने की कोशिश की थी, क्या हम उस विरासत को सम्भाल पाने में कामयाब हुए हैं? लोगों द्वारा उनका अनुसरण और अनुपालन कितना किया जा रहा है, उसका हिसाब भी हमें ही रखना होगा।

यह सब जानते हैं, कि तथागत बुद्ध का प्रादुर्भाव भारत में हुआ और उन्हें ज्ञान की प्राप्ति भी भारत में ही हुई। किन्तु, उनके ज्ञान का लाभ उठाया कौन? उनके द्वारा बताये रास्ते पर चला कौन? उनको ज्यादा मान–सम्मान दिया कौन? यह कोई अबूझ पहेली नहीं है; बल्कि यह सबको पता है, बुद्ध के ज्ञान से पूरा विश्व प्रकाशित हुआ और भारत के लिए चरितार्थ हुई 'चिराग तले अँधेरा' की यह कहावत। कहीं बाबा साहब भी इसी कहावत के शिकार न हो जांय। उनको लेकर देश में जिस तरह की राजनीतिक खींचतान चल रही है, उससे इस बात का दुःख है कि 'अम्बेडकर' जो एक वैचारिक मशाल होना चाहिए था, वह अब राजनीतिक ज्वाल बनता जा रहा है।

बाबा साहब जिस जनतंत्र पर विश्वास करते थे, जिसे देश की ताकत मानते थे, वह जनतंत्र बीच–बीच में जाग तो रहा है, किन्तु उसे राजनीतिक डंडे की थाप से फिर सुला दिया जाता है। जैसा कि आये दिन जनतंत्र में हो रहे उबाल और उसके दमन के रूप में देखा जा सकता है। भारत जैसे देश में जाति और वर्ग के भेद को मिटाये बिना सामाजिक समरूपता नहीं लाई जा सकती। आर्थिक आधार भी उसके लिए तब तक बहुत मायने नहीं रखता, जब तक कि सामाजिक समरूपता स्थापित न की जा सके। यह कितने शर्म की बात है, जब कोई बुद्धिमान व्यक्ति यह कहे कि अम्बेडकर जयन्ती हम क्यों मनायें? इसे तो वे लोग मनायें जो आरक्षण का लाभ उठा रहे हैं। देश के ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति से सामाजिक न्याय का क्या आधार हो सकता है? फिर भी इतना तो तय है कि धर्म के वर्चस्व और राजनीतिक अत्याचार से कभी भी सुशासन नहीं लाया जा सकता। वह आयेगा तो आपसी सौहार्द और प्रेम से ही। इसी पत्रिका के एक शोध–आलेख से साभार उद्धरण लेते हुए और डॉ0 अम्बेडकर तथा सम्राट अशोक की संयुक्त जयन्ती के सुअवसर को याद करते हुए कि– ''जनतंत्र सार्वजनिक जीवन जीने की पद्धति है। जनतंत्र की जड़ें व्यक्तियों के सामाजिक

सम्बन्धों में खोजनी पड़ती है। जनतंत्र एक ऐसी शासन–प्रणाली है, जिसके द्वारा आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में बिना रक्त की एक बूँद बहाये क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये जा सकते हैं।''

देश में कुछ अतिवादी शक्तियाँ सक्रिय हुईं, जिसे देशद्रोही गतिविधियाँ कहा गया है, इससे मन बहुत खिन्न हुआ, किन्तु उसे बहुत बड़ा इशू बना दिया गया, इससे मन और खिन्न हुआ। यह अकारण नहीं है, कि देश में राष्ट्रविरोधी ताकतें पनप रही हैं, जिसके दमन के लिए सरकार ने कमर कस लिया है। प्रश्न यह है कि क्या इसके पहले देश में ऐसी गतिविधियाँ नहीं होती थीं, यदि होती थीं; तो अन्य सरकार का ध्यान उधर क्यों नहीं गया? लोगों का कहना है कि वर्तमान सरकार देश को हिन्दू राष्ट्र बनाने पर तुली है तो बड़ी विनम्रता के साथ सरकार से यह पूछा जाना चाहिए, कि क्या देश की सारी कौम इसे स्वीकारने के लिए तैयार है? यदि जनमत से सरकार बन सकती है तो कौमी एकता क्यों नहीं स्थापित हो सकती? सुचिन्तकों से एक प्रश्न और क्या यह देश इससे पहले हिन्दू राष्ट्र नहीं था या भविष्य में और किसी तरह का राष्ट्र होने जा रहा है। ये सारे प्रश्न सिर्फ मानसिक उलझाव के लगते हैं, सुलझाव के नहीं। कबीर की वाणी यहाँ अधिक तर्क संगत लगती है–

rsjk esjk euvk d:l bd gkbZ jsA
e: dgrk gk vkf[ku n[kh rs dgrk dkxn dh ys[khA
e: dgrk lqj>kougkjh rs jk[;k mj>kbZ jsA

- - - - - - - - - - - - - - - - -

^mUe"k* पत्रिका के एक वर्ष पूर्ण होने और दूसरे वर्ष के प्रथम अंक की प्रवृष्टि पर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। पिछले अंक की उपलब्धि और इस अंक में लोगों का उत्साह, मनोबल को और बढ़ाने वाला है। इस अंक में कई प्राध्यापकों और शोधार्थियों के महत्वूपर्ण शोध–आलेख सम्मिलित हैं। पत्रिका की गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए कुछ मित्र, महानुभावों के शोध–पत्र शामिल नहीं किये जा सके, यदि उनकी भावना आहत होती है, तो उनसे विनम्र क्षमाप्रार्थी हूँ। नवोन्मेषी शोधार्थियों के शोध–आलेखों में जो सम्भावना बन पड़ी है, उसमें कुछ सुधार किया गया है, ताकि वे भविष्य में अपने को बेहतर बना सकें। हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मेरी स्थानीयता के कारण वहाँ से शोध–आलेख कुछ अधिक हो गये हैं, इसके लिए उसमें कोई आग्रह या दुराग्रह न समझा जाय। पिछले अंक में कुछ मित्रों को पत्रिका के भारी–भरकम आकार से शिकायत थी, उसका इस बार ध्यान दिया जा रहा है।

महाराष्ट्र राज्य व अन्य स्थानों के सूखा–पीड़ित लोगों के साथ अपनी संवेदना व्यक्त करते हुए केन्द्र तथा राज्य सरकार से सहायता की माँग करते हुए उनके सुखी व समृद्ध होने की कामना करता हूँ। ^mUe"k* पत्रिका के सुव्यवस्थित टंकण एवं मुद्रण के लिए श्री राज मौर्य एवं श्री राहुल मौर्य के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, साथ ही इस पत्रिका के सुधी अध्येताओं, लेखकों एवं अन्य सुहृय विद्वत्जनों तथा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग करने वाले सहयोगी जनों का भी हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। सम्पादक की भी अपनी सीमाएँ हैं, ऐसे में यदि कुछ अपेक्षित सुझाव हो तो वह मेरे लिए सहर्ष ग्रहणीय होगा।

सम्पादक

mUe"k

vuØef.kdk

- Ckkt:kjoknh n"iHkko l: VVr: ikfjokfjd eY;k: dh nkLrk: ^jgu ij jX?k:* 1&5
  डॉ0 अरविन्द कुमार
- tul:[;k of) ,o: i;koj.k vou;u&,d voyksdu 6&8
  विनोद कुमार o कृष्ण कुमार यादव
- yksdxhrk: e: vfHk0;Dr ck> L=h dh onuk 9&12
  शिवेन्द्र कुमार मौर्य
- Lokeh foosdkuUn dk f'k{kk n'ku ,o: vk/kfud f'k{kk 13&16
  डॉ0 रामानन्द यादव
- Ckxeijk % l:r jfonkl d: liuk: dk lekt 17&19
  मदन पाल
- vk/kfud Hkkjrh; efgyk dykdkj o lkekftd ljksdkj 20&23
  शालिनी सिंह
- nfyr foe'k: dh o|pkfjdh e: MkO vEcsMdj d: fopkjk: dh iklfxdrk 24&28
  राहुल कुमार यादव
- e|yk vk|py % xkeh.k thou dk lekt'kkL=h; v/;;u 29&31
  सुरेन्द्र यादव
- fujkyk Ñr ljkt Lefr % ,d vu|ie Ñfr 32&35
  गोपाल यादव
- vkjfEHkd miU;klk: e: fo/kok thou 36&41
  सर्वेश कुमार
- x<oky fgeky; dh efgykvk: ij o'ohdj.k dk iHkko ¼d|N p|fuUnk igy½ 42&47
  शालिनी श्रीवास्तवा
- x¨nku e: xkE; thou 48&51
  श्याम नन्दन
- jk"Vªh; tkxj.k vkj x.k'k 'kdj fo|kFkh dh i=dkfjrk 52&56
  अभिषेक उपाध्याय
- ikfdLrkuh&fgUnkLrkuh gkr: g|, ,d egku fpUrd jg: Hkh"e lkguh 57&59
  रवि कुमार
- l:r nknn;ky dk v/;kRe n'ku 60&63
  आशीष कुमार
- nfD[kuh fgnh dk lkfgR; 64&67
  लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता
- fxjfefV;k Áokl v©j Áoklh fgUnh Y¨[ku 68&72
  अंकिता चौधरी
- mRrj Hkkjr e: lkeUrokn dk fodkl vkj {k=h; jkT;k: dk mn; 73&78
  पवनेन्द्र कुमार कुशवाहा
- dkyk igkM: % lkEi|nkf;drk fojk/kh p|ruk dk l'kDr gLrk{kj 79&82
  प्रियंका
- dey:'oj dk dFkk lkfgR; vkj flu|ek 83&85
  अर्चना सिंह यादव

- ekfj'kl dh dfork ;k=k vkj vfHkeU;q vur dh dfork 86&92
  राजीव मोहन
- lkekftd leL;kvk l l?k"kjr ^lf"V ij igjk* 93&96
  शिवराम मौर्य
- vk/kfud ;qx e Yk¨dxhr¨ dk ÁHkko 97&98
  प्रदीप कुमार मौर्य
- vudj.k fl)kr dh çkP;&ik'pkR; vo/kkj.kk 99&102
  सतरुद्र प्रकाश
- Òkjrh; tutkrh; ^^ifjokj** dh fo'¨"krk v©j Ádkj 103&105
  आनन्द कुमार गोंड
- /kfey d dk0; e fonkg Hkko 106&109
  रिंकी वर्मा
- ^xknku* e nfyr thou dh vfHk0;fDr 110&114
  रामानन्द कुमार
- ^fujkyk dh Hkk"kk ,o Nn lc/kh fopkj 115&117
  गरिमा तिवारी
- ^^jk"Vh; lkLdfrd pruk d vkykd e i lkn d ukVd** 118&120
  हरीश कुमार वर्मा
- iepUn dh dgkfu;k vkj Lok/khurk vknkyu 121&124
  विवेकानंद तिवारी
- v/kj uxjh % 0;X; vkj foMEcuk d #i e 125&128
  गौरव कुमार जायसवाल
- fgUnh uotkxj.k d ifjÁ{; e fujkYkk dh dk0;pruk 129&132
  मनोज विश्वकर्मा
- ;tqoin dk lekt n'ku 133&135
  पारंगत खलखो
- 'k[ky fgn ekykuk egen glu vkj efLye uokRFkku 136&140
  डॉ0 समीर कुमार पाठक
- Hkkjrh; lLÑfr % tu lkfgR; dk egÙo 141&142
  अस्मिता तिवारी
- Hkkjrh; lLÑfr e ukjh dk LFkku 143&147
  कादम्बिनी मिश्रा
- lkEinkf;d nxk vkj ekr dk uxj 148&151
  श्रवण कुमार गुप्ता
- fujkYkk d dk0; e lkekftd pruk 152&160
  शिव कुमार यादव
- 21oh lnh dh ie[k dof;f=;k dh fgUnh dfork e efgyk l'kfDrdj.k 161&164
  श्वेता अग्रवाल
  डॉ0 मृदुल जोशी
- jkxnjckjh e lkekftd folxfr;¨ dk ;FkkFk 165&170
  सुषमा

- ^mi lgkj^% d".k dFkk d dyoj e ledkyhu lnHk 171&174
  रोहित वर्मा
- cky fodkl ,o ifjokj % ,d lekt'kkL=h; v/;;u 175&181
  डॉ0 सीताराम सिंह
- f'k'kikyo/ke e lk[; 182&185
  अखिलेश कुमार
- vejdkr d miU;kl e lkekftd&lkLÑfrd lnHk 186&188
  अवनीश कुमार सिंह
- ck) n'ku e ^/;ku* lk/kuk dk egRo 189&191
  जय प्रकाश यादव
- epn dk dFkk&lkfgR; % ukjh&'kfprk&lUnHk 192&197
  बृजेश कुमार दूबे
- LdR ok³e; fufgr 'kklu 0;oLFkk 198&206
  सुधांशु चौबे
- frfFkLo:ifoe'k % 207&210
  उमाशंकर शर्मा
- **An Overview of Microfinance in India:A study of SKS Microfinance Finance Institution in Allahabad District and its impact on rural women** **211-215**
  Dr. Mukta Tripathi
  Dr. Sarita Verma

Ckkt:kjoknh n"i:Hkko l: VVr: ikfjokfjd eY;k: dh nkLrk: ^jgu ij jX?k:*

MkO vjfoUn dqekj*

साठ के दशक में जिन कथाकारों ने हिन्दी कथा–साहित्य दरख़्त को एक नयी ज़मीन पर प्रतिष्ठित किया है, उसमें काशीनाथ सिंह का नाम अग्रिम पंक्ति के लेखकों में शामिल करके देखने की चेष्टा की जा सकती है। काशीनाथ सिंह वर्तमान कथा साहित्य के ऐसे सशक्त हस्ताक्षर हैं, जो अपनी रचनाओं के विषय वस्तु के चयन के प्रति काफी सजग दिखाई पड़ते हैं। एक सशक्त, सफल व उत्कृष्ट रचनाकार वह होता है, जो अपने समय, समाज के ज्वलंत मुद्दों और समस्याओं को अपनी रचना में समाहित करके चलता है और इस धरा पर अगर हम काशीनाथ सिंह के कथा संसार का मूल्यांकन करेंगे, तो निराशा हाथ नहीं लगेगी। काशीनाथ सिंह के सम्बन्ध में जो प्रशंसोक्ति महाश्वेता देवी ने लिखी है, वह इस लेखक की प्रकृति को समझने के लिए काफी सहायक है। आप लिखती हैं कि ''काशी की व्यक्तित्व की एक खूबी मुझे बहुत भाती है, वह है उनका ठेठ ग्रामीण व्यक्तित्व। वे जमीन के आदमी हैं और आदमी से ही जिन्दगी को समझते हैं। काशी में पेंच नहीं है।....शहर में रहते हुए भी ग्रामीण संवेदना, भोलापन और सच्चाई बचाकर रख पाना और शहरी विकृतियों से अपने को बचाये रखना बड़ी बात है। काशी पक्षी की तरह हैं। जिसे प्रकृति ने गढ़ा है, ग्राम्य परिवेश ने गढ़ा। काशी में कृत्रिमता नहीं है, वे सीधे–साधे 'तीसरी कसम' के हीरामन की तरह। काशी को देख मुझे बंदोपाध्याय याद आते हैं। उनकी रचनाओं में आम भारतीय और उसका संग्राम है। काशी की रचनाओं में भी यह भारतीयत्व है। हममें कितने लोग इस भारतीयत्व को अर्जित कर पाते हैं।''[1]

काशीनाथ सिंह जी एक ऐसे रचनाकार हैं, जो अपने सामयिक समाज में हो रहे बदलाव, दुष्परिणामों, ह्रासों के प्रति पूरी तरह से सजग और उसे अपनी रचनाओं में यथातथ्य चित्रित करने में ईमानदार नज़र आते हैं। इनकी रचनाओं में आप विषय वस्तु के चुनाव के दृष्टिकोण से पुनरावृत्ति नहीं पायेंगे। उनका पहला उपन्यास 'अपना मोर्चा' विश्वविद्यालय में हो रहे छात्र राजनीति व लचर शिक्षा प्रणाली से संबंधित है, तो वहीं दूसरा उपन्यास 'काशी का अस्सी' को अधिकांश आलोचकों ने उपन्यास की अपेक्षाकृत संस्मरण ही अधिक ठहराया है। 'काशी का अस्सी' में काशीनाथ सिंह ने बनारस के एक मुहल्ले 'अस्सी' के माध्यम से बनारस की सभ्यता और संस्कृति का चित्रण भाषाई जीवंतता के साथ किया है। 'रेहन पर रग्घू' इनका तीसरा उपन्यास है, जो उनके दोनों पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न भाव–भूमि पर रचा गया है, जिसकी औपन्यासिक संरचना को लेकर शायद ही किसी को संशय हो। उपन्यास लेखन का यह क्रम आगे भी निरन्तर चलता रहता है और इसी क्रम में 'महुआ चरित' और 'उपसंहार' भी पूर्ववर्ती उपन्यास से बिल्कुल अलग फलक और कलेवर की रचनाधर्मिता ही लगती है। बहरहाल, हम 'रेहन पर रग्घू' पर आते हैं। वर्तमान समय में 'संवेदना, संबंध और सामूहिकता की दुनिया में जो निर्मम विध्वंस हुआ है– तब्दीलियों का जो तूफान निर्मित हुआ है, इस उपन्यास में रघुनाथ उर्फ रग्घू के माध्यम से और उसके परिवार के माध्यम से काशीनाथ सिंह जी ने अत्यंत मार्मिक चित्रण किया है, बल्कि ये कहना ज्यादा उचित होगा कि बड़ा ही सूक्ष्म और सधा हुआ चित्रांकन हुआ है, लेकिन यह ध्वंस और ये तमाम तब्दीलियाँ तो शहरों, कस्बों और गाँवों तक धँसती हुई तथा सब कुछ को अपने

*पूर्व शोध–छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सर्वग्रासी विनाश में समेटती हुई पूँजीवादी व्यवस्था के सामान्य परिणाम है। काशीनाथ सिंह इन्हीं परिणामों को पहाड़पुर गाँव, बनारस के माध्यम से बड़ी तटस्थता, कलात्मक सधाव और खूबसूरती के साथ चित्रांकन किया है। अपनी जड़ों और जमीन से कट चुकी युवा पीढ़ी के चरम अवसरवादी और लम्पट (लुम्पेन) चरित्र की त्रासद परिणतियों तक। इसका एक छोर यदि पूँजीवादी दुनिया के नरक अमरीका को छूता है, तो दूसरा जमीन हथियाने और अपहरण करने वाले माफियाओं के गिरोह 'शार्प–शूटर्स' को।''[2]

यह उपन्यास आज की युवा पीढ़ी की शहरी उपभोक्तावादी संस्कृति का तो पर्दाफाश करती ही है, साथ ही गाँव में आ रहे जबरदस्त बदलाव की ओर भी संकेत करती है। 'रेहन पर रग्घू' की कथा दो स्तरों पर आगे बढ़ती है, एक ओर पहाड़पुर गाँव है, जो भूमंडलीकरण के व्यापक प्रभाव से दिनों–दिन बदल रहा है और कहीं–न–कहीं अपना ग्रामीण परिवेश खोता जा रहा है। दूसरी कथा रघुनाथ और उनके परिवार के माध्यम से शहर से जुड़ी है, जिसमें लेखक आधुनिक संस्कृति के प्रभाव से शहरों के भौतिक परिवर्तन के साथ ही सामाजिक मूल्यों के पतन और सामाजिक व पारिवारिक स्तर पर मानसिकता व विचारों में आ रहे जबर्दस्त बदलाव को रेखांकित करता है।

वास्तव में उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' सम्बन्धों की उधेड़बुन की कथा है। चाहे वह दाम्पत्य सम्बन्ध हो, प्रेम सम्बन्ध हो, पिता–पुत्र सम्बन्ध हो या फिर कोई अन्य सम्बन्ध। रघुनाथ जो उपन्यास का प्रमुख पात्र है, स्वयं उसका, उसकी पत्नी शिला के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध केवल औपचारिकता के धरातल तक ही सीमित दिखाई देता है या फिर यह कहें कि था ही नहीं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा। शीला, रघुनाथ से व रघुनाथ, शीला से कभी जुड़ ही नहीं पाये। लेखक ने उपन्यास में एक स्थान पर इसका संकेत भी दिया है – ''शीला के साथ रघुनाथ के रिश्ते दाम्पत्य के ही रहे, प्यार के नहीं हो सके। यह भी कह सकते हैं कि वे शीला के साथ सो लेते थे, प्यार नहीं करते थे।''[3]

आज सारा विश्व किसी एक समस्या अथवा प्रभाव से ग्रसित नज़र आता है, तो वह है– भूमंडलीकरण। भूंडलीकरण का प्रभाव आज समाज में अच्छा कम व बुरे ही अधिक हुए हैं। ग्लोबल हो रहे इस दुनिया के देवता हैं– व्यक्तिनिष्ठा, आत्मकेंद्रीयता, व्यक्तिगत प्रगति, संकुचित मानसिकता, नैतिक पतन और मानवीय मूल्य हीनता और इस देवता का पुजारी होता जा रहा है– आज का समाज। खासकर युवा पीढ़ी। 'रेहन पर रग्घू' में उपन्यासकार ने भूमंडलीकरण के प्रभाव का बड़ा ही सूक्ष्म अंकन किया है। भूमंडलीकरण के कुप्रभाव से न सिर्फ वातावरण दूषित हुआ है, बल्कि मानवीय मूल्यों और पारिवारिक टूटन, आत्मकेन्द्रीयता और विस्थापन जैसी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है। 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास मुख्य रूप से इस बात की ओर संकेत करता है कि किस प्रकार भूमंडलीकरण ने मानवीय सम्बन्धों को दरेर दिया है। किस प्रकार हम पश्चिमी सभ्यता का अंधानुसरण करते हुए, सारे रिश्ते–नातों की समझ और मूल्य भुलाकर आत्मकेन्द्रित होते जा रहे हैं। वास्तव में इन सबका सफल प्रस्तुतीकरण का उत्कृष्ट नमूना है– 'रेहन पर रग्घू'।

भूमंडलीकरण ने विस्थापन की प्रवृत्ति को हवा दी है। आज हर इंसान अधिक से अधिक पैसा कमाना चाहता है। रूपये की भूख दिनों–दिन डॉलर में परिवर्तित हो रही है। रघुनाथ अपने तीनों बच्चों खासकर संजय को आगे बढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ते हैं। उसकी प्रगति के लिए खुद को होम कर देते हैं। हर अपमान झेलते हुए, हर समझौता किया, किन्तु इन सबके बावजूद पश्चिमी सभ्यता के अंधानुसरण ने उसे अपने देश व जमीं से ही विस्थापित कर दिया। वह अमेरिका जाकर नौकरी करने लगता है और पीछे परिवार को छोड़कर यहाँ तक कि अपनी पत्नी सोनल को छोड़कर अमेरिका में दूसरी औरत के साथ बस जाता है– ''जिनके लिए घर से बेघर हुए उन्हीं के अपने अलग घर।'' ऐसा नहीं है कि रघुनाथ अपने बच्चों को आगे बढ़ते देख खुश नहीं हैं या वह उन्हें अपने साथ बाँधना चाहते हैं। जैसा कि उपन्यासकार के शब्दों में– ''रघुनाथ भी चाहते थे कि बेटे आगे बढ़ें। वे खेत और मकान नहीं हैं कि वे अपनी जगह ही न छोड़े। लेकिन यह भी चाहते थे कि ऐसा भी मौका आए जब सब एक साथ हों, एक जगह हों– आपस में हँसे, गाएँ, झगड़े, हा–हा–हू–हू करें, खाएँ–पिएँ, घर का सन्नाटा

टूटे। मगर कई साल हो गये हैं और कोई कहीं है कोई कहीं। और बेटे आगे बढ़ते हुए इतने आगे चले गए हैं कि वहाँ से पीछे देखें भी तो न बाप नजर आएगा न माँ।''[4]

महत्वाकांक्षी रफ्तार और आत्मकेंद्रित मूल्यों के इस बहाव में रघुनाथ का दूसरा बेटा धनंजय भी सराबोर है। धनंजय की मानसिकता भी इसी बाजारवादी सोच से ग्रसित है, जो अमीर बनने और ऐशो–आराम भोगने के लिए दिल्ली में दक्षिण भारत की रहने वाली विधवा विजया जो एक बच्चे की माँ और लाखों की मालकिन है, उससे शादी कर लेता है। आज की युवा पीढ़ी जल्दी अमीर बन जाने की राह में किसी भी हद तक गिर जाने को अमादा है। धनंजय का विधवा के साथ विवाह करने का फैसला तो सही है, किन्तु उस फैसले के पीछे जो नियति है, वह किसी मायने में भी नैतिक नहीं है। यही फर्क़ है बाज़ारवादी सोच का। मूल्य वही है, किन्तु नियत बदल गई है।

रघुनाथ की शिकायत अपने बेटों की महत्वाकांक्षाओं से कभी न थी। उन्हें शिकायत थी तो उनके अन्दर आ गई संवेदनहीनता और रिश्तों के प्रति उदासीनता को लेकर। 'रेहन पर रग्घू' वृद्धावस्था की समस्या पर लिखा गया एक उत्कृष्ट उपन्यास कहा जा सकता है। 71 वर्ष के रघुनाथ उपन्यास के अन्त में एक ऐसी स्थिति में आ जाते हैं, जहाँ वे विकल्पहीन हो जाते हैं। उनके पास कोई घर नहीं बचता, कोई आत्मीय संबंध नहीं बचता, उनके जीवन का कोई आसरा नहीं बचता। रिश्तों में आ रही इस संवेदनहीनता को सिर्फ बाप–बेटे के बीच ही नहीं दिखाया गया है, बल्कि पति–पत्नी, बाप–बेटी, सास–बहू, माँ–बेटी आदि अनेक स्तरों पर इतने मार्मिक ढ़ंग से प्रस्तुत किया गया है कि पाठकों को यह सब अपने ही घर की कहानी सी लगती है। वृद्धावस्था की यह लड़ाई रघुनाथ दो स्तरों पर लड़ते हैं। पहला सम्बन्धों के स्तर पर जहाँ पत्नी, बेटी, बेटा कोई भी उनकी तकलीफ़ में उनके साथ चलने को तैयार नहीं है। दूसरी लड़ाई उन्हें सामाजिक और प्रशासनिक व्यवस्था के खिलाफ़ लड़नी पड़ती है। अशोक बिहार कालोनी में आने के बाद रघुनाथ को ज्ञात होता है कि अपने संतान द्वारा उपेक्षित वह मात्र अकेले नहीं हैं, बल्कि बुजुर्गों की एक पूरी ऐसी जमात सी है, जो वृद्धावस्था का दंश झेल रहे हैं। उपन्यास में एक स्थान पर जब रघुनाथ पार्क में एक बूढ़े व्यक्ति को देखते हैं, तो उनके मन को गहरा सदमा सा लगता है– ''उस सुबह ध्यान गया पार्क की ओर आते एक बूढ़े की ओर–लकवे का मारा हुआ, मुँह टेढ़ा, गरदन बेकाबू, बायाँ बाजू झूलता हुआ असहाय, घिसटता हुआ बेबस पाँव, दूसरी गली से निकलता एक दूसरा बूढ़ा जिसकी एक आँख खुली और दूसरी पर हरी पट्टी, उसके पीछे एक और बूढ़ा जिसके गले में कालर यानी स्पांडिलाइटिस का पट्टा, तीसरी गली से भी एक बूढ़ा आ रहा है, पार्क की गेट की तरफ धीरे–धीरे। उसके हाथ में बोतल है और ट्यूब लुंगी के अन्दर।''[5]

बाज़ारवादी मूल्यों की पृष्ठभूमि पर रचा गया यह उपन्यास मुख्य रूप से मध्यवर्गीय वृद्ध या बुजुर्ग की वह त्रासद कथा है, जो जीवन के आख़िरी दिनों में बच्चों के बाज़ारवादी सोच के कारण अपनी पत्नी को बाँझ और खुद को निःसंतान पिता तक समझने लगता है। वह अपनी पत्नी शीला को सम्बोधित करते हुए कहता है कि– ''शीला हमारे तीन बच्चे हैं, लेकिन पता नहीं क्यों कभी–कभी मेरे भीतर ऐसी हूँक उठती है, जैसे लगता है– मेरी औरत बाँझ है और मैं निःसंतान पिता हूँ। माँ और पिता का सुख नहीं जाना हमने।''[6]

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में सकारात्मकता का एक पहलू निम्नवर्गीय चेतना के रूप में भी उभरकर सामने आता है। दलितों में आई इस नवीन चेतना का अंकन लेखक ने बखूबी किया है। गाँव में निवास करने वाली सवर्ण जातियों को यह अहसास हो गया है कि अब दलितों की अस्मिता और विद्रोह को दबाकर रखा नहीं जा सकता है और रघुनाथ जो कि एक बुद्धिजीवी अध्यापक हैं, उन्हें इस सामाजिक रूपान्तरण का भली–भांति एहसास है। उपन्यास में सदियों से वर्ण और जातीय आधारित शोषण के शिकार दलित जातियों के भीतर पिछले कुछ दशकों में जो संघर्ष चेतना विकसित हुई है, उसे लेखक ने पहाड़पुर गाँव के खेतिहर दलित मजदूरों के हड़ताल के माध्यम से उद्घाटित करने का प्रयास किया है – ''हलवाहों ने हड़ताल की थी ऐसे ही वक्त पर खेत के जोत, बन्नी और क्रोड़ा को लेकर। हड़ौरी (हल जोतने की मजदूरी) और खलिहान को लेकर। बाबा आदम के जमाने से चले आ

रहे रेट पर काम करने से इन्कार कर दिया था हलवाहों ने। बीच–बीच में हड़तालें की थी उन्होंने, लेकिन ठाकुरों ने थोड़ा बहुत बढ़ाकर और उन्हें समझाकर ठीक कर लिया था, लेकिन अबकी आर–पार की लड़ाई थी। इनमें गोबर पाथने वाली उनकी औरतें और लड़कियाँ भी शामिल थीं। नतीजा यह कि खेतों से लेव का पानी सूखने लगा था, चरनी पर बँधे मवेशी गोबर मूत में ही उठ बैठ रहे थे और पूरा ठकुराना गन्दगी से बजबजा रहा था।'[7] हलवाहों द्वारा किया गया यह हड़ताल न सिर्फ दलितों में आ रही चेतना की ओर संकेत करता है, बल्कि उनकी एकजुटता डॉ. अम्बेडकर के मूल मंत्र शिक्षा, संगठन और संघर्ष से निकले सकारात्मक परिणाम और उनकी प्रतिबद्धता की ओर भी इशारा करता है।

उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में लेखक ने विमर्श के हर पहलुओं का विश्लेषण तो नहीं किया है, किन्तु पढ़ी–लिखी वर्तमान समाज व समय की स्त्रियों में जो अस्मिता बोध जगा है और वे किस प्रकार रूढ़ियों का अतिक्रमण करती हुई, अपनी पहचान बना रही हैं, इस बोध को लेकर भी लेखक ने काफी सजगता का परिचय दिया है। लेखक ने इस उपन्यास में सरला, सोनल और मीनू आदि पात्रों के माध्यम से वर्तमान संदर्भ में नारी की बदली छवि का सूक्ष्म चित्रांकन किया है। उदाहरणार्थ हम सोनल के एक कथन को ले सकते हैं, जिसमें स्त्री आत्मनिर्भरता का परिचय मिलता है। सोनल शिक्षित और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर पात्र है। सोनल रघुनाथ के बड़े बेटे संजय की पत्नी है। संजय द्वारा दूसरी शादी की सूचना मिलती है, तो वह कहती है कि ''तुम समझते क्या हो अपने आपको? अरे तुमने डाईवर्स के लिए पूछा तो होता 'हां' कर देती मैं। तुम नहीं देते कहते तो मैं दे देती। पूछा तक नहीं, इशारा तक नहीं किया...मूर्ख समझते हो मुझे? जैसे मैं तुम्हें जानती ही न होऊँ? जैसे तुम्हारी हरकतों से अनजान रही हूँ। मैं तो बच्चू तुम्हारी खटिया खड़ी कर देती, लेकिन क्या बताऊँ? लोग यही समझते कि मैं यह सब गुजारा भत्ता के लिए कर रही हूँ, जबकि मैं थूकती हूँ तुम्हारी कमाई पर।...क्या समय हो रहा है पापा? चार? साढ़े चार? रूकिये आपको चाय पिला रही हूँ।''[8]

इस तरह के बेख़ौफ और बेधड़क बोलने की क्षमता विकसित हुई है, पिछले कुछ दशकों में स्त्रियों के भीतर। पितृसत्तात्मक मूल्यों को नकार कर अपनी स्वतंत्रता, अस्मिता और स्वायत्ता जैसे प्रश्नों पर गंभीर दिखाई देने लगी है–आज की स्त्री। अब उसे पितृसत्ता की मार झेलना बिल्कुल भी मंजूर नहीं है और न ही उन रिश्तों को ढ़ोने का शौक़ ही, जिसमें आत्मीयता, प्रेम और अपनापन नहीं है। सोनल द्वारा संजय की खटिया खड़ी कर देने वाली बात, स्त्री चेतना का एक नया सकारात्मक चेहरा इस उपन्यास के माध्यम से हमारे सामने उपस्थित होता है। परंपरावादी समाज में कुढ़ती, मरती–खपती स्त्री से बिल्कुल पृथक। पति के धोखा देने के बाद घर के किसी कोने में रोते हुए, अपना सारा जीवन बिता लेने वाली स्त्री से भिन्न प्रतिकार करने वाली चेतनशील स्त्री के रूप में परिवर्तित यह नया आटोनॉमी वाला चेहरा।

सोनल के माध्यम से स्त्री चेतना का एक तरफ तो इस उपन्यास में सकारात्मक पहलू दिखाया गया है, वहीं रघुनाथ की बेटी सरला के माध्यम से इसका नकारात्मक पहलू भी उपन्यास में देखा जा सकता है, जहाँ सरला अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और निष्ठा के लिए अपने ही गाँव के एक पी.सी.एस. अधिकारी सुदेश भारती (दलित पात्र) से विवाह करने का फैसला करती है। अंतर्जातीय विवाह का यह फैसला अवश्य रूढ़िवादी मानसिकता को दरकिनार कर आधुनिक सोच का परिचय देता है, किन्तु इसके पीछे प्रेम अथवा रूढ़ियों को तोड़ने की पहल नहीं है, अपितु यहाँ सरला के माध्यम से उस वैश्विक–बाज़ारवादी सोच को उजागर किया गया है, जहाँ स्त्री स्वतंत्रता का परिचय नहीं देती, बल्कि सुदेश भारती से विवाह करने का उसका यह फैसला सुख–सुविधाओं और एय्यासी करने के लिए लिया गया है। यह है व्यावसायिक सोच का एक उत्कृष्ट नमूना। वास्तव में ग्लोबलाइजेशन का एक प्रभाव समाज में यह भी है कि स्त्री अपनी स्वतंत्रता का गलत फायदा उठाते हुए, समाज में सारे नैतिक–अनैतिक स्वच्छन्द उड़ान भरना चाहती है। इस दृष्टिकोण को उपन्यास में भली–भांति देखा जा सकता है, जब सरला सुदेश भारती से शादी इस तर्क़ के साथ करती है – ''मैं करूँगी लेकिन अपनी

शर्तों पर, आप मेरी 'स्वाधीनता' दूसरे के हाथ बेच रहे थे, यहाँ मेरी स्वाधीनता सुरक्षित है, आप 'अतीत' और 'वर्तमान' से आगे नहीं देख रहे थे, हाँ मैं 'भविष्य' देख रही हूँ, जहाँ 'स्पेस' ही 'स्पेस' है।''[9]

बाज़ारवाद का एक नया चेहरा यह भी है, जहाँ इंसान इतना स्वार्थी, लोभी और आत्मकेंद्रित हो जाता है, कि अपनी व्यक्ति निष्ठा के लिए किसी भी हद तक गिरने को तैयार है। यहाँ किस स्पेस की बात हो रही है। यह कैसी स्वतंत्रता और स्वाधीनता है, जो किसी की भावनाओं से खेलकर मिले। स्वतंत्रता–स्वाधीनता मनुष्य मात्र की बुनियादी ज़रूरत और अधिकार है, किन्तु जब यह स्वाधीनता अनैतिक रूप धारण कर लेती है, तो मानवीय गरिमा के लिए ख़तरनाक साबित हो जाती है।

शिल्पगत प्रौढ़ता के आधार पर भी यह एक महत्वपूर्ण उपन्यास कहा जा सकता है। उपन्यास का आरम्भ ही उसके अन्त के साथ होता है। उपन्यास का भाव व भाषा अत्यंत सहज व परिवेश–वातावरण के अनुकूल आज के संदर्भ में पूर्णतया प्रासंगिक व ज्वलंत है। इसमें एक ओर चरनी, हड़ौली, लेव, जोत, बन्नी, क्रोड़ा आदि ठेठ गंवई शब्दों के प्रयोग द्वारा ग्रामीण जीवन व परिवेश उभरकर सामने आता है, वहीं दूसरी ओर ट्राली, कल्टिवेटर, हार्वेस्टर, थ्रेशर, प्रोफेशन आदि शब्दों द्वारा उन परिस्थितियों में परिवर्तन की झलक भी देखने को मिलती है। उपन्यास लेखन की प्रक्रिया में शब्दों के चयन से लेकर उपन्यास में उसे यथास्थान उपयोग तक की प्रक्रिया में लेखक ने काफी सजगता का परिचय दिया है।

उपर्युक्त मूल्यांकन के आधार पर निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं, कि 'रेहन पर रग्घू' वर्तमान समय व समाज का वह प्रामाणिक दस्तावेज है, जिसमें न सिर्फ पूरा सामाजिक परिवेश अपने सामयिक हलचलों के साथ उभरकर सामने आता है, बल्कि भूमंडलीकरण, बाज़ारीकरण, वैश्वीकरण के इस युग में जहाँ एक ओर प्रेम, दया, आदर, सम्मान, सहानुभूति जैसे भाव प्रधान व संवेदनशील शब्द अपनी पहचान और अर्थ खोते जा रहे हैं, वहीं मानवीय मूल्य, पारिवारिक टूटन, आत्मकेन्द्रीयता, व्यक्तिनिष्ठा, आपसी सम्बन्धों में आ रहे दरार आदि का सूक्ष्म अंकन इस उपन्यास में उभरकर सामने आता है। उपन्यास के आरम्भ में लेखक ने लिखा है कि ''काशी का अस्सी मेरा नगर था, तो रेहन पर रग्घू मेरा घर है– और शायद आपका भी।'' वास्तव में लेखक की यही स्वीकारोक्ति इस बात की ओर संकते करती है, कि यह कथा किसी एक रघुनाथ रूपी व्यक्ति विशेष की नहीं है, बल्कि यह हमारे समय और समाज के हर उस घर की कहानी भी है, जो इस समस्या से गुजर रहा है।

lUnHkZ %

1. सिंह, काशीनाथ, रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ.सं. ब्लर्व से।
2. सं. भारत भारद्वाज, पुस्तकवार्ता (द्वैमासिक पत्रिका), अंक–20, जनवरी–फरवरी 2009, मा.गां. अन्तरराष्ट्रीय वि. वि., वर्धा, पृ.सं. 18–19
3. सिंह काशीनाथ, रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ.सं. 123
4. वहीं, पृ.सं. 133
5. वहीं, पृ.सं. 125
6. वहीं, पृ.सं. 89
7. वहीं, पृ.सं. 64
8. वहीं, पृ.सं. 138
9. वहीं, पृ.सं. 54

***

tul[;k of) ,o i;koj.k vou;u&,d voyksdu

foukn dqekj*
Ñ".k dqekj ;kno**

iLrkouk&

वास्तव में मनुष्य सभी जन्तुओ में सर्वाधिक बुद्धिमान तथा शक्तिशाली जन्तु है तथा वह पर्यावरण को उसी सीमा तक परिवर्तित करने में समर्थ है, जो न केवल जीवों के लिए घातक होगा वरन् उसका स्वयं का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। 20वीं शताब्दी में जनसंख्या में आशातीत वृद्धि के कारण प्राकृतिक संसाधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ा है, परिणाम स्वरूप निरन्तर बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए इन प्राकृतिक संसाधनों का लोलुपतापूर्ण, धुंआधार विदोहन हो रहा है। परिणाम स्वरूप परिवर्तित पर्यावरणीय दशाओं का जीव मण्डल के जीवों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। भौतिक पर्यावरण में इस तरह के मानव जनित परिवर्तनों को पर्यावरण अवनयन या पर्यावरण अवक्रमण (Environmental Degradation) कहते हैं। पर्यावरण अवनयन की निम्न परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है।

''पर्यावरण अवनयन का अर्थ पर्यावरण के भौतिक संघटकों में जैविक प्रक्रमों खास कर मनुष्य की क्रियाओं द्वारा इस सीमा तक ह्रास एवं अवक्रमण हो जाना कि इसे पर्यावरण की स्वतः नियामक क्रिया विधि द्वारा भी सही नहीं किया जा सकता।''

दूसरे शब्दों में पर्यावरण अवनयन का अर्थ होता है–मनुष्य के क्रिया कलापों द्वारा पर्यावरण के संघटकों की आधारभूत संरचना में प्रतिकूल परिवर्तनों के कारण पर्यावरण की गुणवत्ता में इस सीमा तक ह्रास होना कि इन प्रतिकूल परिवर्तनों का जैविक समुदाय तथा मानव समाज पर गहरा प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगता है। पर्यावरण अवनयन के कारण पारिस्थितिकी तंत्र एवं पारिस्थितिकी की विविधता में कमी होने से पारिस्थितिकीय एवं पर्यावरणीय असंतुलन उत्पन्न हो जाता है।

tul[;k of) dk i;koj.k ij iHkko&

भारत में पर्यावरण अवनयन के कारणों में तीव्र दर से बढ़ती जनसंख्या को सर्व प्रमुख कारण समझा जाता है, क्योंकि लगातार बढ़ती जनसंख्या के कारण देश के सीमित प्राकृतिक संसाधनों पर दबाव बढ़ता जा रहा है। वास्तव में औद्योगिक विस्तार, नगरीय वृद्धि, कृषि में विस्तार एवं विकास यातायात एवं संचार के साधनों में वृद्धि आदि। जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि के ही परिणाम हैं कि मानव समुदाय को भुखमरी एवं प्राकृतिक आपदाओं से बचने के लिए oKkfud rduhdh ,o ixfr vk/kqfud ik|kfxdh का विकास करना पड़ रहा है।

परिणाम स्वरूप जनसंख्या में वृद्धिदर की अपेक्षा प्राकृतिक संसाधनों के विदोहन की दर बढ़ती जा रही है, जिस कारण कई कीमती एवं अनवीकरण वाले संसाधनों का अभाव होता जा रहा है। ज्ञातव्य है कि जैसे–जैसे जनसंख्या में वृद्धि होती जाती है, वैसे–वैसे प्राकृतिक संसाधनों पर दबाव बढ़ता जाता है, क्योंकि अतिरिक्त जनसंख्या के भरण–पोषण के लिए अतिरिक्त खाद्यान्न आवास एवं आवश्यकता की अन्य वस्तुओं की मांग बढ़ती जाती है। परिणाम स्वरूप प्राकृतिक संसाधनों का विदोहन बढ़ता जाता

*असि0 प्रोफेसर, बी0एड्0 विभाग, आर0आर0पी0जी0 कॉलेज, अमेठी (उ0प्र0)
**एम0एड्0 छात्र, सी0सी0एस0 पी0जी0 कॉलेज, हेवरा, सैफई इटावा (उ0प्र0)

है। जिस कारण पर्यावरण अवनयन में वृद्धि होती है। 1901 से 1991 के बीच जनसंख्या में 3.5 तथा सन् 1991 से 2000 तक 5 गुनी वृद्धि हुई है। जिस कारण भारत के प्राकृतिक संसाधनों पर 4 गुना और अधिक दबाव हो गया है। परिणाम स्वरूप सकल बोये गये क्षेत्र को 118.75 मिलियन हेक्टेयर से बढ़ाकर 142.81 मिलियन हेक्टेयर करना पड़ा। ज्ञातव्य है कि कृषि क्षेत्र में यह विस्तार वन क्षेत्र में ह्रास करके ही किया गया। खाद्यान्नों में बढ़ती माँग की पूर्ति के लिए कृषि के विभिन्न अनुभागों में परिवर्तन व वृद्धि करना पड़ रहा है। यथा–

1. सिंचाई की सुविधाओं एवं सिंचित क्षेत्र में भारी वृद्धि से 1995–96 तक 49.6 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र की वृद्धि हुई।
2. कृषि रसायनों, नाइट्रोजन, फास्फेट, पोटाश आदि के प्रयोग में 1951–52 से 1996–97 तक 14 गुनी वृद्धि हुई।
3. फसलों को रोगों एवं कीटों से बचाने के लिए जैव नाशक रसायनों के उपयोग में 1948–49 से 1996–97 तक 56 गुना वृद्धि दर्ज की गयी।
4. QQ|nuk'kh रसायनों के उपयोग में 1993–95 से 1998–99 तक 8227 टन वार्षिक दर की वृद्धि हुई।
5. lkduk'kh रसायनों का 1993–94 में 6.695 टन वार्षिक उपयोग 1998–99 में बढ़कर 13.96 टन हो गया आदि।

इस प्रकार रासायनिक उर्वरकों, रोगनाशी एवं जैवनाशी रसायनों के बढ़ते उपयोग के कारण जल एवं मिट्टियों का प्रदूषण बढ़ता जा रहा है। कृषि में रसायनों के बढ़ते उपयोग के कारण उनका आहार श्रृंखला में प्रवेश हो रहा है, जिस कारण मानव स्वास्थ्य दुष्प्रभावी हो रहा है। भारत की जनसंख्या बढ़कर 2006 में 1094 मिलियन तथा 2016 में 1263 मिलियन हो जायेगी, जिस कारण भारत के पहले से ही अवक्रमित पर्यावरण पर दबाव और अधिक बढ़ जायेगा।

ग्रामीण जनसंख्या का प्रव्रजन नगरों की ओर दिनों–दिन बढ़ता जा रहा है। सन् 1901 में भारत की कुल जनसंख्या का कुल 10.84 प्रतिशत नगरों में था। यह प्रतिशत 1991 में बढ़कर 25.71 हो गया, जिसके 2016 तक बढ़कर 33.68 प्रतिशत हो जाने की सम्भावना है। उल्लेखनीय है कि ग्रामीण क्षेत्रों से नगरी क्षेत्रों की ओर जनसंख्या के पलायन के कारण सीमित क्षेत्र में जनसंख्या का दीर्घ समूहन हो जाने से महानगरों का निर्माण हो जाता है। जिस कारण नगरीय पर्यावरण पर दुष्प्रभाव पड़ता है। मलिन बस्तियों की भरमार हो जाती है। वायु एवं जल प्रदूषण का स्तर स्वीकार्य सीमा से बहुत अधिक बढ़ जाता है। नगरीय जनसंख्या में तीव्र वृद्धि के कारण भारत के महानगरों यथा दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, कानपुर, पुणे आदि में वायु प्रदूषण का स्तर बहुत अधिक बढ़ गया है। दिल्ली से निस्सृत भारी मात्रा में प्रदूषण भार के यमुना में विसर्जन के कारण नदी, मात्र 'मलजल वाहिनी' बनकर रह गयी है। यदि नगरीय जनसंख्या के वृद्धि पर समय पर रोक नहीं लगायी जाती तथा प्रदूषण नियंत्रण को प्रभावी नहीं बनाया जाता तो भविष्य में नगरी प्रदूषण इतना अधिक बढ़ जायेगा कि नगर रहने योग्य नहीं रह जायेंगे।

जनसंख्या में वृद्धि के कारण ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में यातायात के साधनों में वृद्धि होती है। परिणाम स्वरूप स्वचलित वाहनों की संख्या में भारी वृद्धि होने से महानगरों में प्रदूषण भार में उतनी ही वृद्धि हो जाती है। भारत में 1950–51 में स्वचलित वाहनों की संख्या–0.306 मिलियन थी, जो 1995–96 में बढ़ कर 34.2016 मिलियन हो गयी। 1982 से 1996 के मध्य महानगरों में पंजीकृत स्वचलित वाहनों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई।

सन् 1980–81 से 1995–96 तक वाहनों की कुल संख्या में 7 गुनी, दो पहिया वाहनों की संख्या में 10 गुनी तथा 4 पहिया वाहनों की संख्या में 4 गुनी वृद्धि दर्ज की गयी। ज्ञातव्य है कि अधिकांश दो एवं चार पहिया वाहनों का उपयोग शहरी क्षेत्रों में ही किया जाता है जिस कारण वायु प्रदूषण में वृद्धि होती है। स्वचलित वाहनों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि का सर्वाधिक दुष्प्रभाव महानगरों

पर हुआ है या हो रहा है। इस दृष्टिकोण से दिल्ली महानगर सबसे अधिक दुष्प्रभावित हो रहा है, क्योंकि 1982 में सभी वाहनों की संख्या 0.593 मिलियन थी जो 1996 में बढ़कर 2.63 मिलियन हो गयी है।

उल्लेखनीय है कि किसी भी देश के सामाजिक–आर्थिक विकास में जनसंख्या की मात्रा की तुलना में उसकी गुणवत्ता अधिक महत्वपूर्ण होती है। जनसंख्या की गुणवत्ता के सूचकों में शिक्षा की अहम भूमिका होती है। ज्ञातव्य है कि भारत में साक्षरता दर में वृद्धि हो रही है तथा लिंग अन्तराल कम हो रहा है। परन्तु देश में अब भी विश्व की सर्वाधिक निरक्षर जनसंख्या है जो उत्तरी अमेरिकी महाद्वीप तथा जापान की सम्मिलित जनसंख्या से भी अधिक है। साक्षरता, जनसंख्या नियंत्रण में सहायक होती है, क्योंकि साक्षर महिलाओं में निरक्षर महिलाओं की तुलना में प्रजनन दर बहुत कम होती है, जिस कारण जनसंख्या वृद्धि में कमी होती है तथा पर्यावरण प्रदूषण पर नियंत्रण होता है। 2011 की जनगणना से स्पष्ट होता है, कि महिलाओं की शिक्षा में वृद्धि के साथ उनकी प्रजनन दर में गिरावट हुई है। शिक्षा विहीन महिलाओं की प्रजनन दर की अपेक्षा उच्च शिक्षित महिलाओं की प्रजनन दर आधे से भी कम रही है।

fu"d"k&

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है, कि पर्यावरण अवनयन के लिए जिम्मेदार प्रक्रमों एवं कारणों से भावी जीवन के प्रति निराशा जागृत होती है तथा यह भी आभास होता है, कि सभी विकासीय कार्य प्रकृति तथा पर्यावरण के विपरीत हैं। ज्ञातव्य है कि, यदि हमें वर्तमान समाज को विकसित करना है तथा बढ़ती जनसंख्या की माँगों को पूरा करना है तो विकास की गति को बनाये रखना होगा, परन्तु विकास कार्य, पर्यावरण एवं मानव समुदाय के अस्तित्व की कीमत पर नहीं किया जाना चाहिए। यदि ध्यान से देखा जाय तो पर्यावरण अवनयन का मूल कारण जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि ही है। अतः पर्यावरण अवनयन को रोकने के लिए सर्वप्रथम जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करना होगा।

lUnHkZ %

1. ममोरिया, चतुर्भुज एवं सिसौदिया, एम0एस0 (2009) : आधुनिक भारत का वृहद् भूगोल, एस0वी0 पी0डी0 पब्लिसिंग हाउस, आगरा।
2. राव, वी0पी0 (2009) : पर्यावरण अध्ययन के आधार, वसुन्धरा प्रकाशन, दाउदपुर, गोरखपुर।
3. सिंह, जगदीश (2010) : पर्यावरण एवं संविकास, ज्ञानोदय प्रकाशन, दाउदपुर, गोरखपुर।
4. राव, वी0पी0 एवं श्रीवास्तव, वी0के0 (2009) : पर्यावरण एवं परिस्थितिकी, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर।
5. सिंह, सविन्द्र (2010) : पर्यावरण भूगोल, प्रयाग पुस्तक भवन, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद, उ0प्र0।

***

ykdxhrk e vfHk0;Dr ^ck>* L=h dh onuk

f'koUn dekj ek;*

लोकगीत, लोकमानस के हर्ष–विषाद की पहचान का अनोखा साधन है। जनमानस में छिपे अनेक निहितार्थ इन्हीं लोकगीतों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। लोकगीत का साहित्य बहुत विशाल है। लिखित साहित्य का लेखा–जोखा तो हमारे पास है, किंतु अलिखित साहित्य का हमें अनुमान भी नहीं है। लोकगीत को लोकसाहित्य की एक शाखा के रूप में माना जाता है। लोकगीत के अलावा भी लोकसाहित्य की अनेक शाखाएँ हैं, जो साधारण जन के अन्तर्मन को समोये हुए हैं।

लोकगीतों के संग्रहकर्ता के रूप में रामनरेश त्रिपाठी का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। ''इन्होंने बड़े श्रम से भारत के विभिन्न प्रान्तों की अनेक वर्षों तक यात्रा करके कई हजार लोकगीतों का संकलन किया। सन् 1929 ई0 में इन्होंने कविता कौमुदी (भाग–5) ग्रामीण गीत का प्रकाशन किया, जिसमें उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार के लोकगीतों का संकलन प्रस्तुत है।'' रामनरेश त्रिपाठी के अलावा श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम भी लोकगीत संग्रहकर्ताओं की सूची में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इन्होंने भारत के अलावा लंका, वर्मा आदि देशों में जा–जाकर लोकगीत संग्रहीत किये।

लोकगीत सुनने में मेरी रूचि बचपन से ही रही है। बचपन में उन लोगीतों के भाव उतने समझ में नहीं आते थे, किन्तु ढोलक की थाप के साथ उसके चढ़ाव–उतार को भावविभोर होकर सुनता था, किन्तु आज उन लोकगीतों के बोल जब कानों में पड़ते हैं तो अन्दर ही अन्दर उधेड़ बुन शुरू हो जाती है। उनके सुख–दुःख के साथ ही हृदय और बुद्धि सहयात्रा करने लगती है। फिल्मी दुनिया के संगीत से कहीं ज्यादा उनमें प्रतिबद्धता नजर आती है। लोक की ताक़त का अहसास तब होता है, जब उन गीतों के मर्म का उद्घाटन होता है।

लोकगीत अंग्रेजी शब्द 'फॉक सांग' का समानार्थी शब्द है। जर्मन भाषा के 'बाल्क' शब्द का रूपान्तर फॉक सांग है। यहाँ लोकगीत की परिभाषा एक भारतीय और एक पाश्चात्य विद्वान के मतानुसार प्रस्तुत की जा रही है। भारतीय विद्वान रामनरेश त्रिपाठी ने लोकगीत की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है– ''ग्रामगीत प्रकृति के उदाहरण है। इनमें अलंकार नहीं, केवल रस है। छन्द नहीं केवल लय है। लालित्य नहीं केवल माधुर्य है। ग्रामीण मनुष्य के स्त्री–पुरूषों के मध्य में हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे ही ग्राम गीत हैं।''[1] इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिया में लोकगीत के संबंध में कहा है कि– ''A further and very important limitation of Folk song must be mentioned namely that is survives by Purely oral tradition''[2] डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'लोक साहित्य की भूमिका' के अध्याय छः में लोकगीतों का विवेचन किया है। लोकगीतों को विभाजित करते हुए उन्होंने उसकी सात श्रेणियाँ बनाई हैं। जो निम्न हैं– (क). संस्कार सम्बन्धी गीत, (ख). ऋतु संबंधी गीत, (ग). व्रत सम्बन्धी गीत, (घ). जाति सम्बन्धी गीत, (ङ). श्रम गीत, (च). विविध गीत।

इन सात श्रेणियों को उपश्रेणी में विभाजित किया गया है। संस्कार संबंधी गीत की उपश्रेणियाँ सबसे ज्यादा हैं। विविध गीत के अन्दर झूमर, अलचारी, पूरवी और निरगुन गीतों को रखा गया है, किन्तु मेरी समझ में बाँझ स्त्रियों के गीत, अभिशाप के गीत, बचलन स्त्री–पुरूषों के गीत भी इसके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

---

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बाँझ स्त्री के दुख–दर्द से सम्बन्धित अनेक गीत लोक में प्रचलित हैं। उनमें से यहाँ दो गीत प्रस्तुत किये जा रहे हैं। दोनों गीत लगभग एक जैसे हैं, किन्तु उनके बोल अलग हैं। ये दो गीत ही कान खड़े कर देने वाले हैं। बांझ स्त्री के पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति के बाद दोनों गीत सुखांत बना दिया गया है–

¼1½

घरवॉ से निकरी बँझिनिया नैहरवा में पहुँचिसि हो।
रामा भितरा से निकरी महतरिया तो दुख सुख पूछे हो।
सासू हमें कहीं हीं बँझिनिया ननद निरबन्सिन हो।
मइया जेकरी मैं बारी बियाही उहौ घर से निकारेन हो।
मइया हमका जौ सरन देतिउ गोबर तोहरे कढ़तेउ दुखन छुटि जातेउ हो।
जँहवाँ से आइउ बँझिनियाँ लउटि उहैं जावहु हो।
तोहके जउ हम राखि लेबै बहुआ मुँह देखिहैं तौ वोउ बाँझिन होइ जइहैं हो।
उहाँ से निराश होइके लउटी जंगल बिच ठाढ़ि भई हो।
रामा जंगल से निकरी बघिनिया तौ दुःख सुख पूछइ हो।
सासु हमै कहीं हीं बँझिनिया ननद निरबन्सिन हो।
बाघिन जेकरी मैं बारी बियाही उहौ घर से निकारेन हो।
बाघिन हमका खाय लेतिउ बिपतिया से छूट जाइत हो।
जहवाँ से आइउ बँझिनियाँ लउटी तहवां जावहु हो।
बाँझिन तोहका जौ हम खाबै तौ हमहु बाँझिन होइ जाबै हो।
उहाँ से निराश होइके लउटी तौ धरती से अरज करै हो।
धरती अपनी शरण हमैं देतिउ समाइ हम जाइत बिपतिया से छूटित हो।
जहवाँ से आइव बँझिनिया वहीं उलटि फिर जावहु हो।
सबसे निराश होइ गईं जब सुरज व्रत ठानी हो।
रामा साल भर रही रविवार नोनवाँ नाही खायेनि हो
दूसरे मा किहिन फरहरवा और तिसरे निराजल हो।
रामा तिसरे बरिसवा के बीतत तो सुरूज प्रसन्न भँयें होरिलवा जनम लिहैं हो।
सासु कहैं लागी तब बहुअवाँ ननद भउजइया हो।
उनके हरी जी प्राण की प्यारी मयरि अनवइया पठई हो।[3]

¼2½

रामा भितरा के मारी पीटी धनिया दुवारे खड़ी रोवै हो।
हेहो सासु मोरी कहत बँझिनिया, ननद ब्रजवासिन हो।
रामा दुवारे से चलिके बँझिनियाँ जंगल बिच रोवै हो।
बन से निकरी बघिनिया तो दुख सुख पूछै हो।
तब मुख बोली रनिया सुनौ बघिनिया हो।
हे हो अरे मोरे रामा सासु मोरी कहत बँझिनिया हो।
जिनकी मैं बारे में बियाही उई घर से निकारें हो।
अरे मोरे रामा जँहवा से आई तहवाँ लउटि जावो हम तुम्हका नाही खइहैं हो।
अरे रामा जौ मैं तुमका खइहौं बाँझिनि होइ जइहौ बात यह मानौ हो।
अरे मोरे रामा बाँबी से निकरी नगिनिया दुक्ख सब पूछै हो।
मोरे रामा सासु मोरी कहत बँझिनिया ननद ब्रजबासिनि हो।
जिनकी मैं बारे बियाही वोइ घर से निकारे हो।
ओ मोरे रामा जँहवा से आई तहवाँ को जावो हम तुमको नाही डसिहैं हो।

ओ मोरे रामा दुख की भरी वह रनिया राम ढिंग आवै हो।
ओ मोरे रामा राम तब पूछैं दुख सुख आपनि बतावौ हो।
ओ मोरे रामा सासु मोरी कहत बँझिनिया ननद ब्रजवासिनि हो।
जिनकी मैं बारे से बियाही तेइ घर से निकारै हो।
ओ मोरे रामा मुख से बोले ब्रह्मा औ दुख–सुख पूछैं हो।
ओ मोरे रामा सासु मोरी कहत बँझिनिया ननद ब्रजबासिन हो।
तब मुख बोले ब्रह्मा सुनौ दुख भारी हो।
ओ मोरे रामा जहाँ से आई तहाँ को जाव बरत रहौ इतवार नमक मति खइहौ हो।
ओ मेरे रामा माघ में मकर नहाय अगिन मति तापौ हो।
अरे रामा कोंछे मा लइ के तिल चाउर सुरज का मनाइव हो।
अरे रामा इतनी तपस्या तुम करियो ललन तोरे होइहैं हो।
ओ मोरे रामा तहवाँ से लौटी रनिया महल चलि आई बचन प्रतिपाले हो।
पहिला महीना जब बीता दूसरा जब लागे हो।
ओ मोरे रामा तिसरा महीना जब बीता चउथा लागे हो।
अरे रामा नववाँ महीना जब बीता हो रिलवा जनम भयो हो।
ओ मोरे रामा सासु कहत बहुरिया ननद भउजइया हो
ओ मोरे रामा जिनकी मैं बारे से बियाही वोइ मुहरै लुटावै हो।
ओ मोरे रामा सातौ शबद शहनाई ससुर द्वारे बाजै हो।
ओ मोरे रामा सात सींक के डेलवा लिये नउनिया हो।
ओ मोरे रामा बाँझिन के दिन बहुरै सोहर लक्ष्मी गावै हो
जो यह सोहर गावै गाय के सुनावै सुनइया पावै हो।[4]

लोक प्रचलित ये दोनों ही गीत कालजयी हैं। ये गीत लोक परम्परा में अभी भी सुरक्षित हैं। इन गीतों का अंत भले ही सुखांत कर दिया गया है, किन्तु शुरूआती बोल बाँझ स्त्रियों की व्यथा–कथा कहते हैं। बांझपना प्राकृतिक योग है, किंतु समाज उसे अच्छा नहीं मानता। समाज उस स्त्री को तरह–तरह के ताने सुनाता है। यही नहीं उसका घर में जीना भी दूभर कर देता है।

यह गीत समाज के समक्ष खुली चेतावनी है। क्या स्त्री का स्त्रीत्व सिर्फ बच्चा पैदा करना है? क्या इसके आगे उसके जीवन की राह नहीं? जहाँ ऐसी स्त्रियों के उचित संरक्षण की आवश्यकता होनी चाहिए, ऐसे में समाज उसे निर्मम रूप से त्याग देता है। ''गौरतलब यह है कि इन हालातों में स्त्री अपने को टूटने नहीं देती वरन् समाज एवं पारिवारिक संबंधों से प्राप्त वेदना एवं पीड़ा को अपने गीतों के माध्यम से उत्सर्जित करती है। यह कभी उनकी ताक़त बनता है, तो कभी कमजोरी।''[5]

दूसरे गीत की पेड़ी (शुरूआत) में ही समाज की क्रूरता सामने आ जाती है। स्त्री को यदि कई वर्षों तक बच्चा पैदा नहीं हुआ तो उसे बांझ समझ घर से मार–पीट कर बाहर कर दिया जाता है। उसे बांझिन, ब्रजब्रासिन जैसे कर्णकटु शब्द से संबोधित किया जाता है। उसके साथ यह कहावत बड़े लाग–लपेट के साथ कही जाती है कि 'जहाँ जायं जगत्ता रानी उहाँ परै पाथर पानी' वह अपनी व्यथा–कथा कहने जिसके पास जाती है, वहीं उसे दुत्कार सहना पड़ता है।

एक बेटी के लिए इससे बड़ा अपमान और क्या हो सकता है, जब उसकी माँ ही उसे बाँझिन कहकर घर में शरण न दे, इस भय से कि उसकी बहुएँ उसे देखकर कही बाँझ न हो जाय। ऐसी स्त्री को धरती भी शरण देने से मना कर देती है। यदि धरती उसे शरण देती है, तो उसे आशंका है कहीं उसकी जमीन ऊसर न हो जाय। नागिन उसे डसती नहीं, बाघिन उसे खाती नहीं, इस डर से कि कहीं वह भी न उसी जैसे बांझिन हो जाय।

''लोकगीतों में व्यक्तिगत अभिव्यक्तियों का कोई स्थान नहीं होता। लोकगीतों के मूल में समष्टिगत अभिव्यक्ति होती है। एक लोकगीत को बनाने में एक या दो वर्ष पर्याप्त नहीं होते, अनुभव

से गुजरते हुए उसे सौ से भी अधिक वर्ष लग सकते हैं। एक लोकगीत पीढ़ियों से खरे अनुभव से तपकर बनता है, तभी तो उसकी मार्मिकता, काव्यात्मकता, संगीतात्मकता अधिक सरल स्पष्ट और व्यापक होती है।''[6] उपर्युक्त लोकगीत किसी एक बाँझ स्त्री को नहीं संबोधित है, बल्कि यह उस समुदाय की समस्त स्त्रियों की अभिव्यक्ति है, जो इस मानसिक स्थिति से होकर गुजरती है।

इसे समाज में प्रचलित अंधविश्वास ही कहेंगे, जो उस स्त्री के प्रति बिना किसी कारणवश बदसलूकी करता है। लोकगीत समाज की रीतियों को सिर्फ प्रसंशित ही नहीं करता, बल्कि उसकी कुरीतियों को उघाड़ता भी है। यह गीत बांझ स्त्री की पीड़ा को व्यक्त करता है। यह गीत सब के मानसपटल पर अभी भी विद्यमान है। आजकल बहुत सारे आधुनिक प्रयोगों ने बांझपन खत्म करने के विकल्प तो खोलें हैं, किन्तु उसका कोई स्थाई निराकरण नहीं है। यह गीत आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना पहले था। आधुनिक परिवेश में जब लोककण्ठ सूख रहा हो, लोकगीत मर रहे हों, तब अपनी अर्थवत्ता की दृष्टि से इन गीतों का महत्व और अधिक बढ़ जाता है।

I UnHk %

1. लोक साहित्य एवं भोजपुरी लोकसाहित्य– डॉ0 द्विजराम यादव, प्रथम संस्करण 2004, नीलकमल प्रकाशन, गोरखपुर, पृ0 70
2. लोक साहित्य की भूमिका– डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, साहित्य भवन प्रा0 लिमिटेड इलाहाबाद, संस्करण 2013, पृ0 3.4
3. जनुश्रुति परम्परा से
4. जनश्रुति परम्परा से
5. शब्दार्थ– सं0 वशिष्ट अनूप, लेख–डॉ0 मीना कुमारी (लोक साहित्य विशेषांक), पृ0 55
6. लोक संस्कृति– बसन्त निरगुणे, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल संस्करण–2012, पृ0 108

***

Lokeh fooekuUn dk f'k{kk&n'ku ,oa vk/kqfud f'k{kk

MkW0 jkekuUn ;kno*

विवेकानन्द का वेदांत दर्शन एवं प्रचार सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के इतिहास में युगांतकारी है। उन्होंने वेदांत के आधार पर ऐसा दर्शन विकसित किया, जो समस्त संघर्षों को दूर करके मानव जाति को बहुमुखी संपूर्णता के उस स्तर तक उठा सकें जो उसका प्राप्य है। ''पूँजीवादी भौतिक सभ्यता के खिलाफ विवेकानन्द के आवेगपूर्ण निन्दावाद में और मनुष्य के 'भौतिक आवरण' की तुलना में उसके आध्यात्मिक सार–भाग को दी गयी प्राथमिकता के समर्थन में टाल्स्टाय को प्राचीन भारतवासियों की प्रारम्भिक उपदेशों की प्रतिध्वनि सुनाई दी, विशेषकर वेदों के ऐसे अनेक भाव दृष्टिगोचर हुए, जो उन्हें स्वीकार्य थे।''[1] ''यदि आप भारत को समझना चाहते हैं, तो विवेकानन्द का अध्ययन कीजिए, उनमें सब कुछ विधेयात्मक है, निषेधात्मक कुछ भी नहीं। –रवीन्द्रनाथ ठाकुर' विवेकानन्द ने कहा था, कि प्रत्येक मनुष्य में ब्रह्म की शक्ति विद्यमान है, निर्धन के माध्यम से नारायण हमारी सेवा पाना चाहते हैं, इसी को मैं सच्चा सन्देश कहता हूँ।''[2] इस संदेश ने व्यक्ति को उसकी स्वार्थपरकता की सीमा से बाहर निकालकर, आत्मबोध को असीम मुक्ति का मार्ग दिखाया।

''मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।''[3] ज्ञान मनुष्य में स्वभाव–सिद्ध है, कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है। समस्त ज्ञान मनुष्य के अन्दर में अव्यवस्थित है, उसे केवल जागृति, केवल प्रबोधन की आवश्यकता है। बालक को अपने अन्दर निहित ज्ञान का अन्वेषण करना है। बालक स्वयं अपने को सीखता है।[4] बालक के आध्यात्मिक विकास के साथ भौतिक विकास पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है, आज शिक्षा जगत में प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक शिक्षार्थियों का आध्यात्मिक विकास अवरूद्ध हो गया है। मूल्य संस्कार, अनुशासन सब गायब हो गये हैं। फलस्वरूप शिक्षार्थियों में आध्यात्मिक विकास के लिए हमें स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा विषयक विचारों को, मानवता, मूल्य आध्यात्म सम्बन्धी विचारों को प्रसारित करना होगा। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार–'' अपने अन्दर जाओ तथा उपनिषदों को स्वयं से बाहर निकालो, तुम सबसे महान पुस्तक हो जो कभी थी या होगी। जब तक अन्तरात्मा नहीं खुलती तब तक सम्पूर्ण वाह्य शिक्षण बेकार है। बालक को इस प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे उसका चरित्र बने, बुद्धि का विकास हो, मानसिक शक्ति बढ़े और वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके।''[5] हमारी शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का निर्माण होना चाहिए।

"मनुष्य जो कुछ सीखता है, वह वास्तव में 'अविष्कार करना' ही है। 'अविष्कार' का अर्थ है मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञानस्वरुप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना। समस्त ज्ञान अपने भीतर है। मनुष्य की आत्मा से ही सारा ज्ञान आता है। जो ज्ञान सनातन काल से मनुष्य के भीतर निहित है, उसी को वह बाहर प्रकट करता है, अपने भीतर देख पाता है। आत्मा में अनन्त शक्ति है, अन्तःस्थ दिव्य ज्योति बहुतेरे मनुष्यों में अवरूद्ध रहती है। वह लोहे की पेटी में बन्द दीपक के समान है– थोड़ा सा भी प्रकाश बाहर नहीं आ सकता। पवित्रता और निःस्वार्थता के द्वारा हम उस अवरोधक माध्यम की सघनता को धीरे–धीरे झीना करते जाते हैं और अंत में वह काँच के समान पारदर्शक बन जाता है। श्री रामकृष्ण परमहंस लोहे से काँच में परिवर्तित पेटी के समान थे, अनुचित दबाव के कारण हमारे बालकों

*पूर्व शोध छात्र, हिन्दी विभाग, वर्तमान शोध छात्र, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी।

को विकास का स्वतंत्र अवसर प्राप्त नहीं होता। हर एक में ऐसी असंख्य प्रवृत्तियाँ रहा करती हैं, जिनके विकास के लिए समुचित क्षेत्र की आवश्यकता होती है।"[6] हमें विधायक विचार सामने रखने चाहिए। यदि तुम उनके सामने विधायक विचार रखो, तो उनमें मनुष्यत्व आयेगा और वे अपने पैरों पर खड़ा होना सीखेंगे। विद्यार्थी की आवश्यकता के अनुसार शिक्षा में परिवर्तन होना चाहिए। विद्यार्थी को उसकी प्रवृत्तियों के अनुसार मार्ग दिखाना चाहिए। जो जहाँ पर है, उसे वहीं से आगे बढ़ाओ। शिक्षार्थियों में स्वयं पर विश्वास, श्रद्धा एवं आत्मत्याग की भावना विकसित की जानी चाहिए। इसलिए उन्होंने नवयुवकों को उद्‌बोधित करते हुए कहा ''उठो, जागो और उस समय तक बढ़ते रहो जब तक कि चरम उद्‌देश्य की प्राप्ति न हो जाय''[7] पूजा भाव से सेवा करो। समाज सेवा के लिए स्वामी जी का वेद वाक्य था 'मानव सेवा ही ईश्वर सेवा है'।[8] क्या तुम नहीं जानते कि प्रत्येक आत्मा ईश्वर का ही स्वरूप है? हर एक को भगवत स्वरूप समझो।

विचारों को आत्मसात करना– ''शिक्षा विविध जानकारियों का ढेर नहीं है, जो तुम्हारे मस्तिष्क में ठूँस दिया गया है और जो आत्मसात हुए बिना वहाँ आजन्म पड़ा रहकर गड़बड़ मचाया करता है। हमें उन विचारों की अनुभूति कर लेने की आवश्यकता है, जो जीवन–निर्माण, 'मनुष्य'– निर्माण तथा चरित्र–निर्माण में सहायक हो। यदि तुम केवल पाँच परखे हुए विचार आत्मसात कर उनके अनुसार अपने जीवन व चरित्र का निर्माण कर लेते हो तो तुम एक पूरे ग्रन्थालय को कंठस्थ करने वाले की अपेक्षा अधिक शिक्षित हो। यदि शिक्षा का अर्थ जानकारी ही होता, तब तो, पुस्तकालय संसार में सबसे बड़े सन्त हो जाते और विश्वकोष महान ऋषि बन जाते''।[9]

''वह शिक्षा जो जन समुदाय को जीवन संग्राम के उपयुक्त नहीं बनाती, जो उनके चरित्र–शक्ति का विकास नहीं करती, जो उनमें भूत–दया का भाव और सिंह का साहस पैदा नहीं करती, क्या उसे भी हम 'शिक्षा' का नाम दे सकते हैं?''[10] ''हमें तो ऐसी शिक्षा चाहिए, जिससे चरित्र बने, मानसिक बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके। आज हमें जिसकी वास्तविक आवश्यकता है, वह है– चरित्रवान स्त्री–पुरुष। किसी भी राष्ट्र का विकास और उसकी सुरक्षा बहुत कुछ उसके चरित्रवान नागरिकों पर निर्भर करती है।''[11]

प्रेमचंद ने 'स्वामी विवेकानन्द' शीर्षक अपने आलेख में सही ही लिखा है– ''स्वामी जी की शिक्षा का आधार प्रेम और शक्ति है। निर्भीकता उसका प्राण है और आत्मविश्वास उसका कर्म है।''[12] प्रेमचन्द की इन उक्तियों पर ध्यान दिया जाय, तो यह मानना होगा कि प्रेम और शक्ति का उद्‌गम स्रोत महिला ही है। इस सिलसिले में सिस्टर निवेदिता की यह पंक्ति नहीं भूली जा सकती है, जैसा कि उन्होंने कहा है, ''स्वामी जी की आराध्या देवी उनकी मातृभूमि है।''[13] शिक्षा प्रणाली को सुधारने के सन्दर्भ में भी उन्होंने काफी जोर दिया था। उनके अनुसार शिक्षा का प्रधान उद्‌देश्य था कि मनुष्य के चरित्र का विकास हो। आचरण में सुधार हो। यह सुधार मानव हित में हो। स्वामी जी ने हमें संदेश दिया कि स्वयं के ऊपर उठो, अपना लक्ष्य ऊँचा रखो। देश, धर्म और संस्कृति के उत्थान के लिए काम करो। सात्विक चरित्र को अंगीकार करो।

हमारी दो ही समस्याएं है– दरिद्रता और अशिक्षा। और दरिद्रता का कारण भी हमारी अशिक्षा है। इसलिए वे जहाँ कहीं भी गये, शिक्षा का प्रचार किया। उन्होंने कहा कि वंचितों को शिक्षा दो, कन्याओं को शिक्षा दो। स्त्री शिक्षा के लिए भगिनी निवेदिता को शिक्षा–मिशनरी बनाकर ही भारत लाये। गायकवाड़ ने मंदिर अथवा मठ बनवाने का प्रस्ताव रखा तो उन्होंने उत्तर दिया कि मंदिर नहीं, टेक्नीकल स्कूल और इंजीनियरिंग कॉलेज खोलो। हमें व्यापार नहीं उद्योग चाहिए। अमेरिका में छाती ठोक कर कहा, 'धर्म हमारे पास बहुत है। धर्म हम तुम्हें देंगे, तुम हमको टेक्नोलॉजी दो, प्रबन्धन दो।' स्वामीजी रोजगारपरक् व्यावसायिक शिक्षा पर भी बल देते हैं। 'हमें यान्त्रिक और ऐसी सभी शिक्षाओं की आवश्यकता है, जिनसे उद्योग–धंधों की वृद्धि और विकास हो, जिससे मनुष्य नौकरी के लिए मारा–मारा फिरने के बदले अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त कमाई कर सके और आपातकाल के लिए संचय भी कर सके।''[14] वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के लिए उपर्युक्त विचार प्रेरणास्रोत है, जिसके द्वारा हम

बेरोजगारी की बढ़ती दर को कम कर सकते हैं। ऐसी शिक्षा व्यवस्था होनी चाहिए, जो व्यावसायिक सृजनात्मक, सामाजिक उत्तरदायित्व और शैक्षिक स्वायत्तता का संवर्धन करती हो। सिर्फ शिक्षा पर व्यय बढ़ाकर हम शिक्षा के उद्देश्यों को नहीं प्राप्त कर सकते। इसके लिए जरूरी है कि शिक्षा व्यवस्था से जुड़े लोगों के अन्दर मानवीय मूल्य, समर्पण एवं उत्तरदायित्व की भूमिका निभाने की शक्ति हो। तभी हम आध्यात्मिक शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा में समन्वय स्थापित करते हुए मनुष्यत्व निर्माण की ओर अग्रसर हो सकते हैं। ''सभी प्रकार की शिक्षा और अभ्यास का उद्देश्य 'मनुष्य' निर्माण हो। सारे प्रशिक्षणों का अन्तिम ध्येय मनुष्य का विकास करना ही है। जिस प्रक्रिया से मनुष्य की इच्छाशक्ति का प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बन सके, उसी का नाम शिक्षा है। हम सर्वत्र सभी क्षेत्रों में 'मनुष्य' बनाने वाली शिक्षा ही चाहते हैं।''[15] ''मनुष्य स्वभाव का महत्व कभी मत भूलना। भूत या भविष्य में, न कोई हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ ईश्वर था, न होगा। मैं ही वह अनन्त महासमुद्र हूँ – ईसा, बुद्ध प्रभृति केवल उसकी तरंगे हैं।''[16] ऋग्वेद में स्पष्ट रूप में कहा गया है– ''हे मनुष्य संसार के ताने–बाने को बुनता हुआ भी प्रकाश के पीछे चल, बुद्धि से परिष्कृत प्रकाशयुक्त मार्ग की रक्षा कर, निरन्तर ज्ञान और कर्म के मार्ग पर चलता हुआ उलझन से रहित कर्म का विस्तार कर तथा पीछे दिव्य–गुण–युक्त उत्तराधिकारी को जन्म दे और इस प्रकार सच्चे अर्थ में मनुष्य बन।''[17] इस प्रकार उदात्त मानवीय–मूल्यों से युक्त मनुष्य को ही 'महाभारत' में नारायण से अभिन्न बताया गया है।[18] श्रीमद्भागवत में भी नर और नारायण को परस्पर सखा बताया गया है।[19] महाभारत में वेदव्यास ने प्रारम्भ में ही इस गुह्य–तत्व–ज्ञान की स्पष्ट घोषणा की है– मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है।[20] ऋषियों ने भी मनुष्य की मनुष्यता के गौरव का अनुभव किया था। प्रेमचंद ने 'गोदान' उपन्यास में दर्शनशास्त्र के प्रो. मेहता से कहलवाया है–''अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं है, कोल्हू है।'' (गोदान पृ. 181) गोदान में प्रेमचन्द लिखते हैं–''रुढ़ियों के बंधन को तोड़ो और मनुष्य बनो, देवता बनने का खयाल छोड़ो देवता बनकर तुम मनुष्य न रहोगे।'' (गोदान पृ. 85) सामाजिक कुव्यवस्था व न्याय के बारे में सोचते हुए देवकुमार (मंगलसूत्र) कहता है– ''देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे।..... मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा, दरिंदों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बांधना पड़ेगा। आज से करीब आठ दशक पूर्व प्रेमचंद के उपर्युक्त विचार कितने ताजे व वर्तमान युग के लिए कितने प्रासंगिक लगते हैं। हमारा पड़ोसी देश पाकिस्तान आतंकवाद का नर्सरी बन चुका है। पाकिस्तान द्वारा पोषित विभिन्न आतंकवादी संगठनों एवं आइ. एस. आइ., इस्लामिक स्टेट, बोकोहराम जैसे खतरनाक आतंकवादी संगठनों को सबक सिखाने के लिए हमें हथियार बांधना ही होगा, हमें वर्तमान वैज्ञानिक युग में नये समावेशी मानवीय–मूल्यों का सृजन करना ही होगा। हमें सामाजिक संघर्षों में न पड़कर राष्ट्र के उत्थान के बारे में सोचना चाहिए।

स्वामी विवेकानंद ने अपने संन्यासी बन्धुओं से अन्तिम स्नेहपूर्ण साक्षात्कार में राष्ट्रों के उत्थान पर बोले। उन्होंने कहा, ''यदि भारत परमात्मा की खोज में लगा रहा तो वह अमर रहेगा। किन्तु वह राजनीति और सामाजिक संघर्ष में पड़ा तो वह नष्ट हो जायेगा।''[21] स्वामी विवेकानन्द जी के शिक्षा विषयक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए हमें वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार, आरक्षरण संबंधी असंगतियों को दूर करके सभी गरीब–अमीर बच्चों को साथ–साथ शिक्षा उपलब्ध करानी होगी। 'ई–शिक्षा' के साथ–साथ आध्यात्म व मूल्य शिक्षा की भी व्यवस्था करनी होगी।

lUnHkZ %

1. स्वामी विवेकानन्द, मेरा भारत अमर भारत, नागपुर : प्रकाशक रामकृष्ण मठ पृ. 167
2. वहीं, पृ. 168
3. स्वामी विवेकानन्द, शिक्षा, नागपुर : प्रकाशक रामकृष्ण मठ पृ. 1
4. वहीं, पृ. 3
5. वहीं, पृ. 7

6. वहीं, पृ. 2, 3
7. वहीं, पृ. 5
8. राष्ट्रीय सहारा (दैनिक पत्र) हस्तक्षेप, 12 जनवरी 2013, पृ. 1
9. स्वामी विवेकानन्द, शिक्षा, नागपुर : प्रकाशक रामकृष्ण मठ पृ.6
10. वहीं, पृ. 6
11. ओड़, डॉ. लक्ष्मी लाल के. शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि राजस्थान : हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 222
12. राष्ट्रीय सहारा (हस्तक्षेप), 12 जनवरी 2013, पृ. 2
13. वहीं, पृ. 2
14. वहीं, पृ. 7
15. वहीं, पृ. 7
16. रोलां रोमां, विवेकानन्द की जीवनी, अनुवादक गुप्त, डॉ रघुराज, कोलकाता : प्रकाशक, अद्वैत आश्रम पृ. 12
17. तन्तु तन्वत् रजसौमानुभन्विहि, ज्योतिष्मतः पथो रक्ष घियाकृतान्। /अनुत्म्वर्ण वयत् जोगुवामयो, मनुर्भव जनय दैव्यं जनम्।। ऋग्वेद 10/53/6
18. 'नारायणो नरश्चैव सत्वमेकं द्विधा कृतम्', महाभारत, उद्योगपर्व
19. 'नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये'। भागवत 11/7/18, श्रीमद्भागवत् 11/9–28
20. 'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रबीमि।/न मानुषाच्छेष्ठतरं हि किंचित्।' महाभारत, शान्ति पर्व, 180/13
21. विवेकानन्द की जीवनी, रोमां रोलां अनुवादक डॉ रघुराज गुप्त, कोलकाता : प्रकाशक, अद्वैत आश्रम पृ. 12

***

Ckxeiqjk % lar jfonkl ds liuksa dk lekt

Eknu iky*

रविदास का समय भक्ति काल है, भक्ति काल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहते हैं। उस समय हमारा देश परतन्त्र था और लोगों पर अत्याचार होते थे, उस समय कोई भी व्यक्ति सत्ता के खिलाफ नहीं बोलता था, परन्तु रविदास, कबीर बहुत साहसी व्यक्ति थे, उस समय रविदास जी ने समाज में व्याप्त आडम्बरों का खण्डन किया है और एक समतामूलक समाज की कल्पना की है, रविदास जी सबसे पहले भोजन और भूख की बात करते हैं। वह कहते हैं समाज के सभी व्यक्तियों को भोजन मिलना चाहिये–

,slk pkgw jkt esa] tgk fey lcu dks vUu
NkV cMk lc le cl] jfonkl jgs iklUu AA[1]

सतगुरू रविदास जी कहते हैं– मैं ऐसे शासन की स्थापना करना चाहता हूँ, जिसमें प्रत्येक मनुष्य को अन्न उपलब्ध हो अर्थात् कोई भूखा न रहे। मैं ऐसे राज्य का निर्माण करना चाहता हूँ, जिसमें अमीर और गरीब बिना किसी भेद भाव के समान रूप से साथ–साथ रह सकें, ऐसे राज्य की स्थापना ही मुझे प्रसन्नता प्रदान कर सकती है। इस वाणी में इन्होंने सिंधु घाटी सभ्यता के शासन की याद ताजा की है, उसे फिर से स्थापित करने की इच्छा जाहिर की है। रविदास महान संत थे, वह सम्पूर्ण समाज को एक साथ लेकर चलते हैं। साहित्य के इतिहास में कोई भी व्यक्ति भोजन की बात नहीं करता है और यह सभी व्यक्तियों को एक समान देखना चाहते हैं। कोई भी व्यक्ति बड़ा–छोटा न हो कर एक समान एक साथ रहे, ऐसा सपना देखते हैं। जब तक यह जात–पात का सिस्टम समाप्त नहीं होगा, तब तक इस संसार में शान्ति नहीं आ सकती। लोग एक साथ मिलकर नहीं रह सकते और जब तक समाज एक साथ नहीं आयेगा, देश और समाज का विकास सम्भव नहीं है ।

रविदास जी हमारे सामने एक मॉडल प्रस्तुत करते हैं बेगमपुरा का, जहाँ किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार का गम न हो अर्थात् वह समाज जहाँ गम न हो, किसी प्रकार की चिन्ता न हो।

Ckxeiqjk lgj dks ukeA nq[k vUnkg ugh frfg BkeAA
Ukk rlohl f[kjkt u ekyA [kmQ u [krk rjl u toky
vc ekfg [kc oru xg ikbA mgk [kfj lnk ejs HkkbAA jgkmAA
dkbe nkbe lnk ikfrlkghA nke u lke ,d lks vkgh
vkcknku lnk elgjA Ågk xuh clfg ekejAA[2]

बेगमपुरा शहर में न भगवान की कल्पना है, न ही यहाँ धार्मिक कट्टरता के लिए कोई स्थान है और न ही यहाँ वर्ण व्यवस्था आडंबर कर्मकांड का ढोंग है, अपितु यह तो पूर्ण रूप से वैज्ञानिक तार्किक मानव हितैषी समतामूलक विचारधारा पर स्थापित शहर है, जहाँ पर प्रत्येक मानव समान है। किसी भी प्रकार का कोई भेद भाव नहीं है। सब अपना–अपना काम करते है; सब लोक श्रम करते हैं और सभी लोग एक साथ रह कर समाज का, देश का विकास करते हैं।

''विश्व प्रसिद्ध लेखिका गेल ओम्वेट के अनुसार–यूरोप के टॉमसमूर ने आदर्श समाज की परिकल्पना 'यूटोपिया का विचार वर्ष 1516 ई0 में दिया, लेकिन टॉमस मूर से भी कहीं पहले क्रांन्तिकारी रविदास ने आदर्श समाज की परिकल्पना बेगमपुरा के रूप में विश्व के सामने रख दी थी ।''[3]

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

जिस भी व्यक्ति ने समतामूलक आदर्श समाज की परिकल्पना की, उनमें सबसे पहले रविदास जी हैं, उनके बाद में अन्य व्यक्ति आते हैं। रविदास जी लिखते हैं कि हमें जीवन में हमेशा श्रम करके खाना चाहिये–

^^jfonkl Je dj [kkb,] tk yk ikj clk; A**[4]

वह कहते हैं, हमें अपने–अपने हिस्से का श्रम करना चाहिये, रविदास जी कामगार समाज में ही पैदा हुए थे । कामगार समाज में हमेशा से ही श्रम की परम्परा रही है। भीख मांगकर खाने को निम्न समझा जाता है, हमारे देश में बहुत कम आदमी हैं, जो काम करते हैं, बाकी तो सब खाने वाले हैं। श्रम करने से सभी आदमी बचते हैं, परन्तु इतिहास गवाह है, जब से इस धरती पर मनुष्य का जन्म हुआ है, तब से लेकर आज तक निम्नवर्ग, दलित वर्ग का हमेशा शोषण हुआ है और इसी वर्ग ने श्रम किया है और मेहनत की रोटी खाई है, बाकी तो उच्च वर्ग वाले व्यक्ति राज करते थे, मुफ्त का खाते थे, परन्तु रविदास जी ने श्रम को महत्व दिया और वह स्वयं भी श्रम करके खाते थे ।

विश्व फलक के महान चिन्तक कार्ल मार्क्स से भी पहले स्वराज के विचार को प्रतिपादित कर दिया था,

^^jfonkl eku"k dfj clu d l[kdj g nb Bko
bd l[k g Lojkt efg nlj ej?kV xko**[5]

व्यक्ति अपने जीवन में सुख और शान्ति से दो ही जगह रह सकता है, एक स्वराज यानि स्वयं का राज और दूसरा है श्मशान घाट। रविदास जी अपने राज की बात करते है; सबका राज हो प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र हो, किसी का शोषण न हो और कोई छोटा–बड़ा न हो, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति सुकून से रह सकता है, वह बेगमपुरा की कल्पना है–

संत रविदाज जी विद्या को महत्व देते हैं–

lr fo|k dk i<] ikIr dj lnk Kku
jfonkl dg fcu fo|k] uj dk tku vtkuA[6]

बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर भी साक्षर और शिक्षित में भेद करते हैं, वही बात संत गुरू रविदास भी करते हैं, केवल अक्षर ज्ञान प्राप्त कर लेना ही महत्वपूर्ण नहीं है, अपितु सही शिक्षा, सत् विद्या प्राप्त करने के बाद जो मनुष्य अपने ज्ञान का सदुपयोग समाज कल्याण हेतु करता है, वही असली ज्ञानी है, नहीं तो उसे अज्ञानी ही समझना चाहिये। जो ज्ञान हमारे पास है, उस ज्ञान का हमें समाज के उद्धार के लिये उपयोग करना चाहिये, हमें समाज कल्याण के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। मनुष्य का जन्म इस धरती पर हुआ है, हमें इस धरती और यहाँ के लोगों की सुरक्षा और उन्हें शिक्षित बनाने का प्रयास करना चाहिये। यह कल्पना रविदास जी बेगमपुरा की करते हैं–

jfonkl tUe d dkju gkr u dkÅ uhp
Ukj d uhp dfj Mkfj g vkN dje dh dhpA[7]

कोई भी व्यक्ति जन्म के आधार पर ऊँच–नीच नहीं होता है, यह तो उस व्यक्ति के व्यवहार पर होता है। रविदास जी का जन्म भी चमार जाति में हुआ था, परन्तु रविदास जी का कर्म बहुत महान है, इसलिये आज समस्त मानव जाति उनकी पूजा करती है। हमारी जाति चाहे जो हो, बस हमें कर्म बहुत अच्छा करना चाहिये। समाज के हित में काम करना चाहिये, समरस समाज की कल्पना करनी चाहिये। भेद–भाव मुक्त समाज बनाना चाहिये, ज्ञान का प्रसार करना चाहिये–

tkr&ikr e tkr g T;k dyu e ikr
jfonkl u eku"k tM ld tk yk tkr u tkrA[8]

रविदास जी ब्राह्मणवादी व्यवस्था का खण्डन करते हैं जिस तरह से ब्राहमणों ने इस समाज में मकड़ जाल बुना है उस समाज में ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अनेक जातियाँ होती हैं। मुख से ब्राह्मण, बाहू से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और पाद से शूद्र पैदा होता है। इसका खण्डन बौद्ध दार्शनिक करते हैं। जिस तरह एक कटहल का पेड़ होता है, उसके सबसे ऊपर शीर्ष पर कटहल होता है, छाती पर कटहल

होता है और मध्य में कटहल होता है जड़ में कटहल होता है, जिस तरह उस कटहल में कोई भेद–भाव नहीं होता है, तो हम मनुष्यों में क्यों भेद–भाव किया जाता है। प्रकृति किसी के साथ भेद–भाव नहीं करती तो मनुष्य क्यों करते हैं?

उसी तरह रविदास जी भी जाति का खण्डन करते हैं, जिस तरह केले का पेड़ होता है, जिसमें एक के बाद एक छिलका होता है, परन्तु वहाँ कोई ठोस पदार्थ नहीं होता है, उसी तरह समाज में जाति बनाई गई। उन्हें बनाने का कोई ठोस आधार नहीं है, फिर भी जाति आधारित भेद–भाव व्याप्त है, जब तक इस संसार में भेद–भाव व्याप्त रहेगा, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से जुड़ नहीं सकता है और न ही समाज का विकास होगा और न समानता आयेगी, परन्तु रविदास जी जिस बेगमपुरा समाज की कल्पना करते हैं, वहाँ पर किसी प्रकार की कोई जाति व्यवस्था नहीं है ।

रविदास जी ने सामाजिक विषमता का विद्रोह किया है और समाज में व्याप्त सभी पाखण्डों का खण्डन किया है–

^^FkkFkk iqfMr FkkFkh ok.kh] FkkFkh uke fcu lc dgkuh
FkkFkk efnj Hkkx foykl] FkkFkh vku nso dh vklk AA[9]

रविदास जी ब्राहमणों के प्रपंचों पर व्यंग्य करते हैं, यह सब आडम्बर खोखले हैं, जिन कहानियों में हमारे पूर्वजों के नाम नहीं हैं, वह हमारे लिये खोखली है। मंदिरों में लोगों को भ्रमित किया जाता है, उन्हें ठगा जाता है और वहाँ देवता होने का भी कोई प्रमाण नहीं है, रविदास जी हमेशा ही आडम्बरों का खण्डन करते हैं, वह कर्म को महत्व देते हैं। संत साहित्य में जितने भी कवि हैं, वह मध्यम वर्ग से आते हैं और वह शादी करके अपना घर भी चलाते हैं। जिसके लिये वह श्रम करते हैं और समाज में व्याप्त असमानता, शोषण, सामाजिक विषमता इन सब का खण्डन करते हैं।

^^pkfjM ons fd;k [kNkfr] tu jfonkl dj n.Mkfr**[10]

रविदास जी वेद आदि ग्रन्थों का खण्डन करते हैं, क्योंकि इनमें हमारे हित की बात नहीं है। हमारी पीड़ा की बात नही है, हमारे हक़ अधिकार की बात नहीं है। इस लिये यह हमारे लिए व्यर्थ घोषित किया है। ऐसे संत रविदास जी का बेगमपुरा उनके सपनों का समाज है। वह इस संसार को बेगमपुरा बनाना चाहते हैं। यह सब साहित्य जो उनकी वाणी से निकला है और आज सम्पूर्ण समाज को एक सूत्र में बाँधता है, रविदास जी के सपनों को साकार करने का दायित्व प्रत्येक मनुष्य का है। मनुष्य के जीवन के लिए बेगमपुरा से बेहतर कुछ नहीं हो सकता।

lUnHkZ %

1. अमृतवाणी, सतगुरू रविदास महाराज जी, पृ0 170
2. अमृतवाणी, सतगुरू रविदास महाराज जी, पृ0 2
3. Seeking Begumpura, Gail Omvedt Back cober
4. अमृतवाणी, सतगुरू रविदास महाराज जी, पृ0 12
5. वहीं, पृ0 170
6. वहीं, पृ0 36
7. वहीं, पृ0 164
8. वहीं, पृ0 156
9. वहीं, पृ0 81
10. वहीं, पृ0 41

***

vk/kfud Hkkjrh; efgyk dykdkj o lkekftd ljkdkj

'kkfyuh flg*

भारतीय कला परिवेश में महिला कलाकारों की कलात्मक प्रवृत्ति अभिरुचि एवं सृजनात्मक विचारों के लिए यह आवश्यक हो जाता है, कि उनके साथ जुड़ी हुई परम्पराओं व आधुनिक विचारधाराओं का कला जगत में क्या महत्त्व रहा है और उनकी कलात्मक भागीदारी से आधुनिक कला में इनकी कहाँ तक पैठ हुई है। भारतीय समाज में जहाँ परम्पराएँ अपनी चरम परिणति पर पहुँच कर रूढ़िवादी हो गयी हैं और नारी को विशेष रूप से अपनी जकड़ में रखी हुई थी, इसी बदलते हुए विश्व के साथ–साथ कुछ सीमा तक लोग इस जकड़ से मुक्त होने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसे परिवेश में महिला कलाकार अपनी स्थिति से कहाँ तक हटकर आधुनिकता की ओर बढ़ी यह महत्त्व रखता है। महिला कलाकारों की समसामयिक परिवेश का आकलन करने पर यह आभास होता है, कि नवीन चेतना से प्रेरित होकर विश्व की आधुनिकता कला प्रवृत्तियों के साथ ढ़लने में समय अधिक लगा, लेकिन महिला कलाकारों को नव भाव–बोध से अनुप्राणित होकर अपनी भावाभिव्यक्ति में नवीन सम्भावनाओं को जोड़ा है।

यह कहा जा सकता है, कि महिलाओं की कलात्मक अभिरुचि और सहभागिता बहुत पहले से रही है, जो आज तक घरों में, परम्पराओं में दिखायी देती है। एक ओर जहाँ इस प्रकार का कलात्मक बोध रहा है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक कला जगत में महिला कलाकारों का योगदान रहा है, जिसके कारण नारी समाज को आधुनिक विश्व के साथ चलने में महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला है। कला के क्षेत्र में किसी भी कलाकार को स्थापित करने के लिए प्रदर्शनियों और समीक्षाओं का एक निश्चयात्मक योगदान है। कला के क्षेत्र में महिला कलाकार, पुरुष कलाकार की अपेक्षा कम हैं। हम भारतीय स्त्री कलाकारों की बढ़ती महत्ता, बढ़ता मार्केट, उनकी आयोजित कला प्रदर्शनियाँ, उन्हें लेकर लिखी गयी पुस्तकों और पत्र–पत्रिकाओं में लेखों की बढ़ती संख्या, क्या ये दृष्टिकोण अपनी निश्चित गति, सीमा और दृढ़ राजनैतिक प्रतिबद्धता के कारण आज इतने महत्त्वपूर्ण बने हैं, जहाँ नारीवाद जैसे नये व गरमागरम विषयों की हर समय जरुरत होती है। भारतीय महिला कलाकारों का इस स्थापित पितृसत्तात्मक बाजार से क्या सम्बन्ध है, उन्हें प्रत्यक्ष या परोक्ष से क्या अवरोध है, अगर है तो वे इन्हें खुद किस नज़र से देखती और सुलझाती है।

कला में समकालीन कलाकार भारतीय कला की कहानी, सामूहिक कला–सृजन में व्यक्तिगत कला की कहानी है, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सरोकारों को कलाकारों ने अलग–अलग रूप–विधान और विचारों को अपनाकर नए–नए प्रयोगों द्वारा अथवा उन्हें नकारकर सम्प्रेषित किया। आज कई कलाकारों ने विभिन्न कला भाषाओं और संस्कृतियों से अनुभूत होकर अपनी कला का विकास किया है। इसी उलझे हुए बौद्धिक माहौल की स्त्रियों के जीवनानुभवों से सम्बन्ध चाक्षुत्रीय भाषा ने एक नयापन दिया। अन्य देशों की महिला कलाकारों के समान भारतीय स्त्री चित्रकार कभी भी परिधि पर नहीं रही, इस मायने में अमृता शेरगिल व अन्य कई महिला कलाकारों की उपस्थिति में सदियों से प्रचलित आदर्श भारतीय नारी के छद्म को तोड़ा, अधिकतर कलाकारों ने तटस्थ रूप अपनाया और

*शोध छात्रा, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

अपने पुरुष साथियों द्वारा ही प्रतिपादित कला की संकल्पना, भाषा–विधान और कलाकार की परिभाषा को अपनाया, जिसमें स्त्री के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न रूकावटों का कहीं स्थान नहीं था।

भारतीय महिला कलाकारों के सन्दर्भ में लिये सभी लेखों की शुरुआत अमृता शेरगिल से होती है। अमृता भारतीय कला–विधा के तथ्यों के सम्मिश्रण से विकसित रूप विधान को अभिव्यक्त किया, लेकिन सच है कि अनेक चित्रों में उभरती स्त्री छवि ने प्रचलित मान्यताओं को तोड़ने की कोशिश की, और स्त्री, गाँव और धार्मिक आयोजनों की पवित्रता को प्रश्नोचित किया, परन्तु उनकी रुचि रूप–विधान के नवीन प्रयोगों में ज्यादा थी। उनकी कृतियों में उदास नारी व निर्वसना तथा सखियों–सहेलियों से बात करती हुई चित्रित है, बाद के काम में खास तौर पर स्त्रियों के चेहरे दमित भावनाओं की वजह से बहुत तनावग्रस्त दिखाई पड़ती है। इन्होंने तीन सालों तक निर्वसन पुरुषों और महिलाओं के चारकोल में अनगिनत रेखा चित्र बनाए। इस चित्रों से उनकी असाधारण कलात्मक संवेदना का पता चलता है।

1

2

कला की समकालीन महिला कलाकारों ने बहुत बार भारतीय मिथकीय नारी चित्रों के माध्यम से आज की नारी को आवाज दी है। इस आवाज देने के अपने–अपने ढंग रहे हैं, कभी मिथकीय नारी पात्रों की कमजोरियों को ललकार, कभी उनके भीतर की ओझल या दोयम दर्जे की शक्ति को पहचानकर तथा कभी कमजोर कर देने वाली स्थितियों और अन्य पुरुष या स्त्री पात्रों की खबर लेकर इत्यादि। एक दिलचस्प प्रश्न यह भी है कि आज की सोच या दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए मिथकीय पात्रों और घटनाओं का सहारा क्यों लिया जाय, लेकिन इस सच को तो स्वीकार करना ही होगा न कि अनेक पुरुष कलाकार की भांति महिला कलाकार में भी मिथकीय सहयोग मौजूद है और हैसियत भी है। ऐसे ही महिला कलाकारों में वी0 प्रभा, देवयानी कृष्ण, नसरीन मोहम्मदी, अर्पिता सिंह आदि के अपनी कला को रूपात्मक प्रयोगों और अमूर्त विचारों से ही निर्धारित किया, इन सभी कलाकारों का यह मानना था कि एक महान कलाकार विश्वव्यापी होता है, वहां स्त्री–पुरुष, जाति, नस्ल आदि किसी का भी द्वंद्व नहीं, इन्हीं कारणों के चलते उन्होंने जैविक शक्ति और प्रकृति की प्रजनन क्षमता को एक व्यक्ति और ब्राह्माण्ड से जोड़कर अपनी अमूर्त छवियों में सम्प्रेषित करते हुए एक तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया।

वी0 प्रभा में भी अमृता शेरगिल की भाषा को ही अन्य रूपात्मक और शैलीगत प्रयोगों द्वारा नयी छवि देने की कोशिश की। यहाँ आधुनिक पश्चिमी कलाकारों की कृतियां उनके लिए सन्दर्भ बनी, रूप और संयोजनों के द्वारा कला की गहराइयों को समझने की कोशिश आज तक चलती आ रही है, बाद में अंजली इला मेनन, अर्पणा कौर, अर्पिता सिंह ने भी अपने चित्रों में लयात्मकता और शुद्ध अमूर्तन को मूल तत्व बताया। भारतीय आधुनिक महिला कलाकार अर्पणा कौर ने अपने चित्रों का विषय महिलाओं की दशा को बनाया है, उनके चित्र ''आटर द बैटल'' में विलाप करती स्त्रियों के समूह के चित्रांकन से त्रासदी की अवधारणा की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है और इस चित्र में विरूपण का बड़ा शक्तिशाली इस्तेमाल हुआ है तथा वृंदावन में महिलाओं की स्थिति को व 1984 के दंगों पर भी चित्र बनाया। 'समय' चित्र श्रृंखला पर कई कलाकृतियाँ बनायी। इनका काम महिलाओं–बुद्धजीवियों और कलाकारों में उभरती उस चेतना का प्रतीक है, जो न केवल अपनी व्यक्तित्व को खोजना चाहती है, बल्कि समाज के साथ नई तरह से जुड़ना चाहती है उनका कला हमारे समय, हमारे जीवन से सम्बन्धित है और उनकी कला में सन्दर्भ तथा 'सीमाएं अपना स्वरूप बदलती रहती है। ये उन कलाकारों का प्रतिनिधित्व करती है जो प्रतिरोध में विश्वास करते हों, प्रतिशोध में नहीं। अर्थात् जो उतरी हुई गाड़ी को पटरी पर लाने

में आस्था रखती है। आज की नारी किसी भी स्थिति में उपहास बनकर रह जाने से इन्कार करती है। यह कलाकार के आत्म सजगता का मजबूत पक्ष है। 1970 के दशक में भारतीय आधुनिक महिला चित्रकार अंजली इलामेनन की कलाकृतियों को, हार्डबोर्ड पर चित्रित स्वप्नों की रहस्यमय प्रतिलिपियाँ कहा जा सकता है तथा नलिनी मालिनी ने अपनी अन्तदृष्टि से 'वूमन सिरिज' द्वारा अपना कार्य आरम्भ किया। कार्य के विषय में वे व्यक्ति के सही स्वरूप को जानने के प्रति आतुर थी, संघर्षरत स्त्री नीचे से ऊपर उठने के लिए बेचैन थी, यहाँ तक कि उनकी रक्त की नलिकाओं को भी देखा जा सकता था, इस प्रकार कहा जा सकता है कि महिला कलाकारों की भूमिका में अर्पिता सिंह, अर्पणा कौर, माधवी पारेख, सुरूचि चंद, नवजोत आदि ने अपने सामूहिक कला प्रदर्शन का आयोजन 1971 में किया, जिनमें अपने चित्रों के द्वारा आधुनिक भावबोध दर्शाया।

नसरीन मोहम्मदी एक ऐसी कलाकार थी जो स्त्री–पुरुष और ब्रह्माण्ड के सम्बन्धों को समझने के लिए भाव और बौद्धिकता के बीच बौद्धिकता को वह उच्च स्तर पर स्थापित करती है। यहाँ गौर करने की बात यह है कि जब वे स्त्री–पुरुष की बात करती हैं, तो वहाँ लिंग भेद–भाव बिल्कुल नहीं है तथा देवयानी कृष्ण के भी विचार इन्हीं से मिलते–जुलते थे, परन्तु उन्होंने पवित्र सौन्दर्यानुभूति को तांत्रिक प्रतीकार्थों के साथ चित्रित किया है। ''इनके विचार स्त्री व पुरुष के सम्बन्धों में व्याप्त वर्गीकरण को स्वीकार करते हुए नारी को पुरुष के स्तर पर लाने की संकल्पना और महत्ता के साथ जुड़े हैं, परन्तु बाद के वर्षों में खासकर 70 और 80 के दशक में स्त्रीवादी लेखिकाओं (विशेषतः लुसी इरीगेरे) ने स्त्री और पुरुष की जैविक, दैहिक असमानता पर जोर दिया।''

आधुनिक कला में महिला कलाकार ने 1990 के बाद मानव शरीर को माध्यम बनाकर एक प्रकार से कला में नवक्रान्ति का विगुल बजाया, स्वतन्त्र चिंतन द्वारा स्वतंत्र अभिव्यक्ति को महत्व दिया। शरीर को माध्यम बनाकर महिला कलाकारों ने एक ऐसी भाषा को व्यक्त किया जिसमें आवाज न होते हुए भी समाज की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। आत्मसात प्रभाव डालने वाले कृतियों में एक प्रकार से इतना खुलापन है जो सामाजिक परिवेश की सही स्थितियों को उजागर करती है। 1991 से 1995 तक नलिनी मालिनी, अर्पिता सिंह, अंजली इलामेनन मानवीय शरीर को अभिव्यक्त का आधार बनाया और उनके सामाजिक परिवेश का इस प्रकार से आकलन किया कि पूरे समाज की नग्नता को उजागर कर दिया। अन्ततः स्त्री के साथ हुई पुरुष–क्रूरता को सामने लाती है। पुरुष व नारी के अचम्भित करने वाली क्रिया–कलापों को इस प्रकार दर्शाया जो दर्शकों के मस्तिष्क को उद्वेलित कर दी। इन महिला चित्रकारों ने ऐसे मुहावरों का प्रयोग किया, जो आधुनिक युग में एकदम सटीक बैठता है।

इन कलाकारों में एक ओर अनुपम सुख है जिनके लिए स्त्री देह अस्तित्ववादी दृष्टिकोण के तहत एक वस्तु न होकर एक परिवेश, एक अवस्था, एक क्रांति बिन्दू है, स्त्री–देह उनके खुद के वैयक्तिक अनुभवों और जगत की अवधारणाओं का एक बिम्ब भी है, स्त्रीत्व ही एक ऐसी भाषा है, जिनके द्वारा वे अपने विचार व अनुभव संप्रेषित कर पाती है तथा दूसरी ओर निलिमा शेख है, जिनके चित्र उनके पारिवारिक माहौल व परिचितों के आस–पास केन्द्रित कहानी को दर्शाते हैं। शीला गौड़ के एक चित्र है, जिनमें दृढ़ स्त्रीवादी रूख़ अपनाया है। यहाँ नारी की सही छवि यानि उसके सही यथार्थ को सामने लाने की जरूरत रेखांकित की गई है। यदि अनुभव में सही छवि वाली नारियां अपेक्षाकृत कम भी हों तो भी आज नारी छवि को उसके सही रूप में स्थापित करने के लिए इन्हीं कुछ कलाकारों का सहरा लेना चाहिए, स्त्री छवि को लेकर बनायी गयी चित्रों को भी देखना चाहिए। इन कलाकारों का यह विश्वास है कि उनका जीवन उनकी कला से भिन्न नहीं है। उन्हें यह मालूम हुआ कि नारीवाद उनके लिए बहुत ही विकसित दृष्टिकोण है। अतः उन्होंने अपनी नार्योचित आवाज को दर्ज कराना ही सर्वप्रथम जरूरी समझा, इन्हीं से व्यक्तिगत व संयुक्त इतिहास के वृत्तांत को दर्शाने की प्रक्रिया शुरु हुई, इनके चित्रों में घटनाएं, बिम्ब और यादें अपनी सारी भावनाओं व व्यापक अर्थों के साथ उभरती हैं। यहाँ हमें एक समय में कई कलाकार अलग–अलग दृष्टिकोणों के साथ विभिन्न चाक्षुष कलाओं में अभिव्यक्त करते हुए दिखेंगे, यह विविधता युवा कलाकारों में अधिक है। युवा भारतीय महिला कलाकारों में जहाँ एक तरफ रंजना

थपलियाल, रुमन्ना हुसैन, आयशा अब्राहम, अनिता दुबे और सबसे युवा कलाकार बी0 सिन्धु है, जिन्होंने नप्रचलित भाषा को तोड़कर नवीन भाषा विकसित की है, तो दूसरी ओर सजीया शंकर, जयश्री चक्रवर्ती, जयश्री गांगुली, मनीषा पारिख एवं अन्य कई कलाकार हैं जो कई भाषागत प्रयोग करके अलग स्त्री–संसार की दुनिया प्रतिस्थापित कर रही है। युवा स्त्री कलाकार अपनी भारतीय चित्रित कृतियों में भारतीय स्त्री सेस सम्बोधित वस्तुएं, अनुभवों के संक्षिप्त वृत्तांत प्रस्तुत करती हैं। ये कभी तो उनकी जीवन पर आधारित होते हैं, तो कभी सामान्य स्त्री के अनुभवों, पर ये छवियां एक दर्पण की भूमिका अदा करती हैं। आज तक की भारतीय महिला कलाकारों की कृतियों का एक संक्षिप्त विवरण, जहाँ स्त्री एक वस्तु, एक आदर्श से एक व्यक्ति, एक स्वतंत्र अस्तित्व में परिवर्तित होती है। स्त्री को एक कलाकार के रूप में स्थापित होने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ा–यह उनके नारीवादी कलाकार होने की कसौटी नहीं है, वरन् उनके स्त्रीवादी होने की खरी कसौटी होगी, कैसे, इस संघर्ष को अपनी कलाकृति में अभिव्यक्त करती है। अपने आशय से आज की महिला चित्रों में नारी ने 'नहीं दूँगी अग्नि परीक्षा' कहने का दमखम दिखाया है। महाभारत के अंधे पति के प्रति समर्पित आँखों पर पट्टी बांधे रखने वाली गांधारी के पग चिन्हों पर चलने से भी आज की नारीवादी कलाकार इंकार करती है।

lUnÒ

1. आजकल, सितम्बर 2014, प्रकाशक व मुद्रक–ईरा जोशी, गाजियावाद (उ0प्र0) से मुद्रित, वरिष्ठ सम्पादक–राजेश भट्ट
2. हंस, अक्टूबर, 1997, अर्द्धशती विशेषांक : खण्ड 2, 96
3. भारत की समकालीन कला–एक परिप्रेक्ष्य, प्राणनाथ मागो, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया (दिल्ली), प्रथम संस्करण (2006), सौमित्र मोहन, अनुवाद।

***

nfyr foe'k dh opkfjdh e MkO vEcMdj d fopkjk dh iklfxdrk

jkgy dekj ;kno*

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त गौरवशाली रही है, गतिशीलता इसकी विशेषता है। इस व्यवस्था में सभी के सुख एवं समृद्धि की कामना की गई, लेकिन कालान्तर में सामाजिक रूढ़ियों, अन्धविश्वास, छुआछूत और असमानता ने भारतीय समाज में अपनी जड़ें जमा ली और समाज के एक बहुत बड़े हिस्से को उनके अधिकारों से वंचित कर दिया। आधुनिक काल के अनेक समाज–सुधारकों ने सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त इन कुरीतियों को दूर करने का अथक प्रयास किया, आन्दोलन चलाये, जिस कारण से व्यवस्था में परिवर्तन के लक्षण दिखाई देने लगे। इन समाज सुधारक संतों में ज्योतिबा फूले, पेरियार तथा अम्बेडकर का नाम उल्लेखनीय है।

भारत एक महान लोकतांत्रिक देश है। जिसकी विश्व में अपना धर्म, गौरवशाली संस्कृति, प्राचीन परम्पराओं व धरोहरों के लिए एक अलग पहचान है। परन्तु इन्हीं प्राचीन परम्पराओं, धर्म व संस्कृति के नाम पर भारतीय समाज को दूषित एवं कलंकित करने का कार्य किया जा रहा है। इन्हीं कुरीतियों में जाति प्रथा, धर्म, वर्ग, रंग, भेद–भाव, तथा असमानता प्रमुख रूप से विद्यमान है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में ऐसा ताना–बाना बुना गया है कि जो दलित जाति में जन्म ले लिया वह हमेशा दलित ही रहेगा, फिर वह अपने कार्यों से नहीं जाना जायेगा, बल्कि उसकी पहचान 'उसकी जाति' के रूप में की जायेगी। भारत में ऊँच–नीच, सवर्ण–दलित का दंश उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गया है।

दलित विमर्श, दलितों के जीवन की वेदना, उनके शोषण, संघर्ष, दुःख और छटपटाहट का विमर्श है। दलित विमर्श की संवेदना को व्यक्त करते हुए जिया लाल आर्य प्रासंगिक नजर आते हैं, उनके अनुसार 'जो सदियों से दारुण, दलन, दोहन और शोषण के शिकार रहे हैं और भारतीय समाज में वंचित, उपेक्षित तथा प्रताड़ित होते रहे हैं। शोक जिसका आहार, अश्रु जिसका उद्‌गार और अभिशाप जिसका उपहार है।'[1] दलितों ने जिस अमानवीय स्थितियों में जीवन–यापन किया, उसके लिए भारतीय समाज का उच्च वर्ग ही जिम्मेदार रहा है। इन तबकों द्वारा विभिन्न प्रकार की पाबंदियाँ दलित समाज पर थोप रखी थी, जिससे समाज में विषमता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। परम्परागत भारतीय समाज उन्हें कई सामाजिक सुविधाओं से वंचित करता है। आधुनिक भारत में स्वतन्त्रता के पहले तक इनका मन्दिरों में प्रवेश तथा सामाजिक कुओं और तालाबों से पानी–पीना वर्जित था। दलित वर्ग एक ऐसा वर्ग है जो समाज में हर दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, जिनका समाज में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी दृष्टियों से शोषण हुआ है।

यह वही दलित वर्ग है जिसके पास खाने के लिए भोजन, पहनने के लिए कपड़ा और रहने के लिए घर जैसी प्राथमिक सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं है। इन्हें समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है, वे समाज के उपेक्षित वर्गों में से एक हैं। 'समाज के इस तबके के लोगों को दलित नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, को उनकी उल्लेखनीय संख्या और देशव्यापी फैलाव के बावजूद कब और कैसे इन्हें समाज की मुख्यधारा से अलग, अत्यन्त, अवर्ण अथवा पंचम के रूप में दास्ता पूर्ण जीवन जीने के

*शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

लिए बाध्य होना पड़ा; इस बाबत निश्चित रूप से कहना कठिन है। किन्तु एक बात तो निश्चित है कि चमार, माँग, महार, भंगी आदि नामों से जाने, जाने वाले ये लोग, अपनी मर्जी से तो समाज की परिधि के बाहर रहने तो नहीं गये होंगे। इन्हें वहाँ रहने के लिए मजबूर किया गया होगा।'[2] ये, वे लोग हैं, जिन्होंने दलित को अधिकार विहीन करके अपने अधिकार सम्पन्न बन गये। इन लोगों ने धर्म, शस्त्र, शास्त्र और सम्पत्ति के बल पर इसे पीढ़ी दर पीढ़ी अपने लिए सुरक्षित कर लिया।

समाज में हाशिये पर पड़े इन लोगों को दास्ता तथा अस्पृश्यता का भी दंश झेलना पड़ा। दास्ता बुरी है। अस्पृश्यता दास्ता से भी बुरी है। जिन लोगों ने अस्पृश्यता रूपी मजबूत सामाजिक हथकड़ी, बेड़ी को ईजाद किया होगा, उन्होंने अवश्य सोचा होगा कि एक बार जिनके हाथ पैर में यह डाल दी जायेगी, वे न तो कभी समानता की बात कर सकेंगे और न ही कभी भेद–भाव पूर्ण समाज–व्यवस्था को चुनौती दे सकेंगे।[3]

भारत जैसे विविधतापूर्ण समाज में एक समतावादी, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए, सामाजिक न्याय में अम्बेड़कर के तर्कसंगत दर्शन का सबसे बड़ा प्रभाव और प्रेरणा थी; इसका बड़ा असर दलित वर्गों या अनुसूचित जातियों पर पड़ा, जो विशेष रूप से अपने अधिकारों के प्रति उन्हें जानकार बनाने, सम्मानजनक जीवन जीने और वर्ग चेतना के सजग बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का संचार किया। भारतीय राजनीति में डॉ0 अम्बेडकर का प्रवेश ही सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन की कड़ी के रूप में दिखने लगा। '20वीं सदी के तीसरे दशक में डॉ0 अम्बेड़कर ने सार्वजनिक राजनीति में प्रवेश करने के साथ ही भारत में दलित मुक्ति आन्दोलन का पूरा परिदृश्य ही बदल गया।'[4]

डॉ0 अम्बेडकर ने दलितों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विफलता एवं शोषण का सबसे बड़ा कारण धार्मिक कर्मकाण्डों तथा हिन्दू शास्त्रों को माना। उन्होंने कहा कि दलितों को धार्मिक कर्मकाण्डों तथा पाखण्डों से बचना चाहिए। अम्बेडकर के मतानुसार सामाजिक अन्याय के विरूद्ध दलितों का संघर्ष तब तक सफल नहीं हो सकता है जब तक समाज से जाति व्यवस्था का उन्मूलन नहीं हो जाता। उनका कहना था कि जाति व्यवस्था दलितों के दासता की जननी तो है ही यह हिन्दुओं के कमजोरी और पराजय का कारण भी है।'[5] अम्बेडकर जी हमेशा कहा करते थे कि इस दलित संघर्ष की लड़ाई में दलितों को स्वयं ही आगे आना होगा और अपने अधिकारों की लड़ाई लड़नी होगी। अपनी उन्नति के लिए उन्हें स्वयं पर भरोसा करके भय मुक्त एवं एकजुट होकर संघर्ष करना पड़ेगा। 20 जुलाई 1942 के नागपुर के अखिल भारतीय दलित सम्मेलन में अम्बेडकर जी ने कहा कि 'हमारा संघर्ष स्वतंत्रता के लिए संघर्ष है। यह मानव व्यक्ति की गरिमा और मानव अधिकारों की पुनर्स्थापना का संघर्ष है.... आपको मेरी सलाह के अंतिम शब्द यह हैं कि आप शिक्षित बनें, संगठित बनें और संघर्ष करें।'[6]

अम्बेडकर जी ने अपने जीवन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि वह समाज में व्याप्त शोषण, असमानता को दूर करके अछूतों तथा दलितों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय दिलायेंगे। अम्बेडकर फ्रेंच दार्शनिक रूसो के तीन शब्दों समानता, स्वतंत्रता तथा बन्धुत्व से काफी प्रभावित थे। समानता के आधार पर न्याय की अवधारणा को स्वीकार करते हुए वे रूसो से आगे बढ़ गये। अम्बेडकर के सामाजिक न्याय की अवधारणा एक ऐसी सामाजिक पद्धति के पक्ष में है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्यों के मनुष्य से सम्बन्धों पर आधारित हो, क्योंकि दलितों पर अन्याय की निरन्तरता का कारण हिन्दू धर्म रहा है। चूंकि डॉ0 अम्बेडकर दलित वर्ग से सम्बन्धित थे, अतः इसे अच्छी तरह से समझते थे।

भारत में बिना अम्बेडकर के दलित आन्दोलन की अवधारणा को समझना समाजशास्त्रीय दृष्टि से असम्भव है। दलितों को संरक्षण की भावना से निकालकर स्वतन्त्रता की भावना की ओर अग्रसर करना उनका मुख्य लक्ष्य था। मार्च 1940 के महार अभियान के जलसे में दिए गए भाषण से अम्बेड़कर वाद की सही प्रतिध्वनि निकलती है। उन्होंने कहा– 'महारों ने प्रण ले लिया है कि वे अब दलित नहीं रहेंगे और किसी के चरणों में नहीं बैठेंगे। यह आपको अपने मस्तिष्क में ध्यान रखना पड़ेगा। अब आपको खुद

चैतन्य होना पड़ेगा। 70–80 प्रतिशत की इस जनसंख्या को क्या अपना जीवन कुलियों की तरह व्यतीत करना होगा?'[7]

'दलित इतिहास अवमानना के महान–बोझ से दबा हुआ तो है, लेकिन उसका कोई विकास क्रम नहीं मिलता है। दलितों को लगता है शायद उन्हें एक ऐसी भविष्यहीन कालावधि में कैद कर दिया गया है, जिसकी सत्ता–मीमांसा हर हालत में उनके खिलाफ जाती है। सामंती व्यवस्था ने उनका सामाजिक मूल्य कभी स्वीकार नहीं किया। उसने दलितों को सामाजिक दृष्टि से अवांछित और हतभाग्य माना, लेकिन भौतिक रूप से उपयोगी माना।'[8] दलितों को शहरों एवं गाँवों की मुख्य सड़कों पर चलना भी प्रतिबंधित था। उसके लिए भी उन्हें दोपहर तथा शाम का कुछ निर्धारित समय छोड़कर उस पर चलना या परछाई पड़ना भी वर्जित था। इस प्रकार दलितों को सड़क से लेकर देवालयों तक जाने से रोक दिया गया था। दलित अछूत थे, परन्तु काम करवाने में उन्हें इस बात से कोई परहेज नहीं था कि वे 'अस्पृश्य' हैं। एक दलित द्वारा ऊँची जाति से यह पूछना कि 'हमारी बनायी वस्तु से अपवित्र नहीं होते, तो मशक बनाने वाले के शारीरिक स्पर्श से तुम कैसे अपवित्र हो जाते हो?'[9]

भारत ही नहीं, बल्कि पूरा विश्व छुआ–छूत और शोषण से ग्रस्त था। इसी कारण संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 'मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा' करते हुए उसकी उद्देशिका के अनुच्छेद 4 में लिखा है– 'किसी भी व्यक्ति को दास या गुलाम नहीं रखा जायेगा, सभी प्रकार की दासता और दास–व्यापार प्रतिषिद्ध होगा।'[10] महासभा की इस घोषणा द्वारा प्राचीन काल से चली आ रही एक बड़ी लड़ाई के खिलाफ जेहाद छेड़ा। यदि मानव जाति को अत्याचार और उत्पीड़न के विरूद्ध विद्रोह से रोकना है तो मानव अधिकारों का संरक्षण विधि सम्मत शासन द्वारा किया जाना चाहिए। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों का प्रावधान रखा गया है। डॉ0 अम्बेडकर समाज में व्याप्त 'अस्पृश्यता' की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि 'अस्पृश्यता आन्तरिक तिरस्कार की बाहरी अभिव्यक्ति है जो एक हिन्दू किसी निश्चित व्यक्ति के बारे में महसूस करता है।'[11] अस्पृश्यता का कारण बताते हुए उन्होंने हिन्दुओं को इसका दोष बताया। इसे स्पष्ट करते हुए अम्बेडकर जी ने कहा कि 'अछूतों के लिए हिन्दू इस प्रकार के विदेशी लोग हैं जैसे उनके लिए यूरोप के लोग विदेशी है।'[12]

अम्बेडकर जी दूर दृष्टि के समाज सुधारक थे। वे स्वतंत्र भारत की कल्पना करते हुए चाहते थे कि 'स्वतन्त्र भारत की बागडोर मजदूर वर्ग के हाथों में देखना चाहते थे। उनका कहना था कि इंग्लैण्ड में लोकतन्त्र इसलिए विफल हो गया था, क्योंकि वह अनुदार लोगों (टोरियों) के हाथों में था।'[13] अम्बेडकर जी ने लोकतन्त्र के हर सिद्धान्त को निम्न वर्ग की दृष्टि से देखा। वे समाजवाद के पक्षधर थे और वैसी ही व्यवस्था स्वतन्त्र भारत में चाहते थे। स्वतन्त्रता के पश्चात् अम्बेडकर के जमीन पर ही भारतीय रिपब्लिकन पार्टी को व्यापक सफलता मिली। यह पार्टी अम्बेडकर जी के विचारों को आत्मसात् करते हुए कम समय में ही दलित मजदूर वर्ग के हितों की पार्टी बन गई थी। इस पार्टी की सफलता का मुख्य कारण था कि इसने 'डॉ0 अम्बेडकर के पूँजीवाद और ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष को अपना आधार बनाया था और समाजवाद उसका लक्ष्य था।'[14] 1980 की दलित राजनीति में काशीराम के उदय का कारण भी अम्बेडकर जी के विचारों की प्रेरणा ही थी। उन्होंने भी दलित किसान, मजदूरों को संगठित करके उनके संघर्ष की लड़ाई में भागीदार बने। 'काशीराम ने अपने राजनीतिक आन्दोलन को तीन सिद्धान्तों पर विकसित किया। पहला जातीय सम्मान, दूसरा भागीदारी और तीसरा वोट को लुटने व बिकने से बचाना।'[15]

समाज में जाति को राजनीतिक ताकत बनाने व समझने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। व्यक्ति एक तरफ तो ग्लोबल होना चाहता है, वहीं दूसरी तरफ अपने राजनीतिक लाभ के लिए चौबीस घण्टे अपने राजनीति में ही रहना चाहता है। वर्तमान समय में संकट तो ये पैदा हो गया है कि जातियों के भीतर ही उपजातियां सिर उठाये खड़ी हैं। दलितों के बीच यह आम समस्या है, जिसके कारण दलित एक समुदाय नहीं बना पा रहे हैं। अम्बेडकर जी ने इसे बहुत पहले ही पहचानते हुए कहा था 'अस्पृश्य लोग भी आपस में अब छुआ–छूत मानते हैं, ब्राह्मणें से भी बड़ा प्लेग हमारे अन्दर है।'[16] इस प्रकार भी अपने

से नीचे के दलित के लिए अलग गिलास रखते हैं और उनके मन में कम तीखी लेकिन अवहेलना की भावना होती है।

अम्बेडकर जी दलित विमर्श में शिक्षा के महत्त्व को बखूबी समझते थे, इसीलिए वे दलितों तथा शोषितों के शिक्षा का प्रबल समर्थन करते हुए कहते थे 'यदि भारत को बदलना हो तो सभी को शिक्षित करना जरूरी है। खासतौर से वे देश के दलित समुदाय से हमेशा अपील करते थे कि वे अपने बच्चों को पढ़ाएँ जरूर। आप शिक्षित हो गए तो अपने अधिकारों को खुद ही ले सकते हैं, किसी बैसाखी की जरूरत नहीं पड़ेगी।'[17] शिक्षा के द्वारा ही किसी राष्ट्र की सामाजिक उन्नति को सुधारा जा सकता है। आजादी के बाद भारत में शिक्षा के क्षेत्र में लगातार क्रान्तिकारी बदलाव देखने को मिले हैं। यह अम्बेड़कर जी के विचारों की प्रेरणा का परिणाम है।

अम्बेडकर जी का राजनीतिक दर्शन, व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों के अनुभव व अहसास के साथ जुड़ा हुआ है। वे कहते थे, 'जनतंत्र सार्वजनिक जीवन जीने की पद्धति है। जनतंत्र की जड़ें व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों में खोजनी पड़ती है। जनतंत्र एक ऐसी शासन प्रणाली है, जिसके द्वारा आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में बिना रक्त की एक बूंद बहाये क्रान्तिकारी परिवर्तन लाए जा सकते हैं।'[18] उन्होंने जनतंत्र को एक जीवन पद्धति माना, वे व्यक्ति की श्रेष्ठता पर बल देते हैं और सत्ता के परिवर्तन को मात्र साधन मानते है। कुछ संवैधानिक अधिकार देने मात्र से जनतंत्र की नींव मजबूत हो जाती है, इस पर उनका विश्वास नहीं था। उनके अनुसार 'जनतान्त्रिक व्यवस्था की कल्पना में नैतिकता और समाजिकता दो प्रमुख मूल्य रहे हैं। जीवंत मनुष्यों को नियन्त्रित करने के लिए उन्हें इकट्ठे जीवन के लिए आवश्यक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों की निमित्ति के लिए साझेदारी आवश्यक है, ऐसा वे मानते थे। उनकी जनतंत्र की कल्पना स्थितिवादी अथवा जड़वादी न होकर गतिशील तथा समाज परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध ऐसी कल्पना है।''[19]

डॉ0 अम्बेड़कर यह मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास के समान अवसर उपलब्ध कराना किसी समाज की प्रथम और अंतिम नैतिक जिम्मेदारी है और यदि समाज इस नैतिक जिम्मेदारी का निर्वहन नहीं कर सकता तो उसे बदल लेना चाहिए। वे व्यवस्था परिवर्तन को तीन स्तर के रूप में देखते थे और इन तीन स्तरों पर सतत् क्रियाशीलता ही परिवर्तन की गति को तय करती है। प्रथम स्तर में बौद्धिक क्षेत्र का विकास है और यह कार्य बिना अध्ययन और परिश्रम के सम्भव नहीं है। दूसरे स्तर पर उपेक्षित व शोषित हितों के लड़ने के लिए एक संगठन बनाकर मैदान में उतरना अत्यन्त आवश्यक है। बिना संगठन के परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी पड़ जायेगी तथा तीसरे स्तर पर लड़ाई के लिए मैदान में उतरना पड़ता है। संगठित शक्ति का दबाव व्यवस्था पर प्रहार करता है। जिससे परिवर्तन अवश्यम्भावी है। सामाजिक परितर्वन को महत्त्वपूर्ण शस्त्र माना था। 'उनका विश्वास था कि संसद में प्रतिनिधि बनकर परिवर्तन के अनुकुल वातावरण बनाना, संविधान व कानून के जरिए परिवर्तन लाना भी संभव है, बशर्ते उस जगह सभी को पहुँचने का समान अवसर प्राप्त हो' और जो सदियों से निम्नस्तरीय जीवन जीने के लिए विवश हैं, उन्हें आरक्षण देकर आगे लाया जाए।'[20]

डॉ0 अम्बेडकर जी कहे थे, कि प्रजातन्त्र का सर्वप्रथम दायित्व जनता के सर्वहितों की रक्षा करना है, वे कहते थे कि 'हमें अपने राजनीतिक प्रजातन्त्र को एक सामाजिक प्रजातन्त्र भी बनाना चाहिए।'[21] वह ऐसे प्रजातन्त्र की कल्पना करते थे दलितों के साथ–साथ सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था हो। सम्पूर्ण समाज को शिक्षित कर सभी को समानता का अधिकार दिलाना अम्बेडकर जी का सपना था। वर्तमान समाज में आज भी दलितोत्थान, समानता, शिक्षा, स्त्री अधिकार आज अपने दृढ़ धरातल के लिए संघर्ष कर रहे हैं, ऐसे में अम्बेडकर के विचारों की स्वीकार्यता उसे जीवंत कर देती है।

अम्बेडकर जी राजनीतिक क्षेत्र में समानता की बात करते हुए कहा कि हम 'एक व्यक्ति, एक वोट, एक मूल्य' के सिद्धानत को मान्यता प्रदान कर देंगे, परन्तु उस राजनीतिक समानता का कोई अर्थ नहीं होगा, जब तक सामाजिक समानता के साथ–साथ व्यक्ति अपने नैतिक मूल्यों को न प्राप्त कर सके। उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि 'उत्पीड़ित समूह' को अपने भीतर से नेतृत्व पैदा

करना चाहिए, ताकि किसी अन्य समूह की सहानूभूति या नेतृत्व के सहारे उसे अपने उत्थान की आशा नहीं करनी चाहिए। अम्बेडकर जी ने दलितों को आरम्भ से अन्त तक जगने, उठने तथा संगठित होकर निरन्तर संघर्ष करने की चेतावनी दी और हमेशा कहा, जब तक वे अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं करेंगे तब तक उनको मानव अधिकार नहीं मिलेगा।

अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी, कि आज देश में जो सामाजिक बदलाव दिख रहा है, उसकी पटकथा का बड़ा हिस्सा डॉ0 भीमराव अम्बेडकर का ही लिखा हुआ है। यदि आज से सौ साल पहले की सामाजिक स्थिति का आंकलन करें और आज की स्थिति को देखें तो हमे अन्तर स्पष्ट रूप से नजर आयेगा। उस समय समाज में जितनी भी कुप्रथायें थीं, उन्हें दूर करने का प्रयास किया गया है। यह भी सच है कि उन्हें पूर्ण रूप से मिटाया नहीं जा सका है, परन्तु उसकी व्यापकता काफी कम हुई है। देश के सामाजिक न्याय के क्षेत्र में एक बड़ा परिवर्तन देखने को मिल रहा है। महिलाएं अनुसूचित जाति व जनजाति या दलित वर्ग सभी की आर्थिक शैक्षिक और सामाजिक स्थिति में एक सकारात्मक बदलाव आया है। समाज के सभी क्षेत्रों में इनका योगदान बढ़ा है, जो काफी सुखद अनुभूति का अहसास कराता है।

lUnHk %

1. दलित समाज; जिया लाल आर्य, सम्यक प्रकाशन– नई दिल्ली, पृ0 1
2. सामाजिक न्याय व दलित संघर्ष, रामगोपाल सिंह, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2006, पृ0–491।
3. वहीं पृ0–50।
4. वहीं पृ0–60।
5. वहीं पृ0–62।
6. वहीं पृ0–63।
7. दलित और प्रजातान्त्रिक क्रान्ति, नरेश भार्गव, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ0–143।
8. आधुनिकता के आइने में दलित, अभय कुमार दूबे, वाली प्रकाशन, 2014, पृ0–94।
9. वहीं पृ0–95।
10. मानव अधिकारों का संघर्ष, राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2004, पृ0–76।
11. वहीं पृ0–80।
12. वहीं पृ0–82।
13. दलित राजनीति की समस्याएँ, राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ0–12।
14. वहीं पृ0–15।
15. वहीं पृ0–17।
16. वहीं पृ0–94।
17. कुरूक्षेत्र, दिसम्बर 2015, पृ0–6।
18. वहीं पृ0–16।
19. वहीं पृ0–16।
20. वहीं पृ0–17।
21. वहीं पृ0–17।

***

e\yk vkpy % xkeh.k thou dk lekt'kkL=h; v/;;u

l\jUn ;kno*

आँचलिक उपन्यास की बात है, तो ग्रामीण जीवन पर आधारित प्रत्येक उपन्यास आँचलिक नहीं होता, यह बात प्रायः सर्वस्वीकृत है। ग्रामांचल से संबंधित उपन्यासों को ही आंचलिक उपन्यास कहा जाना चाहिए, नगरों के अपने विशिष्ट जीवन का चित्रण करने वाले उपन्यास आँचलिक उपन्यास नहीं माने जाने चाहिए। प्रेमचन्द और फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों का साक्ष्य लेकर हम अपनी बात को साफ कर सकते हैं। ग्राम्य जीवन पर केन्द्रित उपन्यास लिखने के बावजूद प्रेमचन्द को आँचलिक उपन्यासकार और उनके ऐसे उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जाता। रेणु न केवल आंचलिक उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, बल्कि उन्हें हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों के प्रवर्तन का श्रेय भी प्राप्त है।

"आँचलिक उपन्यास सामान्य की जगह विशिष्ट होकर ही अपनी पहचान बना पाता है। विशिष्ट अंचल, विशिष्ट लोग, विशिष्ट संस्कृति, विशिष्ट भाषा, बोली आदि। विशिष्ट, साधारण हुआ नहीं कि आंचलिकता का मुहावरा टूटा। यही बात है कि आंचलिक उपन्यासों में नायक अंचल का ही होता है, उस अंचल में संघर्षरत मनुष्य या उसके प्रतिनिधि नहीं। मिट्टी महत्वपूर्ण बन जाती है, उस मिट्टी को अपने श्रम से सींचने वाला मनुष्य गौण।"[1] आँचलिक उपन्यास की परिभाषा एवं प्रकृति पर कई आलोचकों ने विचार करके लिखा है। स्वाधीनता के बाद ग्रामीण जीवन में जिस प्रकार तेजी से परिवर्तन हुआ, उसे गहराई से पकड़कर चित्रित करना बड़ा काम था। यह कार्य उसी लेखक से सम्भव था, जिसे गाँव का निकटता से अनुभव हो। गाँव देखना और एक उम्र तक गाँव में रहना दूसरी बात है। ऐसा लेखक जो हमेशा गाँव से जुड़ा रहता है, कभी गाँव से अलग नहीं हो पाता। उसकी सांसों से गाँव की ऊष्मा ही निकलती है। रेणु गाँव को उस रूप में नहीं देखते जिस उथले रूप में हम देखते हैं। उन्होंने लिखा है–"एक सप्ताह भी गाँव में हो आता हूँ तो लगता है – सूखा हुआ तन–मन पुनः पनिया गया है। कान से सुनना, आँख से देखना और नाक से सूँघना, इससे बड़ा अनुभव क्या हो सकता है?"[2] रेणु किसी चीज, किसी घटना और किसी व्यक्ति का जब वर्णन करते हैं, तो जोर इस बात पर रहता है कि कोई बारीक से बारीक चीज छूट न जाये। यानी पूरा चित्र जैसे पाठक ने स्वयं उसे देखा हो, ऐसा वर्णन करते हैं।

रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' में मेरीगंज गाँव की व्यथा–कथा है। उसकी एक–एक गली, एक–एक घटना और एक–एक पात्र का सजीव चित्रण है, जिसे पढ़कर पाठक को ऐसा लगता है कि वह मेरीगंज गाँव की एक–एक गलियों, एक–एक घटनाओं से परिचित और पात्रों से मिला हुआ है। 'मैला आँचल' सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र के ग्रामीण जातीय जीवन का अंकन करता है। उपन्यास के शीर्षक में 'आँचल की मोहकता और उसके मैलेपन को जो एक साथ ध्वनित किया गया है, वह पूरी रचना में गूँजता रहता है।

ग्रामीण अंचल में सुन्दर और भदेस की मिलावट अपने ढंग से चलती है, भोजन और मल–मूत्र पास–पास बिखरे हैं। फूल और घूरा दूर–दूर नहीं है, बल्कि यह भी संभव है कि फूल घूरे पर खिला हो। इन सबको एक समूची दृष्टि से देखना सौन्दर्य की सच्ची परख है और जिजीविषा का असली

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रमाण है। रेणु ने आंचलिकता के जिस रूप को ग्रहण किया है, उसमें परिवेश के रेशे–रेशे को जानने, पहचाने और अपने ढंग से बयान करने को प्रमुखता दी गई है। डॉ बच्चन सिंह जैसे समीक्षकों का विचार है कि ''केवल रेणु के उपन्यास ही आँचलिक माने जा सकते हैं।''[3] आँचलिकता की अवधारणा को रेणु के 'मैला आँचल' में सर्वाधिक सटीक अभिव्यक्ति मिली है। आँचलिक उपन्यास के लिए यह आवश्यक माना गया है कि इसमें अंचल विशेष की स्थिति 'नायक' सी होती है। उस क्षेत्र का सम्पूर्ण चित्र उकेरने का प्रयास इस तरह के उपन्यासों में है। इस दृष्टि से देखें तो 'मैला आँचल' में प्रशान्त, कालीचरन और बावन दास जैसे आकर्षक चरित्र होते हुए भी नायक 'मेरीगंज' नाम का एक पिछड़ा हुआ गाँव है। उपन्यास को पढ़ते समय इस पिछड़े अंचल के जीवन का बहुत यथार्थ रूप सामने आता है। अंचल के निवासियों की निर्धनता, अंधविश्वास, पारस्परिक कलह, मानसिक पिछड़ापन और शोषक शक्तियों की जकड़न को इस उपन्यास में बहुत प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया गया है।''[4]

''ग्रामीण यथार्थ के चितेरे फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आँचल' उपन्यास का सृजन तो 1952 ई0 में ही आरम्भ कर दिया था, जब वो नेपाली क्रान्ति से हारे–थके और बीमार होकर लौटे थे, लेकिन इसका प्रकाशन 1954 में हुआ। साहित्य सृजन के लिए निरन्तर प्रेरणा तथा राजनीतिक दलों से मोहभंग ने रेणु को 'मैला आँचल' लिखने के लिए प्रेरित किया। भारत के सम्पूर्ण ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधित्व करता 'मेरीगंज' जिस रूप में 'मैला आँचल' में व्यक्त हुआ है, वह रूप गाँवों की नाटकीय स्थिति और जन चेतना के दुष्प्रभावों का कलात्मक यथार्थ है। स्वतंत्रता संग्राम की लहर से प्रभावित और स्वतंत्रता बाद की राजनीतिक चेतना से जुड़ा यह गाँव जिस पतन और नैतिक ह्रास का शिकार हुआ है, यह दृष्टव्य है ''[5]

'मैला आँचल' ग्रामीण जीवन पर लिखा गया पहला उपन्यास है, जिसने स्वाधीनता के बाद बदलते ग्रामीण जीवन को नये यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया है। मैला आँचल एक उपन्यास ही नहीं वरन् समूचे ग्रामीण जीवन का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन है। 'मैला आँचल' से पहले ग्रामीण जीवन पर लिखे गये उपन्यास 'गोदान' में प्रेमचन्द किसान और जमींदार को लाते तो हैं, लेकिन वह यह नहीं बताते है कि गाँव के किस आदमी पर कितनी जमीन है, और वह कैसे आई और कैसे बढ़ती कम होती गयी ? लेकिन रेणु 'मैला आँचल' में एक–एक आदमी के बारे में बताते हैं।''[6]

'मैला आँचल' का प्रकाशन गोदान के अट्ठारह वर्ष बाद सन् 1954 ई0 में हुआ। इन अट्ठारह वर्षों में देश को स्वाधीनता मिली, लोकतंत्र की स्थापना हुई, पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं तथा ग्रामीण विकास के लिए नये और लुभावने नारे दिये गये, जिससे भारतीय जनता को यह लगा कि देश में असली स्वाधीनता आ गई, लेकिन यह कितनी आई है इसे 'मैला आँचल' को पढ़कर समझा और देखा जा सकता है।

गोदान के बाद की कथा काल–क्रम और रचना विधान दोनों दृष्टियों से 'मैला आँचल' कहता है। गोदान प्रेमचन्द की अंतिम कृति है, 'मैला आँचल' रेणु की पहली। दोनों उपन्यास अपने–अपने कथा स्तरों पर समूचे जातीय जीवन को एक बारगी चित्रित करते है। 'मैला आँचल' का केन्द्रीय कथ्य एक पूरे ग्रामांचल का समय यथार्थ है। यह हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें कथा का कोई केन्द्रीय पात्र या नायक नहीं है, बल्कि नायक के रूप में गाँव की समग्रता विद्यमान है। उपन्यासकार ने मेरीगंज को नायकत्व की समग्रता प्रदान करने की पूरी कोशिश की है और इसमें वह सफल भी हुआ है।''[7]

ग्रामीण जीवन के बिखराव और अस्त–व्यस्तता को रेणु ने 'मैला आँचल' में अभिनव शिल्प के साथ प्रस्तुत किया है। उन्होंने पहले से प्रचलित दृश्यात्मक–परिदृश्यात्मक कथा–प्रविधियों को और सूक्ष्म, ध्वन्यात्मक और नाटकीय बनाया है। इसमें रेणु का किस्सागो पात्रों की चेतने से संश्लिष्ट है और इससे कथा में नया स्वाद आ गया है। पाठक कथाकार की चेतना से होता हुआ किसी पात्र की चेतना में प्रवेश करता है और कथा प्रसंग का बिल्कुल नया वर्णबिम्ब आँखों के सामने उभर आता है।

रेणु का 'मैला आँचल' स्वाधीनता की आशाओं और आकांक्षाओं का ही संकेत नहीं देता, वह तेजी से फैलती हताशा और मोहभंग को भी स्वर देता है। अपने रोमानी रूझान के कारण तब वह बहुतों

को प्रेमचंद की परम्परा से विचलन का उदाहरण जैसा लगा था, लेकिन प्रेमचंद से भिन्न दृष्टि से गाँवों को देखने में ही ' मैला आँचल' का वास्तविक महत्त्व निहित है।

lUnHkZ %

1. फणीश्वरनाथ रेणु–'मैला आँचल' भूमिका, राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0स0–7–8
2. डॉ0सूरज पालीवॉल –मैला आँचल : एक विमर्श भूमिका, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0सं0–7–8
3. वहीं, पृ0सं0–13
4. वहीं, पृ0सं0–27
5. वहीं, पृ0सं0–27–28
6. वहीं, पृ0सं0–30
7. फणीश्वरनाथ रेणु–'मैला आँचल', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0सं0–20
9. मधुकर गंगाधर–आलोचना, पूर्णांक, पृ0सं0–84
10. नेमिचंद्र जैन–अधूरे साक्षात्कार, पृ0सं0–36

***

ljkt Lefr % ,d vuqie Ñfr

xkiky ;kno*

अंग्रेजी इतिहासकार हडसन शोक गीत को परिभाषित करते हुए इसे आत्मपरक कविता के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूपों में से एक माना है– 'शोकगीत अपने सरलतम रूप में विलाप का एक संक्षिप्त गीत अथवा व्यक्तिगत अभाव तथा दुःख की सीधी अभिव्यक्ति है, जैसे– डेविड के 'लेमेण्ट फार सोल एण्ड जोनाथन', लैण्डर के 'रोजआइलमार' तथा टेनीसन के ब्रेक, ब्रेक, ब्रेक में। स्पष्टतया इसमें आधार भावना तथा अभिव्यक्ति की पूरी–पूरी ईमानदारी है। हल्का सा भी कृत्रिम अलंकरण इसे इसकी गरिमा से विरहित कर सकता है।'

शोकगीत में कवि किसी महान व्यक्ति या महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को संस्मरणात्मक शैली में उसके जीवन व चरित्र का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए श्रद्धांजली अर्पित करता है। शोकगीत में विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठ संबद्धता पूरी तरह अन्तर्निहित हो जाती है, कवि अपने विषय पर चिन्तन करता हुआ उससे तत्काल उठे प्रश्नों अथवा जीवन एवं नियति के गम्भीरतम समस्याओं पर विचार करने लगता है। सरोज स्मृति इसके काफी नजदीक है। कभी–कभी सारे लक्षण एक ही कविता में दिखाई देने लगता है।

इस प्रकार 'शोकगीत ऐसी काव्य विधा है, जिसमें एक ही भाव या परिस्थिति में संबोधनात्मक शैली में अभाव, असफलता, अवसाद के तनाव का आत्मानुभूतिपरक वर्णन होता है।' भारतीय साहित्य में विलाप गीतों की परम्परा बहुत पुरानी है। रघुवंशम् एवं कुमारसंभवम् में क्रमशः अज एवं रति के विलाप बड़े ही मर्मवेधक है और हिन्दी साहित्य के आदिकाल तक इस प्रकार के गीतों का क्रम बना रहा। किन्तु इन्हें शोकगीत नहीं कहा जा सकता क्योंकि शोकगीत निश्चित एवं वास्तविक घटना पर आधारित होती है, पौराणिक प्रसंग उसके परिधि में नहीं आते। कुछ आलोचक प्रसाद कृत आँसू को विलाप काव्य या शोककाव्य के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहा। किन्तु यह स्पष्ट हो चुका है कि आँसू विरह काव्य है।

निरालाकृत सरोज स्मृति हिन्दी साहित्य की प्रथम शोकगीत, जिसमें निराला द्वारा अपनी पुत्री सरोज के असामयिक निधन पर अपने शोक संतप्त हृदय की विह्वल भावनाओं को वाणी दी गई है। यह कविता पाश्चात्य शोकगीत के लक्षणों पर आधारित कविता है। हिन्दी साहित्य में एक–दो कवि–कवयित्रियों को (जो ऐतिहासिक रूप से उल्लेखनीय नहीं हैं) छोड़ दिया जाय तो अपने ढंग की अकेली तथा प्रथम सार्थक शोकगीतात्मक कविता है। सरोज स्मृति हिन्दी काव्य परम्परा की अनूठी रचना है जो अपनी विषय–वस्तु में अन्य लम्बी कविताओं से सर्वथा भिन्न है। यह हिन्दी में लिखित शोकगीत का महाकाव्यात्मक स्वरूप है। ''अठ्ठारह वर्ष की अल्पायु में ही सरोज की मृत्यु ने भावुक पितृ हृदय को किस प्रकार आहत किया सरोज–स्मृति उस स्थिति का पूर्ण अंकन करती है। अपनी हार्दिक ममतापूर्ण वात्सल्य एवं प्रताड़ना से संयुक्त इस कविता में कवि का आलेखन भी है अभिव्यक्ति की सुघराई भी।''[1]

कविता का आरम्भ सरोज के निधन से होता है, जबकि इसकी संरचना का विकास एवं फैलाव सरोज की वय के साथ होता जाता है। यह कविता अपूर्व स्मृति कौशल या वर्णन की विलोम पद्धति पर आधारित है। निराला कृत 'सरोज स्मृति का आलंबन उनकी पुत्री 'सरोज' है। विषम परिस्थितियों के शिकार निराला के लिए सरोज का देहान्त अत्यन्त पीड़ादायक सिद्ध हुआ। सरोज की माँ का निधन उसकी अल्पवय में ही हो गया था। अतः नानी की गोद में पली, बाल्य की केलियों के प्रांगण को पार कर तरूणाई

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

की देहरी पर पहुँची। विपन्न पिता ने किसी तरह उसका विवाह किया, किन्तु वह अधिक दिनों तक जीवित न रह सकी। पिता के समाने उसकी संतान की मृत्यु हो जाये उससे कष्टकारी प्रहार और क्या हो सकता है? निराला भी सरोज की मृत्यु से एकदम टूट गये। आहत पिता के आँखों के सामने उसके जीवन की अनेक स्मृतियाँ घूम गईं। इन्हीं स्मृतियों की गाथा है– सरोज स्मृति। कहीं उनकी असमर्थता तो कहीं उनका विरोधी स्वभाव का स्मरण उन्हें घेरने लगा। कभी सरोज के यौवन का उदात्त रूप उनके सामने आकर देहान्त की असामयिकता की पुष्टि करता है, उनकी पीड़ा को बढ़ाता है, तो कभी अपनी जाति–वर्ग के आचार–व्यवहार के प्रति अपनी क्षुब्धता स्मृति को और तेज करने लगी। कविता का आरम्भ व अन्त दोनों दार्शनिक पृष्ठभूमि में हुआ है।

कविता का शीर्षक ही उसके शोकगीत होने का प्रमाण है– सरोज–स्मृति। यहाँ स्मृतियाँ कई प्रकार की हैं– एक सवा साल की बालिका की स्मृति जिसपर माँ की ममता बरसती है–

''तू सवा साल की जब कोमल/पहचान रही ज्ञान में चपल/माँ का मुख चुम्बित हो क्षण–क्षण/भरती जीवन में नव जीवन।''[2]

पत्नी के विछोह के बाद सरोज से लगी दूसरी स्मृति है उसके ननिहाल की। ननिहाल में रहना, अर्थाभाव के कारण पिता द्वारा न रख पाने का परिणाम है। इस स्मृति में चपला, चंचला सरोज, का चित्र है–भाई की मार से विफल 'गंगा तट सैकत विहार' के हासोच्छल है–

''सब किये वहीं कौतुक विनोद/उस घर निशि वासर भरे मोद/खाई भाई की मार, विकल/रोई उत्पल–दल–दृग–दृग–छल छल/ चुमकारा सिर उसने निहार/ फिर गंगा तट पर सैकत विहार/करने को लेकर साथ चला/तू गह कर चली हाथ चपला/आँसू धुला मुख हासोच्छल/लखती प्रसार वह उर्मिधवल।''[3]

तीसरी स्मृति सरोज के यौवनागम एवं उसके बाद सुहागिनी रूप से जुड़ी है–

''धीरे–धीरे फिर बढ़ा चरण/बाल्य की केलियों का प्रांगण/कर पार कुंज तारूण्य सुघर/आयी लावण्य भार थर–थर/.....देखा विवाह आमूल धवल/ तुझपर शुभ पड़ा कलस का जल।''[4]

सरोज के जीवन की स्मृतियों से जुड़ी स्मृतियाँ हैं– कवि के अपने जीवन की। सरोज का देहान्त कवि को कुछ आपबीती कुछ जग बीती सुनाने को विवश करता है। आपबीती स्मृतियाँ हैं–स्वार्थ समर, साहित्यिक समर, विवाह प्रसंग आदि–

''लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर/हारता रहा मैं स्वार्थ समर/.....देखें वे, हँसते हुए प्रवर/जो देखते रहे सदा समर/.....देखता रहा मैं खड़ा अपल/वह शस्क्षेप वह रण कौशल/.....सस्नेह कह चुके थे जीवन/सुखमय होगा विवाह कर लो/जो पढ़ी लिखी हो सुन्दर हो।''[5]

txchrh Lefr;k %& ''क्षीण का न छीना कभी अन्न/मैं लख न सका वे दृग विपन्न/.....कान्य कुब्ज कुल कुलांगार/खाकर पत्तल में करें छेद/इनके कर कन्या अर्थ खेद।''[6]

इन स्मृतियों से दुःख और बढ़ा जाता है। निराला का साहित्यिक समर जितना वैयक्तिक है, उतना ही युग से जुड़ा। हर युग में स्थापित वर्ग के साथ अपनी पहचान बनाने के लिए नवीन वर्ग को संघर्ष करना पड़ता है।

सरोज स्मृति व्यथा की गहराई की कविता है। दुःख के साथ–साथ जो सुख की स्मृतियाँ आती हैं उससे समाज के व्यापक संघर्ष में दुःख और भी गहरा जाता है। नामवर सिंह सरोज स्मृति को सामान्य व्यथा की कविताओं से अलग करते हुए कहते हैं कि– ''एक ही भाव पर लिखी हुई दो कविताओं में से उसे हम अधिक गहरी कहते हैं, जिसमें उस भाव के अंतर्गत अनेक छोटी–छोटी अन्तर्दशाओं का चित्रण रहता है। सामान्य विलाप एवं दुःख की कविता में यही अंतर है। सरोजस्मृति में जो व्यथा की गहराई है, वह व्यथा के विभिन्न सम्बन्ध सूत्रों के कारण है। पुत्री के दुःखद स्मृति के बीच जीवन के अन्य दुःख की स्मृतियाँ जागती जाती है। और उनके साथ–साथ सुख की मधुर स्मृतियाँ भी आती है और इन निजी स्मृति चित्रों के बीच समाज के व्यापक संघर्श की झलक मिल जाती है। यही वजह है कि 'सरोज स्मृति' अपने क्षेत्र में अद्वितीय कृति है।''[7]

शोकगीत में अभाव एवं असफलता के चित्र होते है। निराला ने सरोज की मौत के क्रम में 'स्वार्थ–समर' में अपनी पराजय को गंभीरता से लिया है। कवि महसूस करता है कि व्यक्ति के जीवन की सफलता सिर्फ कविधर्म में नहीं है, पिता के पालन धर्म में भी है। अपनी पुत्री को दधिमुख न रख पाने तथा चिनांशुक न पहना पाने के कारण कवि उपार्जन की अक्षमता तथा आर्थिक पराजय को पाता है। यह कवि के भीतर आत्मधिक्कार बनकर फूट पड़ता है।

''धन्ये मैं पिता निरर्थक था/कुछ भी तेरे हित न कर सका/.....शुचिते पहनाकर चिनांशुक/रख सका न तुझे अतः दधिमुख।''[8] सरोज के मृत्यु के बिल्कुल सामने कवि के आत्मधिक्कार का बिम्ब रखा गया है। यह बिम्ब मौत की त्रासदी और बढ़ा देता है।

निराला का साहित्यिक जीवन और पिता जीवन परस्पर गहराई से जुड़ा हुआ है। अपने जीवन संघर्षों एवं पीड़ाओं का आख्यान देकर मानो उनका पिता रूप अपनी पुत्री के दिवंगत आत्मा के समक्ष सफाई दे रहा है– ''अस्तु मैं उपार्जन को अक्षम/कर नहीं सका पोषण उत्तम/कुछ दिन को जब तू रही साथ/अपने गौरव से झुका माथ/पुत्री भी पिता गेह में स्थिर/छोड़ने को प्रथम जीर्ण अजिर/आँसुओं सजल दृष्टि की छलक/पूरी न हुई जो रही कलक/.....हटी भी पथ पर दृष्टि टेक।''[9]

निराला जी सोचते हैं सभी बच्चों की प्रवृत्तिनुसार तुम्हारे मन में भी अभिलाषयें थी; लेकिन अपने पिता के अभावों से परिचित होने के कारण तुम अपनी इच्छाओं के बारे में हमेशा मौन रहती थी। कभी–कभी अभावों की पीड़ा से तुम्हारी आँखें छलक जाती जो मुझसे छिपा नहीं रहता। मैं हमेशा धन कमाने में असमर्थ रहा और तुम्हारा लालन–पालन अच्छे ढंग से नहीं कर पाया। अतः अपना पिता धर्म निभाने में असमर्थ रहा। एक अन्य जगह पर कवि वर्णन की विलोम पद्धति सरोज के प्रति अपने ममत्व का चित्र खड़ा करता है– ''याद है दिवस की प्रथम धूप/पड़ी हुई तुझ पर सुरूप खेलती हुई तू परी चपल/मैं दूर स्थित प्रवास से चल/दो वर्ष बाद, होकर उत्सुक/देखने के लिए अपने मुख/था गया हुआ।''[10]

यह पुत्री के प्रति पिता के स्नेह का द्योतक है। निराला हिन्दी के एक मात्र कवि हैं, जिन्होंने अपनी पुत्री के विछोह पर कविता लिखी है, उसे अपने जीवन संबल करार दिया है– मुझ भाग्यहीन की तू संबल! उनका यह दृष्टिकोण छायावाद के नारी मुक्ति से मेल खाता है, जो नारी मुक्ति की प्रतिज्ञा 'सरोज–स्मृति' में पुत्रीप्रेम तथा 'राम की शक्तिपूजा' में पत्नी प्रेम को लेकर चलता रहता है। इतना ही नहीं उनके पूरे साहित्य को देखने से पता चलता है कि नारी मुक्ति उनके विचारधारा का मुख्य लक्ष्य है। उनके उपन्यासों की नायिकायें प्रायः नये युग की चेतना सम्पन्न युवतियाँ हैं– कनक, अलका, निरूपमा, तथा प्रभावती। इसी तरह उनकी कहानियों में नये युग की शिक्षित तरूणियाँ, जो समाज सुधार एवं विद्रोह की भावना से भरी हुई हैं। फिर आगे कवि नानी, मामा, मामी की याद द्वारा शोक की पीड़ा को और उभारता है। परिवार और समाज की अन्युत्तम गुणों की विदाई अधिक कचोट पैदा करती है। कवि सरोज के चारित्रिक औदात्त तथा बाहर–भीतर के विलक्षण सौन्दर्य का चित्रण करके सरोज की मौत की पीड़ा को गुणात्मक ढंग से बढ़ा देता है। निराला के दुःख की पराकाष्ठा तब होती है, जब कुछ न कहते हुए सब कुछ कह जाते हैं–

n%[k gh thou dk dFkk jgh@D;k dg vkt tk ugh dghA[11]

वेदना के इस बिन्दु पर पहुँच कर निराला स्तब्ध हो जाते हैं। यदि सरोज की मृत्यु नहीं हुई होती तो जो कुछ उन्होंने कहा वह भी अनकहा रह जाता, यह उनके मानी स्वभाव के अनुकूल नहीं था। किन्तु बरबस फूट पड़ने वाले व्यथा–निर्झर के समक्ष वह निरूपाय थे। दुःख ही जीवन की कथा रही– इस सीधी–सपाट बयानगी में कितनी बेबसी भरी है, कितनी तड़प है! दुःख व्यक्त नहीं किया गया, व्यक्त हुआ फिर भी वह शब्द बना ही नहीं जिसमें दुःख का अश्क उतारा जा सके।

शोकगीत संगीतात्मक एवं आत्मानुभूतिपरक् होती है। जहाँ–जहाँ कवि ने सरोज का स्मरण किया है और कथा के आग्रह से अपने को बचा सका है, वहाँ कविता संगीतात्मक एवं माधुर्यमूलक है– ''धीरे/धीरे फिर बढ़ा चरण/बाल्य की केलियों का प्रांगण/ कर पार कुंज–तारूण्य सुधर/आयी लावण्य भार थर–थर कण कोमलता पर सस्वर/ज्यों मालकोश नव वीणा पर।''[12]

यहाँ संगीतात्मक सौन्दर्य है। सरोज स्मृति एक गीतिकाव्य भी है, जिसमें भावावेश की अधिकता होती है। कवि कल्पना भाव की नोक पर चढ़ी आती है। शोकगीत में आख्यानपरकता नहीं होती है। यह आत्मानुभूति की कविता है, क्योंकि पूरी कविता में दुःख को अपने ही भीतर अनुभूत किया गया है।

शोकगीत संबोधनात्मक होती है। जिसने साथ छोड़ दिया है उसका नाम लेकर शोक से गुजरता हुआ व्यक्ति भाव तल्लीनता का शिकार होता है। शुरू से अंत यह कविता सटीक भाव व्यंजक एवं कविता के अर्थ विस्तार को सम्भव बनाने वाले संबोधनों से पटी हुई है। सरोज, पिता निराला के लिए..... तनये, गीते, मेरी, जीवित–कविते, धन्ये, शुचिते, तू परी चपल आदि है। वह खिलखिलाकर आती है भाव पर झूल जाती है। परम्परागत रूप में देखा जाय तो संबोधनों से कविता में उथलता आती है लेकिन निराला के हाथ में पड़कर यही संबोधन कविता के भाव को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

शोकगीत में एक ही भाव या परिस्थिति का विस्तार होता है, विविध भावों की योजना की छूट नहीं होती, लेकिन इस कविता में शोक जैसे भावों के साथ–साथ हास्य और व्यंग्य जैसे हल्के भाव भी चित्रित हुए हैं। –निरानन्द सम्पादकी' एवं 'कान्य कुब्जों' पर व्यंग्य है। चमरौधे, जूते का प्रसंग हास्य भाव उजागर करता है। मैथ्यू अर्नाल्ड ने कहा है कि 'गम्भीर भावों के साथ हास्य व्यंग्य जैसे हल्के भाव कविता को कमजोर बनाते हैं।' लेकिन उन्हें निराला ने गम्भीर भावों के पास ही रखा है। इन विषम एवं विपरीत भावों से भी कविता अपनी ऊँचाई से स्खलित नहीं होती।

कविता का प्रसंग वैयक्तिक होते हुए भी आर्थिक एवं सामाजिक है। जहाँ प्रसंग आर्थिक एवं सामाजिक है, वहाँ कविता शोकगीत से दूर हो गई है। सरोज की करूणा की भूमि पर खड़ा कवि उसके सौन्दर्य का चित्र खींचता है, यहाँ शोकगीत की भूमि का अतिक्रमण है। शोकगीत को समाहित करते हुए भी यह कविता महज शोकगीत नहीं है, क्योंकि निराला ने इसमें कई जगहों पर शोकगीत की सीमाओं का अतिक्रमण किया है। यह कविता दुःख में जीने या दुःख को ओढ़ने–बिछाने की कविता नहीं है बल्कि दुःख को अनुभव करने की कविता है। एक उफनते हुए सागर की तरह समस्त जीर्ण–शीर्ण को तोड़ देने एवं बाहर निकालकर पूरे परिवेश को संक्रांत कर देने की कविता है। मौत के तम के समानान्तर कवि का अपना दुस्तर तम है। जिसमें वह अपने जीवन का प्रत्यावलोकन करता है।

सरोजस्मृति महज शोकगीत ही नहीं है, बल्कि यह अपने अन्दर शोक को समाहित करने वाली निराला के सामयिक युग की वास्तविक पहचान कराने वाली कविता है। प्रो0 राजेन्द्र कुमार के अनुसार– ''यह कविता हिन्दी साहित्य में एक बहुत बढ़े अभाव को पूर्ण करती है क्योंकि शोकगीत नाम की कोई विधा हिन्दी में नहीं थी। यह हिन्दी की प्रथम शोकपरक कविता है, जो हिन्दी में नये युग का सूत्रपात करती है। यह बात पूर्णतः सत्य भी है और निराला और उनकी सराजस्मृति कविता का योगदान भी इसी में निहित है। और यह हिन्दी ही नहीं सम्पूर्ण साहित्य की अनुपम शोकगीत है।''[13]

lanHkZ %

1. निराला होने का अर्थ और तीन लम्बी कविताएं, राजेन्द्र कुमार, पृ0 सं0 86।
2. राग–विराग, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पृ0 सं0 82।
3. वहीं, पृ0 सं0 82।
4. वहीं, पृ0 सं0 85।
5. वहीं, पृ0 सं0 80।
6. वहीं, पृ0 सं0 80–81।
7. इतिहास और आलोचना, नामवर सिंह, पृ0 सं0 106।
8. राग–विराग, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पृ0 सं0 80।
9. वहीं, पृ0 सं0 82।
10. वहीं, पृ0 सं0 83।
11. वहीं, पृ0 सं0 91।
12. वहीं, पृ0 सं0 85।
13. निराला होने का अर्थ और तीन लम्बी कविताएं, राजेन्द्र कुमार, पृ0 सं0 17।

***

vkjfEHkd miU;klk e fo/kok&thou

lo'k dekj*

भारतीय धर्म, संस्कृति और जीवन शैली की निजता में जहाँ इस देश को भी भारत माता का गौरव मिला हुआ है और पौराणिक आधारण पर 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि' की संकल्पना बहुत लम्बे समय से चली आ रही है, वहीं समानता, समता और विभेद की पर्याप्त खाई भी विद्यमान है। जिस मानव सभ्यता ने स्त्री–पुरूष की गुणात्मक निजता को जन्म दिया है, वह पितृसत्तात्मक मानव सभ्यता है। इस मानव सभ्यता में पिता शासक/नियंता होता है। पुत्र जीवन जीने का आधार होता है और अन्नपूर्ति का एक मात्र वृद्धावस्था में सहारा भी। स्त्री का कोई अपना समाज नहीं संस्था नहीं, स्थान नहीं। जिस स्त्री ने समाज को बनाया उसी को उससे समाज च्युत किया गया है। भारतीय समाज की सजीव संकल्पना स्त्री और उसके उच्चभाव बोध, नैतिक मूल्यों के साथ–साथ निर्माण की सोच से बनता है न कि उसके शारीरिक संभोग से। उसके इंकार से यह जीवन निर्माण रूक जायेगा।

डॉ0 सत्यकाम का कथन है–"भारत में जाति ही यथार्थ है; वर्ग तो उसका पिछलग्गू है।"[1] भारतीय वर्ग और जाति दोनों ही पिछलग्गू हैं, जब बात स्त्री की हो। वर्ग अर्थात् पुरूषवर्ग या स्त्री वर्ग और जाति स्त्री जाति और पुरूष जाति। जहाँ वर्ग और जाति को मिलाकर पुरूष वर्ग शक्तिशाली सम्पन्न और स्वतंत्र महसूस करता है वहीं जाति और वर्ग की सम्मिलित रूप से उत्पन्न स्त्री–अबला, निर्धन और परतंत्र महसूस करती है। उसका समाज में दोयम दर्जा सदियों से एक समान बना हुआ है।

भारतीय चिंतन परम्परा में धर्म, दर्शन, समाज का चाहे कोई भी सच रहा हो, स्त्री की सत्ता हमेशा सर्वोपरि रही है। मनुस्मृति में उक्ति है– 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'.... अर्थात् जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता भी निवास करते हैं। जहाँ नारियाँ गंभीर दार्शनिक समस्याओं पर चिंतन किया करती थीं, वही परवर्ती काल ने स्त्रियों के उच्च भावबोध की क्रिया को निरूत्साहित किया है।

इतिहासकारों का भी मानना है, कि हमारी सभ्यताओं में मातृसभ्यता का प्रचलन था। पृथ्वी पूजा, गौ पूजा, प्रकृति की पूजा आदि इसके पुख्ता प्रमाण हैं। भारतीय समाज ने विकास की रफ्तार में ग्रहण करने के नाम पर जितनी आधुनिकता ग्रहण करता गया है, वह अपनी परम्परा में महिलाओं की दशा–दिशा और उसकी अवस्था उतनी ही बदतर बनाता चला गया है। समाज में पुरूष द्वारा स्त्री की जिस एक चीज को मारा, उससे छीना है तो वह है– उसकी स्वतंत्रता। स्त्री, चाहे जिस देश की हो, गांव की हो, शहर की हो हर जगह उसकी आजादी को छीना गया है। व्यक्ति की स्वतंत्रता आधुनिक युग की महत्वपूर्ण चिंता है। मध्ययुगीन भावबोध से बिलगाव की यह प्रमुख लक्षण है। जन्म से हम स्वतंत्र है। आजादी का अर्थ है– चयन की आजादी। आजादी वह है कि हम अपनी पढ़ाई, रोजी कमाई और जीवन के विषय में स्वयं का निर्णय ले सकें। परन्तु निर्णय लेते और चयन की आजादी सिर्फ पुरूषों को है स्त्रियों को नहीं। खुद अपनी निजी जिंदगी के बारे में सोचना जैसे उनके लिए गुनाह है और इसी गुनाह को वे नियति मान बैठी है और उससे चुपचाप सहन करती चली आ रही है। स्त्री का यह घुटन भरी और निष्प्रयोज्य जीवन का नाम है– विधवा। विधवा जीवन के रूप में जीती हमारी भारतीय जननी सदैव से

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ0प्र0–221005।

उपेक्षित और समाज की तिरस्कृत जीवन को जीते चली आ रही है। उसका नारकीय जीवन और भी आधुनिक काल में जैसे नारकीय बनता सा जा रहा है।

हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी कमजोरी जाति व्यवस्था, धर्म की संकीर्ण मान्यता और रूढ़िवादिता है। इसके चलते ही समाज का पुनरूत्थान संभव नहीं हो पा रहा है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, धार्मिक दृष्टि का परिवर्तन ही नहीं हुआ, बल्कि धर्म के प्रति दृष्टि में भी परिवर्तन हुआ। भारतीय नवजागरण के अग्रदूतों ने धर्म की पहचान को सदैव राष्ट्रीय संदर्भ में जांचने–परखने की कोशिश की और राष्ट्रीय अस्मिता के निर्माण में धार्मिक अस्मिता को आड़े हाथो लिया। हिन्दू धर्म में दृष्टि परिवर्तन का प्रस्ताव रखते हुए राजाराम मोहन राय ने सन् 1928 ई0 में लिखा था–"मुझे खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि धर्म के वर्तमान ढाँचे ने हिन्दुओं को बुरी तरह जकड़ रखा है कि उनके राजनीतिक हितों के बारे में कुछ किया ही नहीं जा सकता है। जातीय भेद और जातीय अभिमान ने उन्हें अनगिनत वर्गों और उपवर्गों में बांट दिया है, जिससे उनमें देश–प्रेम की भावना ही खत्म हो गई है। सैकड़ों तरह के धार्मिक रीति–रिवाजों, धार्मिक समारोहों और युद्धीकरण के नियम ने उन्हें इस कदर बांध रखा है कि वे कोई जोखिम का काम हाथ में लेने लायक रह ही नहीं रह गए हैं। इसीलिए मेरे ख्याल से, अब यह जरूरी हो गया है कि हिन्दू धर्म के स्वरूप में कुछ परिवर्तन लाए जाएँ। कम से कम हिन्दुओं के राजनैतिक और सामाजिक हितों के लिए तो ऐसा करना बेहद जरूरी है।"[2] राजा राम मोहन राय के उद्धरण से ज्ञात होता है कि धार्मिकता की आड़ में भारतीय समाज कितना खोखला सा बना हुआ था। नवजागरण के परिणाम स्वरूप भारतीय समाज में सर्वत्र विकास की लहर दौड़ पड़ी। समाज में शिक्षा और ज्ञान का प्रसार तेजी से फैलने लगा। हर वर्ग और हर तपके के लोगों को विभिन्न समाज सेवी संस्थाओं ने उठाना शुरू किया मसलन– विधवा–विवाह, सती–प्रथा पर रोक, स्त्री–शिक्षा पर बल, किसानों की दयनीय दशा में सुधार तथा दलितों की स्थिति में परिवर्तन किया जाने लगा। समाज से कुछ पढ़े–लिखे बुद्धजीवी लेखकों/विचारकों ने अपने लेखन का विषय समाज और समाज में व्याप्त बुराइयों– अंधविश्वास की खाइयों को यथार्थ रूप में लिया। इसी यथार्थ रूप में विधवाओं का जिक्र भी खुलकर होने लगा। नवजागरण के प्रभाव से ही हिन्दी साहित्य में लेखकों की उत्पत्ति होती है। जो अपने रचना के माध्यम से हमें विधवाओं के जीवन से रूबरू कराते हैं।

डॉ0 सत्यकाम का मानना है कि– ''भारत में उपन्यास का जन्म राष्ट्रीय आंदोलन और नवजागरण की कोख से हुआ है। 1857 का प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम भारतीय उपन्यास के जन्म की पृष्ठभूमि बना। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में उपन्यास यूँ ही नही पनपने लगे, बल्कि परिस्थिति ने उन्हें पनपने का मौका दिया।"[3] अगर सत्यकाम के उद्धरण पर गौर किया जाय, तो वे परिस्थितियाँ कोई और नहीं बल्कि भारतीय समाज में किसानों की दशा, विधवाओं की दयनीय स्थिति और स्त्रियों की शिक्षा ही है।

डॉ0 गोपाल राय का कथन कि–"स्त्री उद्धार भारतीय नवजागरण का प्रमुख मुद्दा था जिसका स्वाभाविक अभिव्यक्ति इन कथा पुस्तकों में हुई। संयोग, यही इनकी उपन्यास होने की पहचान बन गयी।"[4] इस प्रकार उपन्यास का भारतीय नवजागरण से गहरा संबंध था। नवजागरण में स्त्री उक्ति के प्रश्नों को केन्द्रीय महत्व मिला है। उपन्यास एक लोकप्रिय साहित्यिक विधा के रूप में उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में आ चुका था। जिसमें विदेशी शक्तियाँ सक्रिय थी। इसी दौर में उपन्यास के जन्म के पीछे विदेशी प्रेरणा ही नहीं थी, बल्कि भारत में नए उभरते मध्यवर्ग की बौद्धिक आवश्यकताओं का दबाव भी था। इसीलिए दुनियाँ भर के देशों में जिनमें भारत भी एक है, जब मध्य वर्ग का उदय हुआ देर–सबेर भारत में भी उपन्यास का जन्म उसकी अपनी परिस्थितियों की उपज के साथ हुआ।

यूरोप में उपन्यास के जन्म के पीछे चाहे जो भी परिस्थितियाँ रही हों, परन्तु भारतीय संदर्भ में किसान और स्त्री जीवन गाथा ही मुख्य बिंदु है, जो उपन्यास का आधार स्तम्भ है। जितना किसान जीवन उपन्यास को प्रभावित करता है उतना ही स्त्रियों की दयनीय स्थिति। तत्कालीन उपन्यासों में प्रारम्भिक उपन्यासकारों ने जहाँ स्त्रियों को शिक्षित करने की बात करते हैं, वहीं यह कोशिश भी करते

है कि विधवा को जीवन जीने का एक सुदृढ़ आधार भी मिले। वह अपने ही घर में अपने ही लोगों के बीच उपेक्षित जीवन से मुक्त होकर सम्मान का जीवन जी सके। इन सब नैतिक कामनाओं को संजोये हुए हमारे हिंदी के प्रारम्भिक उपन्यास दिखाई पड़ते हैं। उपन्यास विधा की शुरूआत करने वाले हिंदी में पं0 गौरीदत्त ने 'देवरानी–जेठानी की कहानी' में विधवा जीवन का जिक्र किया है। सन् 1870 ई0 में लिखित यह उपन्यास हालाँकि स्त्रियों की शिक्षा, बाल–विवाह पर रोक स्त्रियों की आभूषण प्रियता, परिवारों में अलग्योझा की समस्या, फिजूल खर्ची व पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण करने का समर्थन करता है, वहीं विधवा–विवाह का भी समर्थन करता है। उपन्यास में यह बात एक इशारे में व्यक्त किया गया है–"छोटे लाल की बहू की मामा की बेटी दिल्ली से मेरठ में विवाह हुई आई थी। उसकी बेटी जब नौ वर्ष की थी कोयल में शिवलाल बनिये के बेटे से विवाह गई थी और उसके भी एक ही बेटा था। एक दिन कोठे पर खड़ा पतंग उड़ा रहा था और पेच लड़ रहा था। ऊपर को दृष्टि थी, आगे जो बढ़ा, धड़ाम से तिमंजिले पर से नीचे आ रहा, और पत्थर पर गिरा। हड्डियों का चकनाचूर हो गया। सिर में बहुत चोट लगी। दो दिन जिया तीसरे दिन मर गया। सो दिल्ली वाली की लौंडिया दस वर्ष की अवस्था में विधवा हो गई थी।"[5] उपरोक्त उदाहरण से 10 वर्ष की उम्र में ही विधवा हो जाने की बात से स्पष्ट होता है कि लार्ड–बिलियम बैंटिक द्वारा सन् 1829 ई0 में सती प्रथा के अन्त हो जाने के बाद से लेकर 1870 ई0 में लिखित उपन्यास 'देवरानी–जेठानी की कहानी' तक के समय में विधवाओं को कितना कष्टपूर्ण जीवन बिताना पड़ता था। इस बात को लेखक पूर्ण भावना के साथ तो नहीं परन्तु इच्छा जरूर व्यक्त करता है, कि बालपन में हो गई विधवाओं का विवाह कर दिया जाना चाहिए। विधवाओं की ओर इशारा करने वाला हिंदी का यह प्रथम उपन्यास है। डॉ0 गोपाल राय का भी मानना है कि–"कथाकार स्त्री–शिक्षा और विधवा विवाह का भी समर्थक है, यद्यपि विधवा विवाह का समर्थन वह दबी जबान से ही करता है। इसका कारण यह हो सकता है कि उस समय हिन्दू समाज में विधवा विवाह को व्यापक समर्थन प्राप्त नहीं था।"[6] विधवा विवाह की समस्या प्रेमचन्द के पहले हिंदी संसार में इसी उपन्यास में उठाई गई है। 10 साल की उम्र में ही कई विधवा का दंश झेलने को मजबूर है। खेलने–खाने की उम्र में ही उसे वैधव्य भोगना पड़ता है। क्योंकि पुनर्विवाह का प्रचलन समाज में अभी तक मान्य नहीं हो सका था। विधवा हो जाने पर वह अपनी जिंदगी को किस तरह आगे बढ़ाती है और उन्हें क्या करना चाहिए कि उसका समाज में पतित स्थान बना रहे इसके लिए प्रारम्भिक उपन्यासकार अपने समय में मान्य और प्रचलित परम्परा के अनुसार ही विकल्प भी तलाशते हैं। प्रारम्भिक उपन्यासकार हालाँकि आदर्शवादी होते थे। वे अपने समाज में एक आदर्श गढ़ते हैं, जिसकी एक परिणति इस प्रकार भी है–"किरती नाम था। बड़ी भोली–भाली लौड़िया थी। ऊपर को निगाह उठा के नहीं देखे भी अपनी मासी से विष्णुसहस्रनाम पढ़ लिया था। नित पाठ किया करे थीं और जपा करे थी। कथा–वार्त्ता सुनती रहे थी। कार्तिक और माघ न्हाती।"[7] इस तरह उपन्यास जहाँ विधवा को पुनः विवाहित करने की जगह मात्र उसे सहस्त्रनाम, गीतापाठ, कार्तिक और माघ के नहान तक ही सीमित कर दिया गया है। यहाँ लेखक अपने समय–समाज से खुलकर विद्रोह नहीं कर सका है केवल विधवा के जीवन और उसके जरूरतों की ओर इशारा करके रह गया है। विधवा जीवन को जीती एक और रूप ज्ञानों नामक स्त्री पात्र 'वामा–शिक्षक' में है, जो ईश्वरीय प्रसाद–कल्याण राय द्वारा सन् 1872 में लिखा गया था। ज्ञानों की भी स्थिति किरपी की तरह ही चल रहा है। यद्यपि वह 'देवरानी–जेठानी की कहानी' की दूसरी कड़ी है। जिसमें स्त्री–शिक्षा, बाल विवाह निषेध और विधवा–जीवन को चित्रित करता है। परन्तु विधवाओं की स्थिति उठा नहीं पाया है। उपन्यास में ज्ञानो वैधव्य जीवन के निर्वात को भरने के लिए गांव की बहू–बेटियों को शिक्षा दान करके पूरा करती है–"उस ब्राह्मणी की अवस्था चालीस वर्ष की थी उसने किसी सरकारी पाठशाला में तो नहीं पढ़ाया पर नागरी अच्छी तरह जानती थी और कुछ एक संस्कृत पढ़ी थी और कई पुस्तकें पाठ पूजन की जैसे विष्णु सहस्रनाम, गीता और रामायण देखी थीं और अपने भाई से जो तहसील मदरसे में पढ़ता था बहुत सी पुस्तके सरिशते तालीम की भी पढ़ती थी और हिसाब–किताब भी सीख लिया था, क्योंकि छुटपन से विधवा हो गयी थी इसलिए कुछ घर का बोझ भार तो उस्पर पड़ा ही न था केवल पढ़ने लिखने और पूजा पाट में उसका

ध्यान रहा था उस्का यह नियम था जो पढ़ा वह समझ कर पड़ा इसीलिये यह स्त्री बहुत बुद्धिमान और चतुर हो गई थीं।"[8] उपर्युक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि विधवा को अपने भाई–बाप से पढ़ने का अधिकार घर में संगत में बैठने से तो मिल गया था, परन्तु जो उसकी असल जिंदगी की जरूरत उसको एक जीवन साथी की है न कि बाप–भाई के संगत की न मिल सका है। ऐसा उस समय समाज की रूढ़ियों और मान्यताओं की वजह से ही है। 'वामा–शिक्षक' किशोरी और उसकी सास भी वैधव्य जीवन को जी रही है। किशोरी को सान्त्वना हेतु ज्ञानो के जैसा व्यवहार करने को सलाह दी जाती है। वामा–शिक्षक में कई और स्त्री पात्र है जो वैधव्य जीवन को जैसे तैसे जी रही हैं।

सन् 1877 ई0 पंजाब प्रांत के फिल्लौरी निवासी पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी का उपन्यास 'भाग्यवती' प्रकाशित होता है। हालाँकि भाग्यवती की रचना भी हिन्दू स्त्रियों को गार्हस्थ धर्म का उपदेश देने के निमित्त हुई थी। इसमें तात्कालीन हिन्दू समाज की अनेक बुराइयों कुरीतियों–मसलन, बाल विवाह, अंधविश्वास, श्राद्धकर्म संबंधी प्रपंच, अपव्यय आदि का यथार्थवादी अंकन है। वस्तु स्त्री शिक्षा ही 'भाग्यवती' का केन्द्रीय कथ्य है यद्यपि अनुशांगिक रूप में मध्यवर्गीय विशेषकर उच्च मध्यवर्गीय ब्राह्मण, समाज तात्कालीन जीवन दशा का भी अंकन मिलता है। 'भाग्यवती' की विशेषता इस बात में है कि इसमें हिन्दू समाज विशेषकर ब्राह्मण समाज के बौद्धिक पिछड़ेपन का बोध होता है और दूसरी तरफ इनके विरोध में पैदा हो रही बौद्धिक जागरूकता भी सामने आती है। यह नवजागरण की चेतना का यथार्थ था। सती प्रथा जिसे राजाराम मोहन राय के प्रयासों से 1829 में पूर्णतः समाप्त कर दिया गया था, जो किसी नर हत्या से तनिक भी कम नहीं था– का समर्थन भी 'भाग्यवती' उपन्यास में मिलता है। राजा राममोहन राय ने कहा था–"किसी भी शास्त्र के अनुसार यह हत्या ही है।" डॉ0 बिपिन चन्द्र का कहना कि–"बहरहाल अगर कोई महिला सती होने से बच भी जाती थी या बचा ली जाती थी तो जीवन भर उसे वैधव्य मांगना पड़ता था– अपमान, तिरस्कार, उपेक्षा और मुसीबतों की पहाड़ सी जिंदगी।"[10] 'भाग्यवती' में पहली बार लेखक खुलकर सती प्रथा से बची अकेली जिंदगी जीवन यापन कर रही स्त्रियों के लिए विधवा विवाह खुला समर्थन श्रद्धाराम फिल्लौरी ने किया है। लेखकों को लगने लगा था कि विधवा स्त्रियों को शिक्षा, ज्ञान–ध्यान और बरत–व्यवहार की शिक्षा देने के बाद अब उनके पुनर्विवाह की आवश्यकता है। भाग्यवती के इस विशेषता पर डॉ0 गोपाल राय का मानना है कि–"भाग्यवती की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें पहली बार स्पष्ट रूप से विधवा विवाह का समर्थन किया गया था जिसे उस समय का रूढ़िवाद हिन्दू समाज मानने को तैयार न था।"[11] इसका प्रमाण स्वयं 'भाग्यवती' के पृ0 8 पर उद्धृत प्रसंग से ज्ञात होता है कि–"इस के आगे ग्रंथकार ने विधवा विवाह को प्रबल युक्ति प्रमाणों से सिद्ध किया था और विधवा विवाह न होने के दुःख आर्त हृदय से वह वर्णन किये थे कि पढ़नेहार के आंसू धारा चलती थी। विधवा विवाह की उत्तम रीति भी बताई थी, परन्तु पाठशालाओं में विधवा विवाह की शिक्षा देना सरकार ने अनुचित मानकर उस प्रसंग को निकाल दिया था। वह प्रसंग कलमी कापी के बीच, रचयिता पंडित जी के मंदिर फुलौर में रक्षापूर्वक धरा है।"[12] इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि भारतीय उपन्यासकार विधवाओं का पुनर्विवाह तो कराना चाहते थे, परन्तु सामाजिक मान्यताओं और धार्मिक ब्राह्मणवादियों ने सरकार तक को बरगलाकर इस सांसारिक नेक कार्यों तक को भी प्रचारित–प्रसारित होने और उन्हें फलवती होने से रूकवा देते थे। इस तरह विधवाओं की स्थिति उन्नीसवीं सदी में जस की तस बनी ही रही उनका वैधव्य उनके लिए अभिशाप बना ही रहा, वे मुक्ति की कामना से वंचित रह जाती थी।

सामन्ती दौर के उस काल में 1881 ई0 में एक छोटा सा उपन्यास मल्लिका देवी का 'कुमुदिनी' है। जिसको कथादेश के जुलाई 2007 में प्रकाशित किया गया था। यह रचना 'परीक्षा गुरु' के पहले एक सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करती हुई जान पड़ती है। इसकी महत्ता इस बात में ज्यादा है कि उस समय जब स्त्रियों को पढ़ने–लिखने की अनुमति प्राप्त नहीं थी, तब के समय में एक बंगाली विधवा मल्लिका देवी जो परम्परानुपालन काशी प्रवास कर रही थी, ने विधवाओं की स्थिति और उनके अंदर पनपे बाल प्रेम को स्वयं निजी अनुभूति से प्रस्तुत करती हैं। मल्लिका जी का लेखन काल उस समय

का है, जब साहित्य सृजन के कार्य में केवल पुरूषों का वर्चस्व था। पुरूष वर्चस्ववादी व्यवस्था में एक महिला का लिखना पढ़ना कठिन रहा होगा, इसका अंदाजा हम मल्लिका के समय में उपन्यास के प्रकाशित न होने से जान सकते हैं। 'कुमुदिनी' के कथा वस्तु में 'कुमुदिनी' का बाल–विवाह दिखाया गया है। तदुपरान्त विधवा विवाह। स्त्री जाति पर विधवा विवाह करने की इच्छा को पूर्णतः एक स्त्री मल्लिका देवी जो कि स्वयं एक विधवा थी, ने बड़ा उपकार किया। अपने निज के यथार्थ को उन्होंने अपनी सोच, समझ और उठने वाली इच्छाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है। जिसको हम 'कुमुदिनी' के माध्यम से देख सकते हैं। जिस व्यक्ति से कुमदिनी विवाह होता है वह काल कवलित हो जाता है। फिर भी कुमुदिनी पूर्ण आस्थापूर्वक ससुराल में सेवारत रहती है और विधवा हो जाने पर भी कभी कर्त्तव्य विमुख नहीं हुई और रूग्ण श्वसुर की सेवा निष्ठापूर्वक करती रही। हाँ श्वसुर के दिवंगत हो जाने पर तथा देवर रतिकान्त द्वारा भेज दिये जाने पर उसे असहायावस्था में बाध्य होकर स्वपितृ गृह लौटना पड़ता है। उधर रजनीकान्त का विवाह कुमुदिनी की अनुजा स्वर्णप्रभा से होता है किन्तु रजनीकान्त का मन कुमुदिनी में ही अटका रह जाता है। इसी बीच एक पात्र शरतकुमार कुमुदिनी के जीवन में आता है। परन्तु उसके प्यार को कुमुदिनी मात्र आकर्षण ही मानती है और अपने मन में रजनीकान्त के प्रेम की देवतुल्य निष्कलुषता ही सदैव विद्यमान रखती है। पिता चाहते हैं, कि कुमुदिनी का विवाह शरतकुमार से हो जाय, परन्तु पिताज्ञा को वह ठुकराकर विवाह नहीं करना चाहती है। उसका मन भी रजनीकान्त में है। अन्तः कुमुदिनी और रजनीकान्त का विवाह हो जाता है। इस प्रकार कहना होगा कि यह विवाह विधवा विवाह था, जिसे उस समय समाज मान्यता प्रदान नहीं करता था। स्त्रियों के चारित्रिक पातित्य का कारण उनकी दयनीय आर्थिक अवस्था एवं उनके प्रति समाज की उपेक्षा विशेष रूप से बताया जाता था। उपन्यास के विषय में डॉ0 नीरजा माधव का कहना कि–"समाज को इस पाप से बचाने का एक मात्र उपाय था विधवा विवाह को स्वीकार करना। कुमुदिनी में इन दोनों में से कोई स्थिति नहीं है, न तो किसी पक्ष में आर्थिक दयनीयता ही है न सामाजिक उपेक्षा ही, कन्या के माता–पिता भी इसके विरोधी नही है, बल्कि स्वेच्छा से समर्थक हैं, स्वयं प्रस्तावकर्त्ता हैं। रूढ़िवादी ब्राह्मण एवं प्राचीन वृद्ध चाहे जो कानाफूसी करते रहें, किसी को इसकी चिंता नहीं हुई। जैसे कन्या विवाह है, वैसे वह भी विधुर है। दोनों उच्चवर्ग के जाने समझे सजातीय हैं। 'कुमुदिनी' में इस विवाह का आदर्शवादी रूप दिया गया है।"[13] इस प्रकार विधवा–विवाह मुकम्मल रूप से पहली बार इस हिन्दी उपन्यास में मिलता है।

प्रारम्भिक आदर्शवादी हिन्दी उपन्यासों के दौर में ही श्रीमती हरदेवी का उपन्यास 'हुक्मदेवी' भी सन् 1892 ई0 में आता है। इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने पर्दा प्रथा एवं वैधव्य के नीचे छटपटाते स्त्री जीवन की विडम्बनाओं को उकेरा है। तत्कालीन समय के नवजागरण काल में राष्ट्रीय जागरण के साथ ही पराधीन नारी की विवशताओं के भीतर कौंधती धर्म और मर्यादा से विचलित होने वाली धैर्यशील स्त्री की कहानी है। 'हुक्मदेवी' एक विधवा स्त्री है। जो कुछ ही दिन में पति के बाद माता–पिता से भी अनाथ हो जाती है। अनाथ होने के बाद वह अपनी बहन के घर रहने जाती है, परन्तु वहाँ भी समस्याओं को झेलती है। अन्ततः को अपनी धर्म बहन कृष्णा देवी के पास लाहौर जाती है। वहाँ वह जीवन यापन हेतु एक स्कूल में नौकरी करती है, परन्तु वहाँ भी वह मदनलाल द्वारा पीड़ित होती रहती है–"हुक्मदेवी मन में बड़ी दुखित होती थी, ज्यों–ज्यों मदनलाल को रोकती हैं, त्यों–त्यों उसकी दुष्टता बढ़ती जाती थी।" इस तरह उन्नीसवीं सदी में विधवाओं की स्थिति कितनी दयनीय थी इस बात को देखा जा सकता है। विधवा हुक्मदेवी को पाने हेतु मदनलाल हर पहलू से गुजर जाता है। परन्तु विधवा है कि अपनी लज्जा किसी तरह बचाती रहती है। इस विधवा का लाज लेखिका को एक आदर्श गढ़ना ही पड़ता है और वह आदर्श यह कि मदनलाल को भाई बना लेना। जिसमें लेखिका कथा के माध्यम से सफल होती है। डॉ0 नीरजा माधव का कथन कि–"हुक्मदेवी द्वारा बाबू जी के सम्मुख समस्त परिस्थितियों को स्पष्ट रूप से रखना और भाई दूज के दिन बहाने से मदनलाल को अपने घर बुला उसके माथे पर टीका लगा भाई के रिश्ते में बांधना और फिर बहन की रक्षा का वचन लेना है। कहानी आदर्शवादी सांचे में ठोक बजाकर लिखी गई है और अंत स्त्रियों को उपदेश देते हुए समाप्त होती।"[14]

इस तरह नवजागरण काल और अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से सर्वत्र फैली जनजागरण की लहर में अनेक लेखकों ने अपने–अपने रचनाओं के माध्यम से समाज की उपेक्षिता–पतिताओं की ओर सबका ध्यान खींचा। उनकी जरूरत, उनकी शिक्षा, उनका रहन–सहन, सामाजिक स्तर और नैतिक मूल्य को प्रतिस्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। विधवाओं को आदर्शरूप में प्रतिस्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। विधवाओं को आदर्शरूप में प्रतिस्थापित करने, उनके जीवन को वैधव्य से उठाकर पुनर्विवाह कर नया जीवन देने की बात करते हैं। कुछ एक रूढ़िग्रस्त लेखक ही ऐसे मिलते हैं, जो विधवाओं को शिक्षित करने व पुनर्विवाह का विरोध भी करते हैं परन्तु यह उनकी आत्मा का स्वीकार भाव न होकर उनके ऊपर पूर्व मान्यताओं व संस्कारों का प्रभाव था। विधवा जीवन और उनकी दशाओं को प्रेमचन्द से पूर्व देखना है तो इन प्रारम्भिक उपन्यासों में हमें विस्तृत फलक पर देखने को मिल जायेंगे, जिसकी अगड़ी प्रेमचन्द से होकर आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है। वर्तमान में जहाँ स्त्रियाँ उपेक्षित हैं, सतायी जा रही हैं, दबायी जा रही हैं, तो दहेज के नाम पर घर से निकाली जा रही हैं। स्त्रियों के लिए यह आज का आधुनिक विधवा रूप है।

lanHkZ %

1. भारतीय उपन्यास की दिशाएँ : सत्यकाम, सामायिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2012, पृ0 214
2. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष : विपिन चन्द्र, उद्धरण, राजाराम मोहन राय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 37वॉ पुनः मुद्रण–2011, दिसम्बर, पृ0 54
3. भारतीय उपन्यास की दिशाएँ : सत्यकाम, सामायिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2012, पृ0 13
4. हिन्दी उपन्यास का इतिहास : गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2010, पृ0 21
5. 'देवरानी–जेठानी की कहानी' : पं0 गौरीदत्त, सं0 पुष्पपाल सिंह, रेमाधव पब्लिकेशन्स प्रा0लि0, प्रथम संस्करण–2006, पृ0 4
6. हिन्दी उपन्यास का इतिहास : गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2010, पृ0 26
7. 'देवरानी–जेठानी की कहानी' : पं0 गौरीदत्त, सं0 पुष्पपाल सिंह, रेमाधव पब्लिकेशन्स प्रा0लि0, प्रथम संस्करण–2006, पृ0 48
8. 'वामा–शिक्षक' : ईश्वरीय प्रसाद, कल्याण राय, पृ0 12
9. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष : विपिन चन्द्र, उद्धरण, राजाराम मोहन राय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 37वॉ पुनः मुद्रण–2011, दिसम्बर, पृ0 57
10. वहीं
11. हिन्दी उपन्यास का इतिहास : गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2010, पृ0 33
12. 'भाग्यवती' : श्रद्धाराम फिल्लौरी, संवत् 1969 सन् 1912 ई0, पृ0
13. हिन्दी साहित्य का ओझल नारी इतिहास : नीरजा माधव, सामयिक बुक्स प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2014, पृ0 59
14. वहीं, पृ0 78

***

x<oky fgeky; dh efgykvk ij o'ohdj.k dk iHkko

¼dN pfuUnk igy½

'kkfyuh JhokLrok*

यह विश्व बहुत बड़ा है, जिसमें अनेक देश हैं तथा हजारों वर्षों से मनुष्य विविध प्रकार की प्राकृतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों में जीवनयापन कर रहा है। कश्मीर से कन्याकुमारी और गुजरात से असम तक की भौगोलिक सीमाओं के मध्य स्थित भारत देश में रहने वाले लोगों का सामाजिक संगठन विश्व में अनूठा और अपने ढंग का रहा है। इसकी परम्पराएं गौरवमयी और मानव समाज की अमूल्य निधि कही जा सकती हैं। विश्व में भारतीय समाज एवं संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस समय विश्व के अनेक देश सभ्यता का पाठ सीख रहे थे, यहाँ की भूमि पर वैदिक ऋचायें गूँजती रही हैं।

समस्त मानव कल्याण के लिए भारतीय संस्कृति की मूल अवधारणा ''वसुधैव कुटुम्बकम''[1] एवं ''कृण्वन्तों विश्वमर्याय''[2] के रूप में भारत ही वैश्वीकरण का जन्मदाता है। वैश्वीकरण या जगतीकरण का सामान्य अर्थ समरूपता व एकरूपता की वह प्रक्रिया है, जिसमें दुनिया के सम्पर्क साधनों की तरक्की के कारण संकुचित एवं एक होते हुये सम्पूर्ण विश्व में विभिन्न देशों का आपस में सघन रूप से संबंधित तथा पारस्परिक रूप से निर्भर होना है।

गढ़वाल हिमालय में आदिकाल से ही भौगोलिक विविधता की तरह सांस्कृतिक भिन्नता भी दृष्टिगत होती है। प्राचीनकाल में यह छोटे–छोटे गढ़ों में बँटा होने के कारण यहाँ के निवासियों में आपसी मेल–जोल का अभाव रहा है। समय–समय पर लोग आकर यहाँ बसे और उनके आपस में हीन व्यवहार रखने के कारण ही सांस्कृतिक विभिन्नता पाई गई, इसलिये आज भी प्रत्येक पट्टी की संस्कृति दूसरे से अलग है। मध्य हिमालयी जातियों में पहाड़ी हिन्दू जातियों की अधिकता तथा शिवालिक श्रेणी में मिश्रित संस्कृति देखने को मिलती है। भूमण्डलीकरण ने गढ़वाल हिमालय के परंपरागत और प्राचीन बुनियादी आस्था को झकझोर कर रख दिया है। गढ़वाल में परिवार, व्यक्ति, समाज, संस्कृति के समक्ष पुनर्परिभाषा का संकट उत्पन्न हो गया है। वैश्वीकरण के कारण गढ़वाल के समाज व संस्कृति का प्रत्येक पहलू प्रभावित हुआ है। इन परिवर्तनों के कारण कभी एक नये भविष्य गढ़ने का सुखद अहसास परिलक्षित होता है, तो कभी भविष्य में घटित होने वाले खतरे की आहट सुनाई देती है। फिलहाल, तेजी से हो रहे सभी सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों का विश्लेषण गढ़वाल हिमालय में वैश्वीकरण के सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रभावों के लिये आवश्यक हो जाता है।

mnn'; & प्रस्तुत शोध पत्र में वैश्वीकरण के विभिन्न पक्षों का विवेचन–विश्लेषण करते हुये इसका नगरीय वर्ग एवं ग्रामीण वर्ग की गढ़वाल की महिलाओं पर पड़ने वाले प्रभाव को गहराई से जाँचने–परखने का विनम्र प्रयास किया गया है, जिससे कि इसकी यथार्थ अभिव्यक्ति हो सके।

गढ़वाल हिमालय पश्चिमी हिमालय का क्षेत्र है। सम्पूर्ण गढ़वाल हिमालय 32449 वर्ग किमी0 क्षेत्र में फैला है जो सम्पूर्ण उत्तराखंड राज्य के कुल क्षेत्रफल का आधे से अधिक ही है। इसका भौगोलिक विस्तार 29039'9'' से 31026'5'' उत्तरी अक्षांशों तथा 77035'5'' से 8006'' पूर्वी देशान्तरों के मध्य स्थित है।[4] गढ़वाल का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

*शोध छात्रा, मानव विज्ञान विभाग, हेमवती नन्दन बहुगुणा, गढ़वाल विश्वविद्यालय, गढ़वाल, उत्तराखण्ड।

x<oky fgeky; dk lf{kIr ifjp;

क्रम सं0	विषय	सन्दर्भ वर्ष 2011	गढ़वाल मंडल
1	क्षेत्र (वर्ग किमी0)	"	32449
2	जिलों की संख्या	"	7
3	कुल जनसंख्या (व्यक्ति की) (1) पुरुष (2) महिला	" " "	5886182 3015314 2870868
4	जनसंख्या घनत्व	"	181 प्रति वर्ग किमी0
5	प्रति हजार पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या	"	1009
6	साक्षरता (कुल व्यक्ति) (1) पुरुष (2) महिला	" " "	79.87 प्रतिशत 90.58 प्रतिशत 69.57 प्रतिशत

Hkkjrh; tux.kuk fjikVZ ¼mRrjk[k.M 2011½

गढ़वाल हिमालय की महिलायें – गढ़वाल में आज भी स्त्री शक्ति, जननी आदि स्वरूपों में मान्य एवं दिव्य तथ्य पूज्य है। गढ़वाल में नारी के प्रति दृष्टिकोण का स्वरूप पारम्परिक एवं पौराणिक रहा है। किन्तु गढ़वाल में परम्पराओं, जन–जातियों के नियम तथा यहाँ की भौगोलिक स्थिति के आधार पर संपूर्ण गढ़वाल की नारी को एक रूप से मूल्यांकित नहीं किया जा सकता है।[5] गढ़वाल हिमालय की नारी का संपूर्ण जीवन सदैव भावना तथा काम का रहा है। गरीबी में जन्म, काम के थपेड़ों के बीच जिंदगी की शुरूआत, माँग, भूख और उस पर सेठ–साहूकारों की यंत्रणा एवं न जाने कितनी समस्यायें जो जिंदगी को जिन्दगी न रहने देतीं।[6] वर्तमान काल में गढ़वाली नारी गढ़वाल की अर्थव्यवस्था की रीढ़ बनी हुई है। आर्थिक संकट के कारण पुरुष वर्ग के पलायन करने से जो पारिवारिक एवं सामाजिक समस्यायें उत्पन्न हुईं उनकी एकमात्र भोगी बनी नारी, जिसकी पीठ पर अर्थव्यवस्था का टिकाव होना प्रारंभ हो गया था। उल्लेखनीय है कि आज भी प्राकृतिक प्रकोपों अथवा अन्य समस्याओं की एकमात्र ''निवारणकत्री'' गढ़वाली नारी ही है जो पुरुष वर्ग की अनुपस्थिति में स्त्री एवं पुरुष दोनों के उत्तरदायित्वों का वहन करती है। विपरीत परिस्थितियों में भी उसके अदम्य साहस, परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता तथा पति के प्रति एकनिष्ठ प्रेम, सामाजिक दायित्वों के अतिरिक्त उसके उज्ज्वल चरित्र को भी प्रतिपादित करते हैं। पुरुष पलायन तथा समस्याओं का आक्रमण दोनों ही स्थितियाँ नारी के मानसिक आन्दोलन के लिये पर्याप्त है।[7]

प्रागैतिहासिक युग से लेकर आज तक के वैश्वीकृत सन्दर्भ में नारी, विकास तथा बदलाव के ही सोपानों को पार करती हुई प्रगति के चरम शिखर तक पहुँच गई है। इस यात्रा में नारी के परिवर्तित व्यक्तित्व ने गढ़वाली नारी की मानसिकता के किन–किन कोणों को छुआ है, यह विचारणीय लक्ष्य है। इस दृष्टिकोण से गढ़वाल में हुये सामाजिक परिवर्तन को कुछ चुनिन्दा पहलू में विभक्त किया जा सकता है–

सामाजिक लोकचेतना में परिवर्तन– पिछले कुछ दशकों में गढ़वाली नारी की सामाजिक स्थिति में वास्तविक सुधार आया है। इन दशकों में हम गढ़वाली नारी के राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय पाते हैं। इस संदर्भ में चिपको आन्दोलन के प्रमुख प्रर्वतक श्री सुन्दरलाल बहुगुणा का विशेष महत्वपूर्ण है। उल्लेखनीय है कि 'चिपको आन्दोलन' में स्त्रियों द्वारा सक्रिय भाग लिया जाना ही प्रकृति के प्रति नवीन जीवन दृष्टि तथा आत्मीयता अपनाना है, जो प्राकृतिक उद्दीपन एवं उपमानों से परे है। श्री सुन्दरलाल बहुगुणा तथा श्रीमती विमला बहुगुणा ने चिपको आन्दोलन द्वारा स्थानीय नारी को

आत्मविश्वास तथा अस्तित्व बोध प्रदान किया है। आज भी चिपको आन्दोलन में प्रमुख भूमिका गढ़वाली नारी की है जो वृक्ष पर नहीं अपितु स्वयं पर कुल्हाड़ी का वार सहन करने को तत्पर है। यह दृष्टिकोण गढ़वाल के आर्थिक पक्ष को भी सुदृढ़ बनाता है। इस संबंध में श्रीमती हेमादेवी का उल्लेख करना आवश्यक होगा जिन्होंने अपना संपूर्ण जीवन मद्यनिषेध आन्दोलनों को समर्पित कर दिया है। मद्यनिषेध के समर्थन में टिहरी में हुआ व्यापक महिला–आन्दोलन इनके प्रयासों का फल है। इनके अतिरिक्त भी कितनी ही समाज सेविकायें और हैं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज कल्याण को समर्पित कर दिया है।

iguko e ifjorlu d vk/kkj ij fo'y"k.k& मनोरंजन की तरह ही गढ़वाल में वैश्वीकरण ने गढ़वाली महिलाओं की रूचि को भी बदला है। सामान्यतः यहाँ की महिलाओं में परम्परागत गढ़वाल की पोषाक के प्रति दिलचस्पी कम होती जा रही है। उनका रुझान भी पाश्चात्य शैली के पहनावे की ओर तेजी से उन्मुख हो रहा है।[8]

rkfydk& 1

iguko e ifjorlu d vk/kkj ij oxhdj.k

iguko e ifjorlu	xkeh.k		uxjh;		dqy	
	l[;k	ifr'kr	l[;k	ifr'kr	l[;k	ifr'kr
हाँ	150	100	150	100	300	100
नहीं	0	0	0	0	0	0
योग	150	100	150	100	300	100

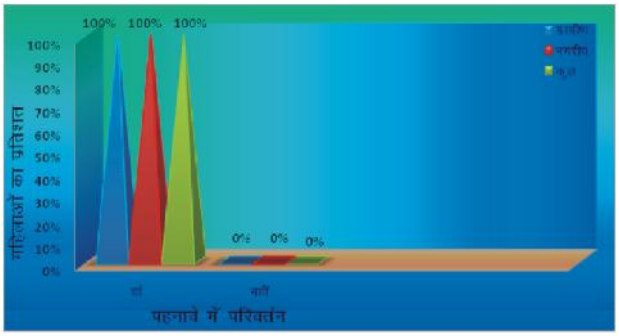

उपर्युक्त सारणी को देखने से स्पष्ट होता है, कि वे महिलायें जो यह मानती हैं कि समय के साथ पहनावे में भी परिवर्तन आया है, कुल 300 (100 प्रतिशत) महिलाओं में 150 (100 प्रतिशत) ग्रामीण एवं 150 (100 प्रतिशत) नगरीय महिलायें हैं। वहीं इस प्रश्न पर नकारात्मक प्रतिक्रिया देने वाली महिलाओं की संख्या शून्य है। शोधार्थी ने अपने अध्ययन में पाया कि महिलाओं में आश्चर्यजनक रूप से अपने परम्परागत पहनावे से मोहभंग हो रहा है। सूट, जींस, शर्ट–पैंट उनकी खास पसंद बनते जा रहे हैं तथा ये सारी चीजें किसी ग्लोबल ब्रांड से जुड़ी होने के कारण स्टेटस सिंबल का विषय बन जाती हैं। उदाहरण के लिये एडीडास, रीबॉक जर्मनी, लेविस आदि उत्पाद हैं। इन उत्पादों का उपयोग स्टेटस सिंबल के साथ इस ग्लोबल बाजार में सक्रिय हिस्सेदारी के सुख का अहसास भी कराता है जो इन महिलाओं के रूचि में बदलाव का एक प्रमुख कारण है।[9]

पति/परिवार से सहयोग के आधार पर– महिलायें आज विभिन्न क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति दर्ज करवा रही हैं। वे अपनी इस सफलता के लिये यह स्वीकार करती हैं कि विभिन्न क्षेत्रों में उनके पति/परिवार के सहयोग से आगे बढ़ रही हैं। महिलाओं के प्रति पुरुषों और उनके परिवार में आ रहा यह परिवर्तन निश्चित रूप से भूमण्डलीकरण की देन कही जा सकती है।[10] गढ़वाल की

महिलाओं की सफलता में उनके पति/परिवार से किन क्षेत्रों में सहयोग मिलता है का विवरण निम्नलिखित तालिका में है–

rkfydk&2

ifr@ifjokj ls lg;kx ds vk/kkj ij fo'y"k.k

ifr@ifjokj dk lg;kx	xkeh.k		uxjh;		dqy	
	la[;k	ifr'kr	la[;k	ifr'kr	la[;k	ifr'kr
घर के कार्यों में	72	48	73	48.66	145	48.33
राजनीतिक क्षेत्र में	16	10.66	17	11.33	33	11
सामाजिक क्षेत्र में	26	17.33	23	15.33	49	16.33
शिक्षा के क्षेत्र में	30	20	35	23.33	65	21.66
किसी क्षेत्र में नहीं	6	4	2	1.33	8	2.66
योग	150	100	150	100	300	100

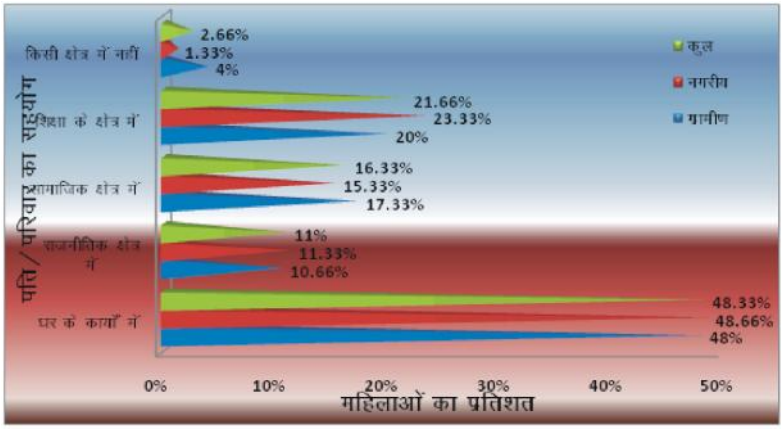

उपर्युक्त सारणी को देखने से स्पष्ट होता है कि घर के कार्यों में पति/परिवार का सहयोग पाने वाली कुल 145 (48.33 प्रतिशत) महिलाओं में 72 (48 प्रतिशत) ग्रामीण एवं 73 (48.33 प्रतिशत) नगरीय महिलायें हैं। राजनीतिक क्षेत्र में सहयोग पाने वाली कुल 33 (11 प्रतिशत) महिलाओं में 16 (10.66 प्रतिशत) ग्रामीण एवं 17 (11.33 प्रतिशत) नगरीय महिलायें हैं। सामाजिक क्षेत्र में पति/परिवार का सहयोग पाने वाली कुल 49 (16.33 प्रतिशत) महिलाओं में 26 (17.33 प्रतिशत) ग्रामीण एवं 23 (15.33 प्रतिशत) नगरीय महिलायें हैं। शिक्षा के क्षेत्र में सहयोग पाने वाली कुल 65 (21.66 प्रतिशत) महिलाओं में 30 (20 प्रतिशत) ग्रामीण एवं 35 (23.33 प्रतिशत) नगरीय महिलायें हैं। किसी भी क्षेत्र में पति/परिवार का सहयोग न पाने वाली कुल 8 (2.66 प्रतिशत) महिलाओं में 6 (4 प्रतिशत) ग्रामीण तथा 2 (1.33 प्रतिशत) नगरीय महिलायें हैं। अध्ययन में पाया गया है कि महिलाओं को अपने पति/परिवार का सबसे अधिक सहयोग घर के कार्यों में तथा शिक्षा में मिलता है। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में इनका सहयोग पाने वाली महिलाओं की संख्या ग्रामीण एवं नगरीय दोनों ही क्षेत्रों में लगभग समान है। शोधार्थी ने अपने अध्ययन में पाया कि वैश्वीकरण के कारण होने वाले बदलाव से न केवल महिलायें बल्कि पुरुष एवं परिवार के सदस्यों की भी सोच में बदलाव आया है, जिसके परिणामस्वरूप महिलायें विभिन्न क्षेत्रों में अपने पति/परिवार से सहयोग प्राप्त कर रही हैं।

पारिवारिक समस्याओं में महिलाओं के परामर्श के आधार पर– स्त्री और पुरुष एक गाड़ी के दो पहिये के समान हैं। अतः इसे चलाने के लिये दोनों में परस्पर सामंजस्य रहना अत्यन्त आवश्यक होता है, विशेष रूप से पारिवारिक मामलों में। गढ़वाल का समाज पुरुष प्रधान समाज है। यद्यपि वैश्वीकरण

की प्रक्रिया गढ़वाल हिमालय की नारी की स्थिति में बहुत परिवर्तन लाई है, किन्तु क्या गढ़वाल में पारिवारिक समस्याओं में महिलाओं का परामर्श लिया जाता है? इसे ज्ञात करने के लिये शोधार्थी ने प्रयास किया है, जिसका विवरण निम्नलिखित तालिका में है–

rkfydk& 37

ifjokj e efgykvk d ijke'k d vk/kkj ij oxhdj.k

ifjokj e efgykvk dk ijke'k	xkeh.k		uxjh;		dy	
	l[;k	ifr'kr	l[;k	ifr'kr	l[;k	ifr'kr
हाँ	124	82.66	145	96.66	269	89.66
नहीं	26	17.33	5	3.33	31	10.33
योग	150	100	150	100	300	100

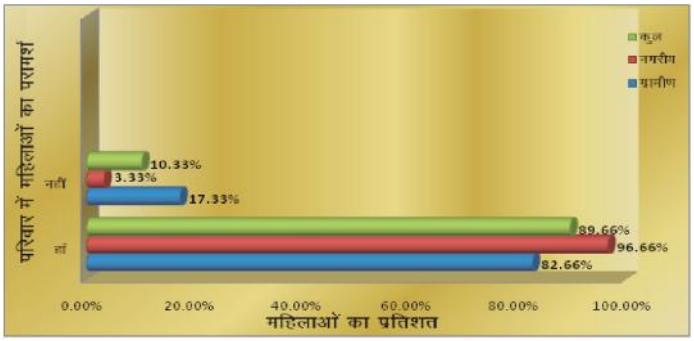

उपर्युक्त सारणी को देखने से स्पष्ट होता है कि गढ़वाल में पारिवारिक मामलों में परामर्श देने वाली कुल 269 (89.66 प्रतिशत) महिलाओं में 124 (82.66 प्रतिशत) महिलायें ग्रामीण एवं 145 (96.66 प्रतिशत) महिलायें नगरीय हैं, जो इस बात को स्वीकार करती हैं कि पारिवारिक मामलों में उनका परामर्श लिया जाता है। वहीं कुल 31 (10.33 प्रतिशत) महिलाओं में 26 (17.33 प्रतिशत) ग्रामीण एवं (3.33 प्रतिशत) नगरीय महिलायें यह स्वीकारती हैं कि उनके पारिवारिक मामलों में उनका परामर्श नहीं लिया जाता है। अध्ययन में पाया गया है कि ग्रामीण महिलाओं की अपेक्षा अधिक नगरीय महिलायें यह स्वीकारती हैं कि उनके परिवार में उनका परामर्श लिया जाता है।

fu"d"k& गढ़वाल में सामाजिक परिवर्तन का मुख्य आधार संचार के साधन ही हैं। चाहे वह परम्परागत संचार साधन हों या आधुनिक संचार साधन। दूसरे शब्दों में आधुनिक चेतना का मार्ग हरिद्वार तथा कोटद्वार से ही खुला। शिक्षा के प्रसार, डाक–तार सेवायें आदि समाज में चेतना लाने का माध्यम बनी पहनावे में परिवर्तन के आधार पर गढ़वाल की महिलाओं का विवरण प्राप्त किया गया है। 100 प्रतिशत ग्रामीण एवं 100 प्रतिशत नगरीय महिलायें समान रूप से इस बात को स्वीकारोक्ति प्रदान करती हैं कि इनके परम्परागत पहनावे में परिवर्तन हुआ है। वैश्वीकृत समाज का प्रभाव पड़ने के अलावा ग्लोबल मार्केट में सक्रिय भागीदारी और वातावरणीय परिवर्तनों की इसमें मुख्य भूमिका है।

पति/परिवार के सहयोग के आधार पर गढ़वाल की महिलाओं से उनके पति/परिवार द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में उनका सहयोग करने संबंधी विचार को जानने का प्रयास किया गया है जिसमें अधिकांश 48 प्रतिशत ग्रामीण एवं 48.66 प्रतिशत नगरीय महिलाओं को समान रूप से उनके पति/परिवार द्वारा घर के कार्यों में सहयोग मिलता है। जबकि 1.33 प्रतिशत नगरीय महिलाओं की अपेक्षा 4 प्रतिशत ग्रामीण महिलायें अपने पति/परिवार से किसी भी क्षेत्र में सहयोग नहीं पाती हैं।

गढ़वाल की महिलाओं से पारिवारिक समस्याओं में परामर्श के आधार पर प्राप्त विवरण में 96.66 प्रतिशत नगरीय महिलाओं की अपेक्षा 82.66 प्रतिशत ग्रामीण महिलायें यह मानती हैं कि पारिवारिक समस्याओं में उनका परामर्श लिया जाता है। जबकि 3.33 प्रतिशत नगरीय महिलाओं की अपेक्षा 17.33 प्रतिशत ग्रामीण महिलायें यह स्वीकार करती हैं कि पारिवारिक समस्याओं में उनका परामर्श नहीं लिया जाता है। अपने शोध अध्ययन में पाया गया है कि इस समाज में पितृमूलक व्यवस्था के कारण पिता या वरिष्ठतम पुरुष ही परिवार का मुखिया होता है। पारिवारिक मामले में परामर्श न देने वाली ग्रामीण एवं नगरीय महिलाओं में अधिकतर वे महिलायें हैं जो अभी 20 वर्ष से कम हैं, जिसके कारण उन्हें अनुभवहीन समझा जाता है या अशिक्षित अथवा निम्न जाति की हों। नारी के परिवर्तित व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण के सन्दर्भ में किये गये विवेचन के निष्कर्ष में एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस अध्ययन में नारी के सांस्कृतिक स्वरूप की क्या स्थिति है? उल्लेखनीय है कि नारी ने केवल वही परिवर्तन स्वीकार किये जिनका उसकी मानसिकता के साथ मेल हुआ। गढ़वाली नारी ने आयातित तत्वों को केवल बाह्य रूप से ग्रहण किया, यथा वेशभूषा में परिवर्तन। इसलिये यदि गढ़वाली नारी आधुनिका है तो केवल उस सीमा तक, जहाँ उसकी मानसिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि उसे अतिआधुनिक होने से रोकती है। गढ़वाल में शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हो रहा है किन्तु यहाँ की नारी समय पड़ने पर कृषिकर्म उसकी परम्परा है। वह उत्तराधिकार के रूप में उससे जुड़ा है।

lUnHkZ lwph ¼

1. उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्– हितोपदेश,1
2. ऋग्वेद, 9/63–5–6
3. सिंह, डॉ0 शैलेन्द्र प्रताप, वैश्वीकरण और भारतीय अर्थव्यवस्था, प्रकाशन– शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, संस्करण 2012, पृ0–96
4. राजेश कुमार जैन, पर्यटन वरदान या अभिशाप– गढ़वाल हिमालय के विशेष सन्दर्भ में एक मानवशास्त्रीय अध्ययन, अप्रकाशित प्रबन्ध, 2011, पृ. 32
5. नौटियाल, डॉ0 कुसुम, गढ़वाली नारी : एक लोकगीतात्मक पहचान, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982, पृ0– 17–18
6. नौटियाल, डॉ0 कुसुम, गढ़वाली नारी : एक लोकगीतात्मक पहचान, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982, पृ0– भूमिका
7. वही , पृ0– 39–41
8. सिंह, अमित कुमार, भूमण्डलीकरण और भारत : परिदृश्य और विकल्प, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ0– 93
9. वहीं, पृ0– 105
10. वहीं, पृ0– 113

***

x¨nku e: xkE; thou

';ke uUnu *

भारत का गाँवों और खेती–किसानी से अटूट सम्बन्ध है। कहा तो यह भी जाता है कि असली भारत गाँवों में ही बसता है। आज भी भारत की 70 प्रतिशत आबादी गाँवों में ही रहती है, जिसका मुख्य व्यवसाय और आजीविका का साधन कृषि कर्म ही है। यह स्थिति वर्षों से परम्परा के रूप में चली आ रही है। भारत के गाँवों में रहने वालों का अपना ही एक समाज है, उसकी अपनी ही जीवन–शैली है, अपनी ही संस्कृति है। अपनी आस्थाएं, अपनी मान्यताएं, अपने मूल्य और अपने ही सिद्धांत हैं।

प्रेमचन्द ने गोदान के कथानक की आधार–भूमि, अवध अंचल के एक गाँव बेलारी को बनाया है। प्रेमचन्द ने बेलारी को, भारतीय गाँवों के प्रतिनिधि गाँव के रूप में प्रस्तुत किया है। बेलारी में ऐसा कुछ भी नहीं है जो भारतीय गाँवों में अलग हो। आशय यह है कि जो कुछ बेलारी में है या होता है, वह सब सामान्तय भारत के सभी गाँवों में होता है। गोदान का 'बेलारी' एक ऐसा गाँव है, जो भारतीय गाँवों की जीवन पद्धति, संस्कृति का प्रस्तुतीकरण बेहद विश्वसनीय ढंग से करता है। प्रेमचन्द का जन्म स्वयं एक गाँव में हुआ था, इसलिए वह गाँव के जीवन से पूर्णतया परिचित थे, बल्कि ग्राम्य–जीवन उनमें रचा–बसा था।

प्रेमचन्द ने ग्राम्य जीवन का चित्रण बेहद विश्वसनीय एवं सजीव ढंग से किया है। 'गोदान' में बेलारी के बहाने प्रेमचंद ने भारतीय गाँवों का बाह्य परिवेश, ग्राम–वासियों की आर्थिक–सामाजिक स्थिति, उनकी मान्यताओं, परम्पराओं, रूढ़ियों और समस्याओं को यथार्थ रूप में चित्रित किया है।

होरी और गोबर जब भोला के घर पहुँचते हैं, तो प्रेमचन्द, गाँव के अहीर के घर का चित्रण करते हुए लिखते हैं–''घर पर बड़ी सी चरनी थी, जिस पर दस–बारह गाय–भैंसें खड़ी सानी खा रही थीं। ओसारे में एक बड़ा सा तख्त पड़ा था, जो शायद दस आदमियों से भी न उठता। किसी खूँटी पर ढोलक लटक रही थी, किसी पर मजीरा। एक ताख पर कोई पुस्तक बस्ते में बँधी रखी हुई थी, जो शायद रामायण हो। दोनों बहुएं सामने बैठी गोबर पाथ रही थी....।''[1] गाँव के अहीरों की पहली पहचान उनके घर बँधी गाय–भैसें हुआ करती थीं, जिसे आज हम 'डेयरी' कहते हैं, वह प्रायः ग्वालों (अहीरों) के घर हुआ करती थी, जिनकी आजीविका ही दूध–दही घी से चलती थी।

लखनऊ जाते समय गोबर, एक व्यक्ति जिसका नाम कोदई है, के साथ रात्रि–विश्राम के लिए उसके घर जाता है। जब वह उसके गाँव के बाहर पहुँचा ही होता है, तब बाहर से उसका गाँव कैसा दिखता है? इस पर प्रेमचन्द लिखते हैं– गाँव क्या था; पुरवा था, दस–बारह घरों का, जिसमें आधे खपरैल के थे, आधे फूस के।''[2] गाँवों में कई घरों से मिलकर पुरवा बनता था और कई पुरवों से एक गाँव। 'पुरवों' की यह परम्परा आज भी हमारे गाँवों में चली आ रही है। यद्यपि जनसंख्या वृद्धि और बड़ी संख्या में नए घरों के निर्माण ने दो पुरवों के बीच की दूरी को काफी हद तक कम भी कर दिया है, फिर भी आज भी हमारे गाँवों में 'पुरवा' जीवित है।

एक अन्य प्रसंग में प्रेमचन्द, गाँव के खलिहान का वर्णन करते हैं– ''सारे गाँव का यही एक खलिहान था। कहीं मड़ाई हो रही थी, कोई अनाज ओसा रहा था, कोई गल्ला तौल रहा था। नाई, बारी, बढ़ई, लोहार, पुरोहित, भाँट, भिखारी सभी अपने–अपने जेवरे लेने के लिए जमा हो गए थे। एक

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

पेड़ के नीचे झिंगुरी सिंह खाट पर बैठे अपनी सवाई उगाह रहे थे। कई बनिए खड़े गल्ले का भाव–ताव कर रहे थे। सारे खलिहान में मण्डी की सी रौनक थी। एक खटकिन बेर और मकोय बेंच रही थी और एक खोमचे वाला तेल के सेव और जलेबियाँ लिए फिर रहा था।''[3] प्रेमचन्द ने गोदान में तत्कालीन ग्राम जीवन की इन स्थितियों को जैसा उकेरा, जैसा वर्णन किया, वह बहुत विश्वसनीय एवं सजीव बन पड़ा है। ''तत्कालीन ग्रामीण जीवन के यथार्थ को रूपायित करने के लिए प्रेमचन्द ने उसके परिवेश को हू–ब–हू प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। किसानों के घर–द्वार, खेत–खलिहान और गाँव के प्राकृतिक दृश्यों का इतना यथार्थ और जीवन्त वर्णन शायद ही कहीं और मिले।''[4]

प्रेमचन्द ने गाँव के प्राकृतिक दृश्यों का बहुत ही सजीव एवं मनोहारी चित्रांकन किया है। ये सभी चित्रण बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। उपन्यास के आरम्भ में जब होरी, जमींदार के घर जाने के लिए निकलता है, उस समय सुबह का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं–''जेठ का सूर्य, आमों के झुरमुट से निकलकर आकाश पर छाई हुई लालिमा, अपने रजत प्रताप से तेज प्रदान करता हुआ ऊपर चढ़ रहा था और हवा में गर्मी आने लगी थी।''[5] होरी जब जमींदार के घर से लौट रहा था, उस समय सूर्य सिर पर चढ़ रहा था। उस समय का प्रेमचन्द ने प्रकृति का मानवीकरण करते हुए बहुत सुन्दर चित्रांकन किया है– ''सूर्य सिर पर आ गया था। उसके तेज से अभिभूत होकर वृक्षों ने अपना पसार समेट लिया था। आकाश पर गर्द छायी हुई थी और सामने की पृथ्वी काँपती हुई जान पड़ती थी।''[6] ढ़लती दोपहर के विषय में प्रेमचन्द लिखते हैं– ''लू चल रही थी, बगूले उठ रहे थे, भूतल धधक रहा था। जैसे प्रकृति ने वायु में आग डाल दी हो।''[7] प्रेमचन्द ने गोदान में प्रकृति को ऋतुओं और मौसम के साथ जोड़कर भी चित्रित किया है। माघ महीने की एक रात की बारिश का चित्रांकन करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं–''माघ के दिन थे। मघावट लगी हुई थी। घटाटोप अंधेरा छाया हुआ था। एक तो जाड़ों की रात, दूसरे माघ की वर्षा, मौत का सा सन्नाटा छाया हुआ था।''[8] इसी प्रकार, प्रेमचन्द ने नदी के किनारे फैली रेत को बैठने के लिए बालू का फर्श, बारिश में गिरे ओलों को 'सफेद बिनौले', कार्तिक की चाँदनी को प्रकृति पर छाया 'संगीत' कहकर प्रकृति के विभिन्न रूपों को ग्रामीण परिवेश में चित्रित किया है।

फाल्गुन माह के विषय में प्रेमचन्द लिखते हैं– ''फाल्गुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़, दोनों हाथों से बौर के सुगन्ध बाँट रहे थे और कोयल, आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।''[9] इसी प्रकार प्रेमचन्द ने गोदान में गँवई परिवेश से सम्बद्ध अन्य प्राकृतिक दृश्यों का चित्रांकन तथा ऋतुओं सहित सूर्य, चन्द्रमा, वृक्ष आदि का भी मानवीकरण करते हुए बहुत ही सजीव चित्रण किया है।

गोदान के पात्रों के नामकरण, उनकी अपनी सामाजिक–आर्थिक स्थिति के अनुरूप है। ग्रामीण परिवेश से सम्बन्धित पात्रों के नाम– होरी, धनिया, गोबर, हीरा, शोभा, पुनिया, सिलिया, हरखू, मतई (मातादीन) झिंगुरी, नोखेराम, गिरधर, दुलारी, झुनिया, जंगी, कलिया, नोहरी, रामू आदि हैं। ये सभी नाम प्रायः ग्रामीण झलक देते हैं और सुनने में गँवई भी लगते हैं। ऐसे नाम आज भी हमें अपने गाँवों में सुनने को सहज ही मिल जाते हैं।

गोदान के पात्रों की वेश–भूषा की गँवई–जीवन की झलक देती है। जमींदार के घर जाने के लिए होरी को तैयार होते समय धनिया लाठी, मिरजई, जूते, पगड़ी और तमाखू का बटुआ देती है। ये सभी मिलकर 'पाँचों पोशाक कहे जाते थे और तत्कालीन ग्रामीण–जीवन में किसान की श्रेष्ठतम पोशाक में शामिल थे। होरी की बेटियों की वेश–भूषा, ठेठ गँवई परिवार से होने का संकेत देती है– ''गाढ़े की लाल साड़ी, जिसे वह घुटनों से मोड़कर, कमर से बाँधे हुए थी। उसके हल्के शरीर पर कुछ लदी सी थी और उसे प्रौढ़ता की गरिमा दे रही थी। छोटी रूपा पाँच–छः साल की छोकरी थी, मैली, सिर पर बालों का एक घोंसला सा बना हुआ; एक लंगोटी कमर में बाँधे हुए, बहुत ही ढीठ और रोनी।''[10] इसी प्रकार होरी, हरखू, नोखेराम, दातादीन, झिंगुरी सिंह, सिलिया आदि पात्रों का रहन–सहन व पहनावा–ओढ़ावा, ग्राम्य–जीवन की झलक देता है।

प्रेमचन्द ने गोदान में किसानों की आर्थिक दुरावस्था का बेहद प्रमाणिक चित्रण किया है। किसान इतने विपन्न हैं कि उनको न तो भरपेट भोजन मिलता है और न ही पूरा तन ढँकने भर को समूचा कपड़ा।

प्रेमचन्द के अनुसार, किसान इतना विपन्न इसलिए है कि वह महाजन, जमींदार, मिट्टी निकलनी हो या मड़ैया डालनी हो, उसे जमींदार के कारिन्दे को चढ़ावा चढ़ाना पड़ता है। जमींदार साहब केवल लगान ही नहीं लेते, समय–समय पर अपने घर होने वाले आयोजनों में इलाके के असामियों से 'शगुन' भी लेते हैं। पुलिस भी कम शोषक नहीं है। जाँच–पड़ताल के नाम पर अवैध उगाही उनका अधिकार है और अव्वल तो ये कि गाँव के 'विधाता' पंच और पटवारी सब के सब मिले हुए हैं। किसानों का गला दबाकर की गयी वसूली में उनका भी हिस्सा होता है। होरी की गाय मरने पर तहकीकात करने के लिए जब दरोगा, गाँव आते हैं, तो कमीशनखोरों को, कुछ कमाने का एक मौका मिल जाता है। लाला पटेश्वरी, दरोगा से कहते हैं–''जब ऐसा ही कोई अवसर आ जाता है, तो आपकी बदौलत हम भी कुछ पा जाते हैं।''[11]

किसानों की विपन्नता का सबसे बड़ा कारण है–''सूदखोर महाजन। मनचाही दरों पर, किसानों को ब्याज देकर उनका शोषण करना ही इनका काम है। मँगरू शाह ने घेरी को 50 रूपए उधार दिए थे जो दस सालों में बढ़कर तीन सौ हो गए। गाँव का ही एक अन्य किसान गिरधर भी महाजनी से त्रस्त है और वह भी कहता है– बीस लिए, उसके एक सौ साठ भरे, हद है।''[12] केवल किसान ही नहीं, गाँव के अन्य वर्ग के लोग भी महाजन से परेशान हैं। अहीरों का मुखिया होरी से कहता है, ''सोचा था, महाजन से कुछ लेकर भूसा ले लेंगे; लेकिन महाजन का पहला ही नहीं चुका। उसने इनकार कर दिया।''[13] किसानों को लगता भी नहीं है कि अपने जीवन में कभी महाजन के चंगुल से आजाद हो पाएंगे। शोभा ने होरी से पूछा– ''न जाने इन महाजनों से गला छूटेगा कि नहीं।'' होरी बोला– ''इस जन्म में तो कोई आशा नहीं है भाई।''[14]

निरीह किसानों का हर कोई शोषण करता है। जमींदार, पटवारी, पुलिस वाले, तहसीलदार, डिप्टी कलेक्टर, महाजन, पुरोहित सबके सब इन गरीब किसानों का खून चूसते रहते हैं। गोदान का ही एक पात्र, गाँव के गरीब किसानों के शोषण के बारे में कहता है– पटवारी को नजराना और दस्तूरी न दें तो गाँव में रहना मुश्किल। जमींदार के कारिन्दे और चपरासी दामाद हैं। जब इनका दौरा गाँवों में हो जाए, तो उनका धरम है वह उनका आदर–सत्कार करें, नजर–नयाद दें, नहीं एक रपोट में गाँव का गाँव बँध जाए।''[15]

ग्रामीणों की अपनी कुछ मान्यताएँ, आस्थाएं, परम्पराएं होती हैं, जिनका वह, हर हाल में निर्वाह करते हैं, नुकसान भले ही चाहे जितना हो जाए। वह उधार ले सकता है, जीवन भर कमाकर महाजन का पेट और घर भर सकता है, बेटी 'बेच' सकता है, लेकिन 'मरजाद' बचाए रखना चाहता है। बिरादरी से हुक्का–पानी न बन्द होने पाए, इसके लिए घर का एक–एक दाना अनाज 'डाँड़' दे सकता है, भले ही उसके बीवी–बच्चे भूखे मर जाएं। बिरादरी से बाहर नहीं होना चाहता, भले ही उसे अपना घर 'गिरवी' रखना पड़े। उनकी आस्थाएँ, उनका अंधविश्वास भी उनकी दुर्दशा का महत्वपूर्ण कारण है। धर्म और ब्राह्मण का भय, ईश्वर द्वारा छोटा बनाए जाने का विचार, बिरादरी में बने रहने का मोह, दहेज, स्वार्थपरायणता, परिवारों का विघटन, परस्पर द्वेष आदि कई ऐसे कारण हैं, जो गाँव की प्रगति और ग्रामीणों का विकास नहीं होने देते और ये सभी अवगुण गोदान में विभिन्न प्रसंगों, घटनाओं के अवसर पर दिखाई पड़ते हैं।

घर पर अतिथि आने पर उसका सत्कार करना, ग्रामीण समाज का रिवाज है। अपना जीवन भले ही अभावों में कट रहा हो लेकिन यदि दरवाजे पर अतिथि आ जाए तो उसकी खातिरदारी की जाती है। गोदान में ग्रामीण समाज में प्रचलन है, कि यदि कोई अतिथि आए तो उसको रस–पानी देना चाहिए। उसे चिलम–तमाखू देना चाहिए। गोदान में इस परम्परा का पालन होता हुआ दिखता है।

ग्राम्य–संस्कृति में आपसी भाईचारे, पतिव्रत, अपने से श्रेष्ठ जनों के अभिवादन, अतिथि सत्कार, आदि कई बातों का विशेष महत्व है, जो गोदान में कई स्थलों पर सामने आता है। ''इस विवेचन से स्पष्ट है कि गोदान में ग्रामीण जीवन और कृषक–संस्कृति का प्रतिनिधिक और सर्वथा विश्वसनीय चित्रण हुआ है। गोदान, ग्रामीण समाज की भाग्य–गाथा प्रस्तुत करने वाला अद्वितीय उपन्यास है।''[16]

lUnÒl %

1. गोदान–प्रेमचन्द, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2011, पृ0 16
2. वहीं, पृ0 109
3. वहीं, पृ0 196
4. गोदान : नया परिप्रेक्ष्य–गोपाल राय, अनुपम प्रकाशन, पटना, संस्करण 2011, पृ0 28
5. गोदान–प्रेमचन्द, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2011, पृ0 02
6. वहीं, पृ0 9
7. वहीं, पृ0 10
8. वहीं, पृ0 92
9. वहीं, पृ0 162
10. वहीं, पृ0 10
11. वहीं, पृ0 188
12. वहीं, पृ0 147
13. वहीं, पृ0 05
14. वहीं, पृ0 145
15. वहीं, पृ0 283
16. गोदान : नया परिप्रेक्ष्य–गोपाल राय, अनुपम प्रकाशन, पटना, संस्करण 2011, पृ0 16

***

jk"Vªh; tkxj.k vkj x.ks'k 'kadj fo|kFkhZ dh i=dkfjrk

vfHk"ksd mik/;k;*

अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी हमारे देश के उन नेताओं, पत्रकारों में अग्रणी स्थान रखते हैं, जिन्होंने राष्ट्रीय संग्राम में बढ़–चढ़कर भाग लेने के साथ– साथ यहाँ की तरुण पीढ़ी को जीवन, जागृति और बलिदान का पावन सन्देश दिया। उत्कृष्ट पत्रकार, ओजस्वी वक्ता, निर्भीक सेनानी और महज देश–सेवक के रूप में वे हमारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता के इतिहास में ऐसे ज्वलन्त प्रकाश–स्तम्भ हैं, जिनसे हम युगों–युगों तक प्रेरणा ग्रहण करते रहेंगे। श्री विद्यार्थी जी का जन्म प्रयाग के अतरसुइया नामक मुहल्ले में 25 अक्टूबर 1890 को हुआ था। उनके पिता मुन्शी जयनारायण पुनारी ग्वालियर के मिडिल स्कूल में अध्यापन कार्य करते थे। विद्यार्थी जी की प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू में हुई थी। 1907 में उन्होंने मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की।[1]

2 नवम्बर 1911 से 'सरस्वती' में सहायक सम्पादक के रूप में कार्यारम्भ कर गणेश शंकर विद्यार्थी का पत्रकार जीवन में प्रवेश हुआ लेकिन 'सरस्वती' का विशुद्ध साहित्यिक रुझान और विद्यार्थी जी की राजनीतिक अभिरुचि में ताल–मेल नहीं बैठ सका। दिसम्बर 1912 में वे 'अभ्युदय' में चले गये जहाँ 23 सितम्बर 1913 तक कार्यरत रहे।[2] अत्यधिक परिश्रम करने के कारण वे बीमार पड़ गए और स्वास्थ्य लाभ के लिए कानपुर लौट आये। बीमारी से ठीक होने के बाद अपने मित्र पं. शिवनारायण मिश्र के सहयोग से उन्होंने 9 नवम्बर 1913 को कानपुर से ही विधिवत साप्ताहिक 'प्रताप' प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया।[3] विद्यार्थी जी राणा प्रताप को अपनी प्रेरणा का स्रोत मानते थे, इसलिए उन्होंने इसका नामकरण 'प्रताप' किया। नारायण प्रसाद, शिवनारायण मिश्र को भी अपना प्रेरणा स्रोत मानते थे।[4] 'प्रताप' के जन्म पर सबसे पहला आशीर्वाद द्विवेदी जी द्वारा ही दिया गया था। द्विवेदी जी ने अपने आशीर्वाद स्वरूप जो दो पंक्तियां गणेश जी को लिखकर भेजी थी, वे ही उस पत्र का मुख वाणी बनीं–

ftldk u ftu xkjo rFkk fut n'k dk vfHkeku gSA
og uj ugha gS] i'k fujk gS] vkj e'rd leku gSAA[5]

9 नवम्बर 1913 को 'प्रताप' ने अपने प्रवेशांक में अपनी संपादकीय नीति की उद्घोषणा इन शब्दों में की–"आज अपने हृदय में नई–नई आशाओं को धारण करने और अपने उद्देश्यों पर पूर्ण विश्वास रखकर 'प्रताप' कर्म क्षेत्र में आता है। समस्त मानव जाति का कल्याण हमारा परम उद्देश्य है और इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक बहुत बड़ा और बहुत जरूरी साधन हम भारतवर्ष की उन्नति समझते हैं।" वस्तुतः भारतवर्ष की उन्नति भारत की स्वाधीनता में ही निहित थी। यही कारण है कि 'प्रताप' ने भारतीय स्वाधीनता के लिए अपनी लेखनी के माध्यम से जोरदार आवाज उठाई।[6]

विद्यार्थी जी क्रांतिकारी, राष्ट्रीय विचारधारा के पत्रकार थे और देश के लिए कुछ भी करने को तैयार थे। उन्नति से अभिप्राय देश की कृषि, व्यापार, कला, वैभव, मन, बल, सदाचार और सच्चरित्रता की वृद्धि से है। स्वतंत्रता और निष्पक्षता को छोड़ देने की भीरुता दिखावे, वह दिन हमारे जीवन का सबसे अभागा दिन होगा और हम चाहते हैं कि हमारी उस नैतिक मृत्यु के साथ ही हमारे जीवन का भी अन्त हो जाय।[7]

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

विद्यार्थी जी पत्रकारिता के मेरुदण्ड थे। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे आजादी के दीवाने थे। वे आंग्ल सत्ता के फौलादी पंजे का मुकाबला करने के लिए जनता में अलख जगाते रहे, आर्थिक अभावों से जूझते रहे, किन्तु सत्यपथ और संघर्ष से कभी विचलित नहीं हुए। स्वतंत्रता की लड़ाई को संबल देने वाले पत्रकारों का प्रणव मन्त्र था– "ज्वलुक–ज्वलुक विप्लव वह्नि नगरे–नगरे। भस्म होता राक्षसेर स्वर्णलंकापुरी।" इस मन्त्र की सतत् माला जपने वाले विद्यार्थी जी का पत्रकार जीवन राष्ट्रीय जागरण और पुनःनिर्माण के लिए समर्पित था। वे त्यागमयी, संघर्षशील और पत्रकार परम्परा के नियामक थे। वे मूल्यों के सजग प्रहरी थे। देशी राज्यों और विदेशी साम्राज्यशाही विद्यार्थी जी की रौद्र भंगिमा को विभिन्न दुष्चक्रों के बावजूद भी कुंठित न कर सकी। बड़े–से–बड़े प्रलोभन उनकी सत्यनिष्ठा को विचलित नहीं कर सके। वे महात्मा गांधी से प्रभावित थे और उनके स्वदेशी, स्वावलम्बी शिक्षा, हिन्दू–मुसलमान की एकता, दलितों, स्त्रियों के उद्धार के कार्यक्रम आगे बढ़ाते रहे। उनके आचार–विचार में महात्मा गांधी के समान एकरूपता थी। उनका लक्ष्य था जातीय अस्मिता को साम्राज्यवादी शिकंजे से मुक्त कर राष्ट्रीय स्वाभिमान को जगाना और भारतीय संस्कृति और चेतना के अनुरूप स्वस्थ जनमानस का निर्माण करना।

इसी लक्ष्य के अनुरूप विद्यार्थी जी ने अपने पत्र 'प्रताप' के माध्यम से जातीय समस्याओं पर प्रगतिशील दृष्टि में मनन किया और साम्राज्यशाही के घिनौने रूप का बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष, बालमुकुन्द गुप्त और महात्मा गांधी की निर्भीक शैली में कठोर टिप्पणियों के साथ निरूपण किया। विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' में स्पष्ट लिखा था– "साम्प्रदायिक और व्यक्तिगत झगड़ों से 'प्रताप' सदा अलग रहने की कोशिश करेगा। उसका जन्म किसी विशेष सभा, संस्था, व्यक्ति या मत के पालन–पोषण से नहीं हुआ है, किन्तु उसका मत स्वातंत्र्य–विचार और उसका धर्म सत्य होगा। मनुष्य की उन्नति भी सत्य की जीत के साथ बँधी है। इसीलिए सत्य को दबाना हम महापाप समझेंगे और उनके प्रचार और प्रकाशन को महापुण्य।"

विद्यार्थी जी ने भारतीय विश्वास और संस्कृति के नाम पर चलने वाले असंरूप रूढ़ियों, वर्जनाओं, विकृतियों पर, धर्म की आड़ में कार्यरत कठमुल्लापन पर असहिष्णुता और हिंसा की राह पर चलने वाली ताकतों पर, विश्व और देश के संदर्भ में गहन विचारशील टिप्पणियों द्वारा कठिन प्रहार किया। विद्यार्थी जी ने भारतीय पत्रकारिता को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में एक नई दिशा दी।

विद्यार्थी जी सामाजिक सदाचार के पक्षधर थे। वे गाँधीजी की तरह सामाजिक सदाचार के लिए वैयक्तिक जीवन का निष्कलुष होना अनिवार्य मानते थे। एक बार पंडित सुन्दर लाल को विद्यार्थी जी ने लिखा था– "मैं प्रताप को ऐसी मक्खन की गोली कभी नहीं बनाना चाहता, जिसे जो चाहे मुँह में रख ले।" साम्राज्यशाही और सामंतशाही के लिए 'प्रताप' शूल की तरह था और पापाचार पर उँगली उठाना उसकी विशेषता थी। विद्यार्थी जी को आधुनिक खोजी पत्रकारिता का जनक कह सकते हैं। जब खोजी पत्रकारिता का कोई वर्चस्व नहीं था, उस समय विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' के माध्यम से आम आदमी की छोटी–छोटी समस्याओं और राजशाही परदे में छिपे देशी रियासतों के भ्रष्टाचार को उजागर किया। विद्यार्थी जी ने 1930 में भावी पत्रकारिता के प्रति आशंका व्यक्त की थी। उन्होंने लिखा था– "व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अन्तर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिए आफतों को बुलाने की चाह न रहेगी, रह जायेगा केवल खींची हुई लकीर पर चलना।"[8]

गणेश शंकर विद्यार्थी भाषा और भाव, शिल्प और शैली सभी दृष्टियों से हिन्दी के अग्रगण्य संपादक हैं। देश और समाज की जितनी साफ और सुलझी हुई उनकी समझ थी, वह उन्हें अनुपम संपादक सिद्ध करती है। इसीलिए 'प्रताप' राष्ट्रीय आकांक्षाओं और अभिव्यक्ति का प्रवक्ता बन सका। सन् 1920 में 'प्रताप' दैनिक हो गया। 'राष्ट्र की नींव' शीर्षक अग्रलेख में विद्यार्थी जी ने लिखा– "राष्ट्र महलों में नहीं रहता प्रत्युत राष्ट्र के निवास स्थल वे अगणित झोपड़ें हैं जो गाँव और पुरवों में फैले हुए खुले आकाश के दैदीप्यमान सूर्य और शीतल चंद्र और तारागण से प्रकृति का संदेश लेते हैं और इसीलिए राष्ट्र का मंगल और उसकी जड़ मजबूत उस समय तक नहीं हो सकती, जब तक इन अगणित लहलहाते पौधों की जड़ों में जीवन की मजबूती का जल नहीं सींचा जाता? भारतीय राष्ट्र के

निर्माण के लिए उसके गाँवों और पुरवों में जीवन की ज्योति की आवश्यकता है। आवश्यकता है कि हम अपने हाथ–पैर और कान–नाक को भी उस मिठास की कल्पना करने का आमंत्रण दें; जिसकी कल्पना हमारे मन में है। करोड़ों प्राणियों की जागृति के लिए हम आगे बढ़ें और उन्हें आगे बढ़ायें जिसके बढ़ाने की शक्ति हमारे हाथों में है।

यह कैसा दुर्भाग्य है कि आजादी के बरसों बरस पहले हमारे बौद्धिक नेताओं का देश, समाज और उसको आगे बढ़ाने की दिशा की जैसी साफ और सोच थी दुर्भाग्यवश आजादी के बाद के बरसों में उसका दिशा भ्रम हो गया और उन्होंने इंडिया के सारे संसाधन, सारी तरक्की, सारी सुविधाएं अपने हिस्से में कर लिया।[9]

सन् 1930 में पं. विष्णुदत्त शुक्ल की पुस्तक 'पत्रकार कला' की संस्तुति में दो शब्द लिखते हुए विद्यार्थी जी ने पत्रकारिता के कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों की ओर इंगित किया। उन्होंने लिखा– "अब बहुत से समाचार पत्र सर्वसाधारण के कल्याण के लिये नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके उपयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं। अधिकांश बड़े समाचार पत्र धनी–मानी लोगों के संचालन या किसी दल–विशेष की प्रेरणा ही से उनका निकलना सम्भव है। अपने संचालकों या अपने दल के विरुद्ध सत्य बात कहना तो दूर की वस्तु है, उनके पक्ष में समर्थन के लिए ये हर तरह के हथकण्डों से काम लेना अपना नित्य का आवश्यक काम समझते हैं।"[10]

'प्रताप' ही ऐसा एकमात्र समाचार पत्र था जिसने चिट्ठियों के माध्यम से समाचार और शिकायत छापने की परिपाटी का श्रीगणेश किया। जो चिट्ठियाँ नहीं प्रकाशित की जाती थीं उनके लेखकों के नाम, पते कारण सहित 'नहीं छपेंगें' स्तम्भ के नीचे छापे जाते थे, सम्भवतः ऐसा करने वाला प्रथम और अन्तिम पत्र 'प्रताप' ही था। अपने समाचारों और टिप्पणी के कारण 'प्रताप' का अनेक देशी रियासतों में प्रवेश निषिद्ध था। मुकदमों की धमकी और डराने–धमकाने के बावजूद 'प्रताप' अपने लेखकों तथा संवाददाताओं का नाम बताने से सदैव इनकार करता रहा। ब्रिटिश सरकार के सम्मुख 'प्रताप' ने कभी समर्पण नहीं किया, क्योंकि उसने झुकना, रुकना और बिकना तो कभी सीखा ही नहीं था। प्रत्येक वर्ष दशहरे पर 'प्रताप' ने राष्ट्रीय अंक निकालकर विशेषांक निकालने की परिपाटी डाली। महाराष्ट्र में जो स्थान लोकमान्य तिलक के 'केसरी' का था, वही स्थान हिन्दी में विद्यार्थी जी के 'प्रताप' का था।[11]

देशी राज्यों के विरुद्ध 'प्रताप' ने हमेशा उद्घोष किया। इसके बावजूद भी उन पर होने वाली अन्याय की आलोचना भी की। पत्र के माध्यम से असहयोग आन्दोलन, बाडोली खेडा, पटुआखाली के सत्याग्रहों का समर्थन किया। विद्यार्थी जी क्रांतिकारी के संरक्षक थे, पत्र की भाषा सरल, सुबोधगम्य थी। पंडित रामरत्न जी ने कहा–"हिन्दुस्तानी का श्रीगणेश ही गणेश जी ने किया।" 'प्रताप' के समय उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस पर बनारसी दास चतुर्वेदी का मत है– "जन्म से ही उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, पर देश और समाज की वह बड़ी शक्ति हो गया। वह पत्र नहीं संस्था बन गया। वह किसानों, मजदूरों और शोषितों का पत्र था; उनकी आवाज थी, उनके दर्द की।" 'प्रताप' के विषय में माखनलाल चतुर्वेदी जी कहते हैं–"'प्रताप' एक दिन उनकी शक्ति था, दूसरे दिन हिन्दी जगत की श्रद्धा बना और वह उनकी शुभ स्मृति है।"[12]

विद्यार्थी जी ने मानव के स्वत्व को जगाने के लिए सराहनीय कार्य किया। 'प्रताप' में मानव स्वत्व शीर्षक अग्रलेख में लिखा है–"धन्य हैं वे देश और वे जातियाँ जिन्हें स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध घोर संग्राम करना पड़ा और जिन्हें इस प्रकार मनुष्य की स्वाधीनता के विकास के क्षितिज को अधिक बढ़ाने का अवसर प्राप्त हुआ। स्वत्व की वेदी पर सिर चढ़ाने का साहस उन्हीं को हुआ, जिनमें कर्तव्य का भाव था, जिन्हें निरंकुशता से घृणा थी और उसका मूलोच्छेदन करना अपना धर्म समझते थे और जिनमें इस काम के लिए प्राणों का तनिक भी मोह न था।" 'प्रताप का कार्यक्षेत्र धीरे–धीरे इतना विस्तृत हो गया कि उसे दैनिक करना पड़ा।

गणेश जी 'प्रभा', 'अभ्युदय', 'स्वराज्य', 'सरस्वती' और 'हित वार्ता' आदि पत्रों से जुड़े हुए थे। विद्यार्थी जी ने 'प्रभा' और 'प्रताप' को एक दूसरे के साथ जोड़ दिया था। 'प्रभा' भी कानपुर की हो गई थी। गणेश जी ने जिस प्रकार 'प्रताप' के प्रताप को बढ़ाया उसी प्रकार 'प्रभा' को प्रभामय बना दिया।13

हिन्दी का झण्डा–गीत जैसी प्रेरक रचना बनाने का श्रेय विद्यार्थी जी को दिया जाता है। सन् 1925 ई. में कानपुर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन श्रीमती सरोजिनी नायडू की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ; उसके स्वागत मंत्री विद्यार्थी जी थे। आपके अनुरोध पर झण्डा–गीत श्री श्यामलाल गुप्त पार्षद ने लिखा।14

23 मार्च 1931 को सरदार भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी हुई। कानपुर हिन्दू–मुस्लिम दंगे की आग में जल उठा। 24 मार्च को दंगों का रूप और विकराल हो गया। विद्यार्थी जी लोगों को शांत करने और सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाने के लिए सक्रिय हुए। 25 मार्च 1931 को कानपुर के चौबे गोला इलाके में उन्हें अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। 27 मार्च को उनका शव अस्पताल में ढूँढ़ा जा सका और 29 मार्च को गुपचुप उनका अंतिम संस्कार कर दिया गया।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की श्रद्धांजलि कितनी सटीक थी–

"भगत सिंह से शूर किसी भी पुरावृत्ति के है शृंगार
पर पौराणिक युग में भी बस शिव–दधीचि तुमसे दो–चार।"

विद्यार्थी जी का अन्तिम अग्रलेख था–'अन्त का आरम्भ'। वे लिखते हैं–"निराश होने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की प्रत्येक घटना जिसकी भयंकरता से हृदय काँप उठे, जिसकी कटुता से भावी संतति के लिए कलेजा छेदने वाली कहा जा सके, आशा और शुभ सन्देश की वाहिनी है। देश में जिस स्वाधीनता का जन्म हो रहा है, यह उसी की प्रसव–वेदना है।15

विद्यार्थी जी ने पत्रकारिता को देश–सेवा का सर्वोत्तम साधन माना था और इसीलिए उन्होंने 'प्रताप' के माध्यम से देश की जो सेवा की, वह इतिहास के पृष्ठों में सदा स्वर्णाक्षरों में अंकित की जायेगी। इस कार्य में उनका एक पैर सदा कारावास में रहा और उनके सिर पर सदैव आर्डिनेंसों का डंडा घूमता रहा। लेकिन उन्होंने अपनी लेखनी का पूर्ण सदुपयोग किया। इसके लिए वे अनेक बार जेल भी गए और अनेक कष्ट भी उठाए। लेकिन अपना स्वाभिमान कभी भी न बेचा। अनेक प्रलोभनों में भी उन्होंने अपनी अस्मिता को बचाये रखा और स्वाभिमानपूर्वक कार्य करते रहे।

पत्रकारिता के स्तर में गिरावट आने पर विद्यार्थी जी ने लिखा–

"उन्नति समाचार पत्रों के आकारों–प्रकारों में हुई है।
खेद की बात है कि उन्नति आचरणों की नहीं हुई।"

अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए विद्यार्थी जी ने लिखा था कि जिन लोगों ने पत्रकारिता को अपनी वृत्ति बना रखा है, उनमें से बहुत कम ऐसे लोग हैं जो अपने चित्त को इस बात पर विचार करने के लिए कष्ट उठाने का अवसर देते हैं कि हम सच्चाई की भी लाज रखनी चाहिए। केवल अपनी रोटी–मक्खन के लिये दिन भर में कई रंग बदलना ठीक नहीं है। उनकी सहज इच्छा थी कि "पैसे का मोह और बल की तृष्णा" भारतवर्ष के किसी भी नये पत्रकार को ऊँचे आचरण के पवित्र आदर्श से बहकने न दे।"

वर्तमान पत्रकारिता के बारे में विद्यार्थी जी के विचार हमें पुनः सोचने का आग्रह करते हैं कि भारतीय पत्रकारिता व्यावसायिकता के प्रबल प्रलोभनों से कैसे मुक्त होगी? पत्रकारिता का मूल कर्तव्य लोक सेवा एवं संस्कार की भूमिका निभाना है, लेकिन आज की पत्रकारिता अपने धर्म–कर्म से अलग हो रही है। पत्रकारिता को लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ माना जाता है। स्वतन्त्रता पूर्व की पत्रकारिता, 'मिशन' थी, एवं स्वतन्त्रता संग्राम की संवाहिकी थी, वर्तमान पत्रकारिता व्यावसायिक होती जा रही है। उसमें, संवेदना, सहानुभूति एवं सरोकार की भावना खत्म होती जा रही है, नैतिकता का पतन हो रहा है। पत्रकारिता वृत्ति एवं कला है। जनसेवा का यह विशिष्ट माध्यम है।

विद्यार्थी जी ने वर्षों पूर्व जो आशंकाएँ पत्रकारिता के बारे में व्यक्त की थीं, आज की पत्रकारिता उनसे ग्रसित दिखाई देती है। विद्यार्थी जी के सत्य, देशभक्ति, राष्ट्रीय एकता, जनसेवा, जनजागरण, नवजागरण, नैतिकता एवं शुद्ध आचरण का मार्ग आज भी पत्रकारिता के स्तर को ऊँचा उठा सकता है।[16]

I UnHk% %

1. क्षेमचन्द्र सुमन, हिन्दी के यशस्वी पत्रकार, प्रकाश विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, संस्करण 8 अप्रैल 1986, पृ. 170–171
2. विजयदत्त श्रीधर, भारतीय पत्रकारिता कोश, खण्ड–दो, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृ. 647
3. क्षेमचन्द्र सुमन, हिन्दी के यशस्वी पत्रकार, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, संस्करण 8 अप्रैल 1986, पृ. 172
4. डॉ. धीरेन्द्र नाथ सिंह, हिन्दी पत्रकारिता : भारतेन्दु पूर्व से छायावादोत्तर काल तक, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2002, पृ. 74
5. क्षेमचन्द्र सुमन, हिन्दी के यशस्वी पत्रकार, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, संस्करण 8 अप्रैल 1986, पृ. 172
6. डॉ. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास एवं जन–संचार माध्यम, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स, जयपुर, संस्करण 2000, पृ. 73, 74
7. डॉ. धीरेन्द्र नाथ सिंह, हिन्दी पत्रकारिता : भारतेन्दु पूर्व से छायावादोत्तर काल तक, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2002, पृ. 74
8. एस.के. दुबे, पत्रकारिता के नए आयाम, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2006, पृ. 129–131
9. साहित्य अमृत (मीडिया विशेषांक), मासिक, अगस्त 2015, पृ. 13
10. कृष्ण बिहारी मिश्र, पत्रकारिता इतिहास और प्रश्न, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1993, पृ. 58
11. डॉ. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास एवं जन–संचार माध्यम, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स, जयपुर, संस्करण 2000, पृ. 74
12. पल्लवी अग्रवाल, पत्र–पत्रकारिता : दशा और दिशा, वंदना पब्लिकेशन्स, संस्करण 2006, पृ. 157
13. क्षेमचन्द्र सुमन, हिन्दी के यशस्वी पत्रकार, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, संस्करण 8 अप्रैल 1986, पृ. 172
14. विजयदत्त श्रीधर, भारतीय पत्रकारिता कोश, पृ. 653
15. एस.के. दुबे, पत्रकारिता के नए आयाम, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2006, पृ. 131–132

***

ikfdLrkuh&fgUnkLrkuh gkrs g, ,d egku fpUrd jgs Hkh"e lkguh

jfo dekj*

8 अगस्त 1915 को रावलपिंडी (पाकिस्तान) के छाछी मुहल्ले में एक सम्मानीय परिवार में भीष्म–साहनी का जन्म हुआ था। भारत–पाक विभाजन के समय वह भारत आकर बस गए। पाकिस्तानी परिवेश और पारिवारिक माहौल के जिन मूल्यों में उनकी अटूट आस्था थी, उन्हें बार–बार तितर–बितर होते देखना और उसके उपरान्त एक बहुमूल्य रचनाकार कहलाना कितनी खास और विशेष बात थी। सन् 1915 से 2003 तक उन्हें न जाने कितनी विपदाओं को व्यावहारिक और मानसिक स्तर पर झेलना पड़ा उनमें से विस्थापन मुख्य है, यानि पाकिस्तान से आकर हिन्दोस्तान में बसना। इन सभी आपदाओं के सिलसिले का मंथन उनके लेखन की धुरी है।

भीष्म साहनी को दोनों देशों में उजड़ने–बसने के कारण चाहे कितने ही संकटों का सामना क्यों न करना पड़ा हो, पर अपने लेखन में कहीं पर भी इन्होंने न तो पाकिस्तान के लोगों (मुसलमानों) की तौहीनी की और न हिन्दोस्तान के लोगों (हिन्दुओं) की ही तरफदारी की। अपने लेखन में वह घृणा और द्वेष छोड़कर सम्पूर्ण मनुष्य जाति को उनकी दशा और दिशा देते हुए नज़र आते हैं। दोनों देशों और विभिन्न मज़हबों के बीच साम्प्रदायिक तनाव, घृणा, द्वेष फैलने के जो कारण रहे उनकी फड़फड़ाती नब्ज़ पर उन्होंने हाथ रखकर उनका तापमान मापा है।

वह सभी धर्मों के लोगों को मानो एक माला में पिरोने का सपना देखते हैं। भीष्म साहनी के शब्दों में ''पर ऐसे दृश्यों को देखते हुए लगता जैसे माला टूट चुकी है और उसके मनके कोई यहाँ तो कोई वहां बिखरे पड़े हैं।''[1] कोई भी हो हिन्दू या मुसलमान कोई भी न तो सहिष्णु, उदार, करूणामय है और न ही क्रूर, कट्टर और निर्मम, स्थितियों के बदलते ही दोनों की फ़ितरत बदल जाती है। अपने विस्थापन में उन्होंने भारत–पाकिस्तान विभाजन देखा, हिन्दू, मुसलमान, सिख, कौमों के आपस में तूल पकड़ते हुए घमासान साम्प्रदायिक दंगे देखे और झेले। अपनी आजीविका के लिए कितने ही कठोर परिश्रम किए और लगभग अठारह बार घर बनाकर बसने का साहस जैसी अनेकों आपदाओं को यथार्थ स्तर पर झेलने के पश्चात् भी भीष्म साहनी एक दिग्गज़ रचनाकार और चिंतक बनकर सामने आएं।

मनुष्य एक मननशील प्राणी है, उसके मन में सदैव कुछ–न–कुछ चिंतन अवश्य रहता है, जो उसके अपने और आस–पास के वातावरण से विकसित होता है। चिन्तन मस्तिष्क की वह क्रिया है, जो किसी समस्या के सामने आने पर उसे हल करने के लिए उत्पन्न होती है अर्थात् अतीत के अनुभवों पर विचार करके आज की समस्या का समाधान ढूंढना ही चिन्तन है। ''कोई बात समझने या सोचने के लिए मन में बार–बार किया जाने वाला विवेचन चिन्तन है।''[2] भीष्म साहनी का संपूर्ण साहित्य चिन्तन के विविध आयामों से भरा पड़ा है।

जीवन की विभिन्न परिस्थितियों और समाज के अच्छे बुरे सरोकारों से उन्हें जो अनुभव प्राप्त हुए, उनके समग्र साहित्य में मानव हित के लिए चिन्तन के रूप में निखर आए हैं। स्वयं स्वीकार करते हैं कि ''मैं किन्हीं निष्कर्ष तक पहुँचा तो अपने ही अनुभवों के आधार पर'' हर लेखक का रचना लिखने के पीछे कोई–न–कोई आशय अवश्य निहित रहता है, जिसके सरोकार मनुष्य, समय और समाज से

*शोध छात्र, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू कश्मीर।

जुड़े होते हैं। भीष्म साहनी अपने साहित्यिक चिन्तन में व्यक्ति, समय और समाज सभी के साथ जुड़े दिखाई देते हैं, फिर चाहे तमस हो, चीफ़ की दावत हो या माध्वी और हानूष जैसे चर्चित नाटक हों। दर्जनों बार टूटने के बावजूद भी उन्होंने लेखन कार्य नहीं छोड़ा। इन्सानियत में हैवानियत फैलाने के जो कारण हैं, उन्हें जड़ समेत समाज के समक्ष प्रस्तुत किया और यथार्थगत रूप में समाज को सही दशा और दिशा दिखाने में बेहतरीन सफल रचनाकार रहें।

समाज को भद्दा वातावरण और दहशत का माहौल प्रदान करने में धर्मांधता उनके लेखन में सबसे पहले आती है। धर्मांधता के बीज को जन्म देने और उसे पनपने में सामाजिक कारण उतने महत्वपूर्ण नहीं होते, जितने कि खोखली और गंदी राजनीति के होते हैं। हर मनुष्य का एक लक्ष्य होता है, शांति से जीवन व्यतीत करना। पर शासन में नेताओं की कूट राजनीति अपनी सत्ता–कायम करने के लिए जन–जीवन को अस्त–व्यस्त कर देती है। भीष्म साहनी के उपन्यास तमस में रिचर्ड ऐसा ही एक मोहरा है। वो हिन्दू–मुसलमानों और सिक्खों के बीच धर्म के बीज बोता है। विभिन्न धर्मों के लोग अपने धर्म का वर्चस्व बढ़ाने में लगते हैं जिससे सभी के आपस में साम्प्रदायिक तनाव पैदा हो जाता है और परिणाम विभाजन के रूप में देखने को मिलता है।

इस सिस्टम की जड़ को पकड़ते हुए भीष्म साहनी तमस में लिखते हैं ''फिसाद करवाने वाला भी अंग्रेज,..... फिसाद रोकने वाला भी अंग्रेज.... घरों से बेघर करने वाला भी अंग्रेज, घर में बसाने वाला भी अंग्रेज।''[4] इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र रिचर्ड है, पर वो विदेश से तय राजनीति का कठपुतला है और नत्थु, मुरादअली जैसे उपन्यास के अन्य पात्र रिचर्ड द्वारा चलाई राजनीति के कठपुतले होते हैं। रिचर्ड का प्रभाव प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से उपन्यास के सभी पात्रों पर पड़ा है, जिसका आवेग हमें आगे भीषण दंगों के रूप में दिखता है। धर्मांधता की दौड़ और उन सभी जटिल समस्याओं का चिन्तन भीष्म साहनी के साहित्य में व्याप्त है। अकसर जो मानव और समाज का अक्स बिगाड़ कर रख देती है।

साम्प्रदायिक दंगों का भीषण संहार मानवीय संवदेनाओं, आकांक्षाओं, आचार–विचारों और मनुष्य तक को खत्म करने की कगार पर लाकर खड़ा कर देता है। तमस उपन्यास में जब तुर्क सिखों पर आक्रमण करने आते हैं, उस समय सिखों की औरतें अपनी जान को खुद खत्म कर देती हैं। सभी औरतें भय से कुएँ की ओर चलती हैं ''सबसे पहले जसबीर कौर कुएँ में कूद गई...., प्रेमसिंह की पत्नी खुद अपने दूध पीते बच्चे को छाती से लगाए ही कूद गई।.... देखते ही देखते दसियों औरतें अपने बच्चों को लेकर कुएँ में कूद गई.... गाँव के पास से जगह–जगह से 'अल्लाह–हो–अकबर' और 'सत सिरी अकाल' के नारों के साथ कुएँ में से डूबती औरतों और बच्चों की चीखें मिल गई थीं''[5]

धर्मांधता की वो लत जो अंग्रेज़ों ने भारतवासियों को लगाई आज भी सभी मज़हब के लोगों के दिलों में घृणा और द्वेष के रूप में जस–की–तस विद्यमान है। केवल उसका आकार और रूप बदल गया है। 'अमृतसर आ गया है' कहानी में ट्रेन पाकिस्तान से लाहौर जा रही होती है, जब ट्रेन मुसलमानों के इलाके से गुज़र रही होती है, तो घृणा के कारण एक मुसलमान हिन्दू औरत को लात मारकर मार देता है। ''पठान ने आव देखा न ताव, आगे बढ़कर ऊपर से ही उस मुसाफिर को लात मार दी पर लात आदमी को लगने के बजाय उसकी पत्नी के कलेजे में लगी और वह वहीं हाय–हाय करती बैठ गयी।''[6] यह घृणा और द्वेष केवल एक ही धर्म में नहीं होता, धर्मांधता के चलते सभी धर्मों के लोगों में समा जाता है। एक बाबू जो ट्रेन में बैठा यह सब देख रहा था, उसने इस बदले को उस वक़्त पूरा किया, जब आगे चलकर ट्रेन हिन्दुओं के इलाके में पहुँची। एक बूढ़ा मुसलमान ट्रेन में चढ़ रहा था उसी वक़्त बाबू ने छड़ से उसे मार गिराया ''एक ही भरपूर वार बाबू ने उस मुसाफिर के सर पर किया... वह दो–एक बार 'या–अल्लाहा' बुदबुदाया फिर उसके पैर लड़खड़ा गये।''[7] एक मुसलमान ने घृणा के कारण हिन्दू औरत को मारा हिन्दू ने बूढ़े मुसलमान को मारा। मरने वाला दोनों तरफ आखिर हैं तो मनुष्य ही जो इतना भी नहीं जानते कि उन्हें मारा क्यों जा रहा है। भीष्म साहनी अपने साहित्यिक चिंतन के माध्यम से इन कारणों को मनुष्य के समक्ष प्रस्तुत करते नज़र आते हैं।

उनका अनुभव क्षेत्र विरल है, भारत विभाजन के पश्चात् व्यापार, पत्रकारिता, लेखक संघ में कार्य, सोवियत संघ में लम्बे समय तक रहकर अनुवाद का काम, प्रगतिशील लेखक संघ के सचिव आदि भीष्म साहनी विभिन्न प्रकार के अनुभवों का संसार है। यह यथार्थ अनुभव उन्होंने जिये जो चिन्तन के रूप में उनके साहित्य में निखर आए हैं। अपने लेखन में उन्होंने चिंतन के विविध आयामों को सामने लाया और रखा है। उन सभी में से एक यह कि सभी मज़हब के लोगों के बीच घृणा, द्वेष और तनाव आया क्यों और कहाँ से?

मुस्लिम लीग ने विभाजन को अपना राजनीतिक औज़ार बनाया मगर उसे कितने प्रतिशत मुसलमानों का समर्थन प्राप्त हुआ था? अनुमानतः 1941 के पहले मुसलमानों में कोई साम्प्रदायिक अवधारणा हो पर वह उभरकर कभी सामने नहीं आई। पंडित नेहरू कहते हैं ''भारत के अल्पसंख्यक यूरोप के अल्पसंख्यकों की भाँति नस्ली या राष्ट्रीय अल्पसंख्यक नहीं हैं, ये धार्मिक अल्पसंख्यक हैं। नस्ली तौर पर भारत एक मिश्रित प्रजातियों का देश है, पर यहाँ नस्ल को लेकर कभी कोई प्रश्न नहीं उठे।''[8] अंग्रेज़ों ने धार्मिक वैविध्य को नस्ली तनाव का रूप दे दिया। अनुभव करने की आवश्यकता है कि 1857 के गदर के समय यह नस्ली तनाव कहीं नहीं दिखाई पड़ता और आगे चलकर मुस्लिम लीग के गठन के काफी बाद तक भी इस तरह की कोई अलगाववादी धारणा नहीं थी।

अपने साम्प्रदायिक चिन्तन में उन्होंने यह बताने का प्रयास किया है, कि धार्मिक वैविध्य विभाजन की साम्प्रदायिक मानसिकता में ब्रिटिशों के कारण बदला। रजनी पामदत्त के कथन अनुसार ''अंग्रेज़ों का शासन कायम होने से पहले भारत में उस तरह के हिन्दू–मुसलमान झगड़े कभी नहीं दिखाई दिए जैसे झगड़े अंग्रेजी शासनकाल में और खासतौर से इसके अन्तिम दिनों में देखने को मिले।''[9] समाज में छोटी–छोटी विडम्बनाएँ भीष्म साहनी के चिन्तन की परिधि में अभिलक्षित हुई हैं। विस्थापन के कारण बार–बार टूटने पर भी अपने लेखन के जुनून को उन्होंने टूटने नहीं दिया। यह उन थोड़े से रचनाकारों में से हैं, जिनके माध्यम से हम अपने समय की नब्ज़ पर भी हाथ रख सकते हैं और उनके समय की छाती पर कान लगाकर उनके समय के दिल की धड़कनें भी साफ–साफ सुन सकते हैं। उनके साहित्य में एक होड़ सी लगी दिखाई देती है, जो समय के साथ–साथ समाज के दिलों की तेज़ धड़कनों के कारणों को भी मापती और तलाशती नज़र आती है।

lnHkZ %

1. आज के अतीत, भीष्म साहनी, पृ. 139
2. मानक विशाल हिन्दी शब्द कोश : खण्ड दो, पृ. 238
3. आज के अतीत, भीष्म साहनी, पृ. 157
4. तमस, भीष्म साहनी, पृ. 223
5. वहीं, पृ. 262
6. अमृतसर आ गया है, भीष्म साहनी, पृ. 64
7. वहीं, पृ. 76
8. Discovery of India, J.L. Nehru, Oxford University, Press Delhi. 1981. Page. 382
9. आज का भारत, रजनी पामदत्त, पृ. 462

***

lr nknn;ky dk v/;kRe n'ku

vk'kh"k dqekj*

दादू पंथ के प्रवर्त्तक प्रसिद्ध दादू का जन्म अहमदाबाद में फाल्गुन शुक्ल द्वितीय बृहस्पतिवार सं0 1601 वि0 (1544ई0) को हुआ था।[1] संत दादूदयाल का आध्यात्मिक चिन्तन भारतीय दर्शन के चिन्तन–धारा के अनुकूल ही रहा। भारत का अध्यात्म चिन्तन अत्यन्त प्राचीन तथा समृद्ध रहा है। संतों के अध्यात्म सम्बन्धी विचार उपनिषदों के आध्यात्मिक विचारों से गहरा साम्य रखते हैं। उपनिषदों के अध्यात्म चिन्तन का प्रभाव जैन धर्म, बौद्ध धर्म और भक्तिकाल में भी दिखायी पड़ता है। संत कवि मूलतः दार्शनिक नहीं थे, अपितु दर्शन उनके काव्य में प्रवाहित हुआ है। सन्त दादूदयाल का अध्यात्म दर्शन भी इसी प्रकार का है। उनकी आध्यात्मिक अनुभूति ईश्वर के साथ समाज से भी जुड़ती है। इसी प्रक्रिया में वे ब्रह्म, माया, जीव, जगत पर भी प्रकाश डालते हैं।

संत दादूदयाल निर्गुणधारा के प्रमुख संत कवियों में से एक हैं। संतों ने ब्रह्म के स्वरूप को जैसा माना वैसा ही संत दादूदयाल ने भी माना है। संत दादूदयाल के अनुसार ब्रह्म निर्गुण, निराकार हैं, उसके चरित्र को कोई नहीं जान सकता–

vxe vxkpj vikj vijijk dk ;g rjk pfjr u tkuA[2]

यद्यपि ब्रह्म निर्गुण निराकर है, उसका आकार प्रकार नहीं है, सामान्य मनुष्य की तरह उसके आंख, कान, नाक, मुख इत्यादि कुछ भी नहीं है फिर भी वे सब कुछ, देखते, सुनते, जानते हैं अर्थात् सर्वज्ञ ज्ञाता हैं–

fcu Jo.kg lc dN l.k] fcu uwug lc n[kA
fcu jluk e[k lc dN ckys ;g nkn vpjt n[kAA[3]

अर्थात् बिना कान के वह सब कुछ सुनता है, बिना आंख के सब कुछ देखता है, बिना मुख के सब कुछ बोलता है। ब्रह्म से सम्बन्धित इस प्रकार की विचारधारा सम्पूर्ण सन्त साहित्य में विद्यमान है अर्थात् दादूदयाल के अलावा अन्य सन्तों ने भी ब्रह्म के स्वरूप को इसी प्रकार का माना है। मलूकदास भी इसी प्रकार ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं।

gekjk lrxq: fcjys tkuA
lb ds ukd lqeqj pykoS] lks ;g :i c[kkuA
gekjs xq: dh vnHkqr yhyk] uk dN [kk; u ihoA
uk og lkos uk og tkxS] uk og ejs u thos
fcu rjoj Qy Qys yxkos lks rks ok dk pykA
fNu ek :i vuwd /kjr gS] fNu ek jgs vdykAA[4]

उपनिषदों में भी यही कहा गया है कि ईश्वर एक तथा अद्वितीय है।

संत दादूदयाल ने जीव तत्व पर भी विचार किया है। अपना विचार प्रस्तुत करते हुए दादूदयाल ने बताया कि जीवात्मा तथा परमात्मा में अन्तर नहीं है फिर भी उन्होंने जीव के मूल अन्तर को स्पष्ट किया। वे कहते हैं, कि जब जीवात्मा माया के वशीभूत होकर कर्मों के बंधन में बंध जाता है, तब वह परमात्मा से दूर हो जाता है–

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

nkn c/;k tho g] NVk cã lekuA
nkn nkuk nf[k,] ntk xkgh vkuAA
djek d cl tho g] dje jfgr lk cãA
tg vkre rg ijekRek] nkn Hkkxk HkeAA[5]

यद्यपि आत्मा, परमात्मा में विशेष अन्तर नहीं है, लेकिन शरीर में विद्यमान रहने के कारण वह परमात्मा से अलग रहता है। जब तक जीव सांसारिक मोह माया के जाल में फंसा रहता है, तब तक वह परमात्मा के निकट नहीं पहुँच सकता है। अतः जीवात्मा के लिए यह आवश्यक है कि वह सांसारिक बंधन से मुक्त रहे, तभी वह परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। सन्त दादूदयाल जीवात्मा को बंधनमुक्त होने के लिए राम नाम स्मरण का सुझाव भी प्रस्तुत करते हैं। उनका मानना है कि जीवात्मा यदि मोह माया से परे प्रभु राम का स्मरण करेगा, तो वह निश्चय ही परमात्मा में लीन हो जायेगा।

सन्त दादूदयाल ने जगत् के मूल कारण के रूप में ब्रह्म को ही माना। उन्होंने जगत को भ्रम, मायायुक्त, नाशवान, मिथ्या या क्षणभंगुर बताया। सामान्य प्राणी प्रायः जगत के इसी जाल में फंसकर रह जाता है तथा वह ब्रह्म के पास पहुंच नहीं पाता। ब्रह्म सम्बन्धी यह विचारधारा सम्पूर्ण सन्त साहित्य में विद्यमान है। यह धारणा मूल रूप से शंकराचार्य के अद्वैतवाद से प्रभावित है, जिन्होंने ब्रह्म को सत्य तथा जगत को मिथ्या बताया। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद सिद्धान्त के माध्यम से स्पष्ट किया कि जब तक अज्ञान है, तब तक संसार भी रहेगा। अज्ञानता का आवरण हट जाने पर मिथ्या जगत से परदा भी उठ जाता है। अज्ञानता के ही कारण 'ब्रह्म' को जीव पहचान नहीं पाता है। उन्होंने उदाहरण देते हुए यह बताया कि जिस प्रकार भ्रमवश लोग रस्सी को अंधेरे में सांप समझ लेते हैं, किंतु प्रकाश होते ही सत्य का बोध हो जाता हे। उसी प्रकार जगत है जो अज्ञानता के कारण सत्य प्रतीत होता है, लेकिन जब जीव को ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म को जान लेता है। सन्त कबीरदास का भी यही मानना है कि माया के कारण जगत दृश्यमान तथा सत्य प्रतीत होता है, लेकिन माया के हटते ही 'ब्रह्म' का दर्शन हो जाता है। जगत का वर्णन सर्वप्रथम वेदों में मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर उल्लेख किया गया है, कि विश्वकर्मा ने बिना किसी सत्ता की सहायता से सृष्टि का सृजन किया। कहीं कहीं सोम को भी सृष्टि का रचयिता माना गया है। वस्तुतः उस युग में जिस ऋषि ने जिस देवता की पूजा की उसी को सृष्टि का रचयिता माना। जगत को मिथ्या रूप में स्वीकारने के लिए शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का सिद्धान्त दिया। जगत की उत्पत्ति के विषय में उपनिषदों में यह मान्यता है कि ओंकार शब्द से इस संसार का निर्माण हुआ है। माण्डूक्योपनिषद के अनुसार ओंकार ही सब कुछ है। भूत, भविष्य और वर्तमान सब ओंकार ही है। उपनिषद में उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले का स्वयं निर्माण करती है और पुनः निगल जाती है, उसी प्रकार वायुमण्डल में औषधियों का निर्माण होता है और जिस प्रकार जीवित व्यक्ति के अन्तर में लोभ का उदय हुआ, उसी प्रकार अक्षर से विश्व उत्पन्न हुआ है। सन्त दादूदयाल भी इसी प्रकार का विचार प्रस्तुत करते हैं। उनका मानना है कि ब्रह्म ने सर्वप्रथम ओंकार उत्पन्न किया और ओंकार से ही पंच तत्वों का निर्माण हुआ। पंच तत्वों से घट की उत्पत्ति हुई और घट से विभिन्न प्रकार का विस्तार हुआ। इसी घट से ही दादूदयाल ने वर्ण की भी उत्पत्ति स्वीकार किया है।

शंकराचार्य की भांति जगत को मिथ्या मानने की धारणा सम्पूर्ण सन्त साहित्य तथा दादूदयाल के यहाँ भी विद्यमान है। उन्होंने संसार को स्वप्न की तरह बताया। व्यक्ति भ्रमवश असत्य को सत्य समझ बैठता है। लेकिन स्वप्न टूटने पर वास्तविकता का बोध होता है–

lfiu lc dN nf[k;] tkx rk dN ukfgA
,lk ;g lkj g(lef> nf[k eu ekfgAA[6]

कबीरदास भी जगत के विषय में इसी प्रकार की बात करते हैं–

;g ,lk lkj g tlk lcy QyA
fnu nl d R;kgkj dk >B jfx u HkyAA[7]

इसीलिए सन्त दादूदयाल राम के शरण में जाने को कहते हैं तथा सांसारिक संगत से दूर रहने की सलाह देते हैं–

lk/k lxfr ikb;s jke vHkh Qy gkbA
lslkjh lxfr ikb;s fo"k Qy nsrs lkbAA[8]

जगत के अतिरिक्त माया का भी उल्लेख वैदिक समय से ही होता आया है। माया से तात्पर्य है अज्ञान या अविद्या, कपट, इन्द्रजाल। वेदों में माया शब्द का अर्थ वेश बदलने के अर्थ में हुआ है तथा उपनिषदों में माया को ब्रह्म की शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है। शंकराचार्य ने माया पर अपना विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि ब्रह्म की शक्ति का नाम अविद्या है, इसी के शक्ति से 'ब्रह्म' ने विश्व का सृजन किया है। यह ब्रह्म की एक ऐसी इच्छा मात्र है, जिसका चाहने पर परित्याग किया जा सकता है, अर्थात् जीव यदि चाहे तो वह माया से मुक्त हो सकता है। सन्त साहित्य में माया के सैद्धान्तिक पक्ष का वर्णन नहीं मिलता, अपितु व्यवहारिक पक्ष का वर्णन अधिक मिलता है। सन्तों ने नाथों के समान माया को बंधनयुक्त माना तथा उसको भक्ति मार्ग पर सबसे बड़ी बाधा बताया। सन्त दादूदयाल ने माया को त्रिगुणात्मिकता मानते हुए कहा कि –

mit foul xq.k /kj] ;g ek;k dk :iA
nknw nq[kr fpj ugh] f[k.k Nkgh f[k.k /kiAA[9]

सन्त दादूदयाल माया को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि माया उन भक्तों से दूर रहती है, जो प्रभु राम की भक्ति में लीन रहते हैं। माया सन्तों की दासी है–

ek;k nklh rkds vkxs] tg HkfDr fujtu rsjhA[10]

सन्त दादूदयाल ने माया को विविध रूप धारण करने वाला बताया है । उनके अनुसार माया जीव को सांसारिकता में बांधने के लिए विविध रूप धारण करती है, जिसके प्रभाव में सामान्यतः जीव आसानी से आ जाते हैं तथा सांसारिक विषय वासनाओं में लिप्त हो जाते हैं। दादूदयाल कहते हैं कि –

ukuk fof/k ds :i /kfj] lc cU/ku HkkfeuhA
tc fcVsc ijys fd;k] gfj uke Hkqykouh AA[11]

स्पष्ट है कि सन्त दादूदयाल ने माया को ब्रह्म द्वारा निर्मित माना है तथा उसे पूर्ण रूप से मिथ्या बताया। जो मिथ्या होने पर भी अत्यधिक प्रभावशाली है, जिसने संसार के अधिकतर लोगों को अपने जाल में फंसा लिया है। केवल भक्तगण ही इस जाल से मुक्त हैं। माया सन्तों की दासी है, क्योंकि सन्तों के पास परमेश्वर की भक्ति है। इसी भक्ति के प्रभाव से माया सन्तों से दूर ही रहती है,

अध्यात्म चिन्तन से सम्बन्धित मोक्ष पर विचार करना आवश्यक है। सामान्यतः मोक्ष शब्द से मुक्ति का बोध होता है। भक्त जब अपने आराध्य के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव से भक्ति करता है, तो वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सन्त काव्य में मोक्ष से सम्बन्धित जो विचारधारा विद्यमान है, उसमें उपनिषदों तथा गीता का प्रभाव अधिक है। कठोपनिषद् में यह कहा गया है कि जब साधक के सारे संशय दूर हो जाते हैं तथा वह अज्ञानता से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। तब ऐसी स्थिति में वह शरीर धारण किये ही परमेश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मुण्डकोपनिषद में यह कहा गया है कि जिस प्रकार बहती नदियां अपने नाम रूप का परित्याग कर समुद्र में लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी साधक भी अपने नाम रूप को परित्याग कर दिव्य पुरूष बन जाता है। सन्त दादूदयाल भी यही कहते हैं कि जब साधक अपने अहं–भाव पर विजय पा लेता है अर्थात् अपने अहं भाव से पूर्णतः मुक्त होकर राम की प्रेमपूर्वक भक्ति में लीन हो जाता है तब ऐसी दशा में जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है–

ts tu vkik efV dfj] jgs jke Y;ks ykbA
nknw lc gh nq[krk] lkfgc lks fefy tkbAA[12]

इसी प्रकार कबीरदास ने भी कहा है कि जब मन विकार रहित और कुटिलता रहित हो जाता है, तो वह परमेश्वर के निकट पहुँच जाता है। अतः साधक को सांसारिकता से ऊपर उठकर भक्ति करनी चाहिए, तभी वह परमेश्वर के निकट पहुँच सकता है–

t eu ugh rt fodkjk] D;s frfj;s Hkkb ikjkA
tc eu NkMs dfVykb] rc vkbs fey jke jkbAA[13]

लेकिन जब तक जीव झूठे मान सम्मान पर गर्व करता है तथा अहं भाव से रहता है, तब तक वह परमेश्वर के निकट नहीं पहुँच सकता, अतः इन सबका त्याग करना अथवा इनसे मुक्त होना अतिआवश्यक है। ऐसा करने से ही निर्वाण प्राप्ति संभव है। सन्त दादूदयाल इसी बात को कहते हैं कि –

>Bk xo xeku rft] rft vkik vfHkekuA
nkn fnu xjhc g] ik;k in fuckuAA[14]

सन्त दादूदयाल ने कहा है कि उस निराकार, सर्वशक्तिमान परमेश्वर तक पहुँचने के लिए व्यक्ति को अहंकार से मुक्त होना चाहिए। जब तक व्यक्ति विभिन्न दुर्गुणों से युक्त रहता है, तब तक वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। दादूदयाल का मुख्य उद्देश्य अपने अध्यात्म चिन्तन द्वारा धार्मिक–सामाजिक आडम्बरों को दूर करना था। इसीलिए दादूदयाल तथा अन्य सन्त कवियों ने दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष पर जोर न देकर व्यवहारिक पक्ष पर जोर दिया। उन्होंने जिस ब्रह्म का वर्णन किया, वो सर्वत्र विद्यमान है अर्थात सृष्टि के कण कण में व्याप्त है, जिससे जुड़ने के लिए या जिसकी आराधना के लिए किसी विशेष जाति या लिंग का होना आवश्यक नहीं है और न ही किसी शास्त्रज्ञान या पोथी ज्ञान की आवश्यकता है। उस परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए प्रेम पूर्वक स्मरण करना ही पर्याप्त है। अतः सन्त दादूदयाल का आध्यात्मिक चिन्तन उन लोगों से भी जुड़ता है, जिनको समाज की मुख्यधारा से बहिष्कृत कर दिया गया था। निम्न वर्ग के धार्मिक–सामाजिक प्रतिष्ठा हेतु दादूदयाल ने प्रयत्न किया, उनका अध्यात्म चिंतन इसी ओर है। अतः सन्त दादूदयाल का अध्यात्म चिंतन केवल ब्रह्म, जीव, माया, मोक्ष का वर्णन ही नहीं करता, अपितु समाज में मानवता की स्थापना का प्रयास भी करता है।

lnHk %

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (प्रथम खण्ड) –गणपति चन्द्र गुप्त, प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद, नवम् संस्करण 2010, पृ0सं0, 1–163
2. हिन्दी सन्त साहित्य के स्रोत –डॉ0 विनीता कुमारी, प्रकाशक : संजय प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली– प्रथम संस्करण –2004, पृ0सं0, 2–135
3. सन्तों की सांस्कृतिक संसृति (भक्तिकालीन कविता के आलोक में) डॉ0 रामसजन पाण्डेय, प्रकाशक, उपकार प्रकाशन शाहदरा दिल्ली–53, प्रथम संस्करण–1995, पृ0सं0, 3–126,4–127,5–145, 6–156, 9–164, 10–165, 11– 166, 12–173, 13–172, 14–173
4. कबीर ग्रन्थावली –सम्पादक : श्यामसुन्दरदास, प्रकाशक : विजय प्रकाशन मन्दिर (प्रा0) लिमिटेड वाराणसी, संस्करण : 2012 ई0, पृ0सं0, 8–157

***

nfD[kuh fgUnh dk lkfgR;

Yk{e.k Áslkn xIrk*

दक्खिनी हिंदी साहित्य का विस्तार चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक है। इस भाषा में साहित्य की रचना लगभग छः शताब्दियों तक अनवरत होती रही, किंतु इतने बड़े कालखंड के साहित्य का अपना इतिहास बहुत बाद में लिखा गया। इस भाषा और साहित्य का अध्ययन लंबे समय तक विद्वानों और आलोचकों की निगाह से ओझल रहा। सर्वप्रथम फ्रेंच इतिहासकार गार्सा द तासी ने 'इस्तवार द लितरेत्युर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी' (1839 ई0) में दक्खिनी हिंदी साहित्य पर प्रकाश डाला। लेकिन, जब 1910 ई0 में हकीम सैयद शमशुल्लाह क़ादरी ने 'क़दीम शैरा–ए–उर्दू' शीर्षक लेख लिखा, जिसमें आदिलशाही, कुतुबशाही और मुग़लकाल के दस कवियों का उल्लेख किया, तो इसके बाद अनेक विद्वानों की दृष्टि इस समृद्ध साहित्य परंपरा की ओर गई। हमारे समय में 'उर्दू' आलोचना की चाहे जो स्थिति हो, परंतु बीसवीं सदी के आरंभ में यह बेहद सक्रिय थी। इसका प्रमाण यह है कि हिंदी की अपेक्षा उर्दू आलोचकों का ध्यान दक्खिनी साहित्य की ओर पहले गया। इसके पीछे एक कारण इस साहित्य का फ़ारसी लिपि में होना भी रहा होगा। उर्दू साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों ने इसका मुकम्मल इतिहास प्रस्तुत करने के साथ–साथ काल विभाजन और नामकरण का भी प्रयास किया। इस दृष्टि से दक्खिनी साहित्य के शोधार्थी नसीरुद्दीन हाशमी का 'दकन में उर्दू' (1923 ई0) महत्त्वपूर्ण है। हकीम सैयद शमशुल्लाह क़ादरी के 'क़दीम शैरा–ए–उर्दू' लेख के बाद यह पहला बड़ा प्रयास था। नसीरुद्दीन हाशमी ने कवियों का संक्षिप्त जीवन–वृत्त और उनके ग्रंथों के उदाहरण प्रस्तुत किये। उन्होंने उर्दू के उद्भव और विकास के अंतर्गत ही दक्खिन का काल–विभाजन किया है–

दौर	काल	हिजरी सन्
1	बहमनी काल	747 –900
2	(क) कुतुबशाही काल, (ख) आदिलशाही काल, (ग) निज़ामशाही काल, (घ) बरीदशाही काल	901–1180
3	मुग़लकाल	1101–1136
4	आसफ़िया काल	1136–1220
5	आसफ़िया काल	1220–1301
6	आसफ़िया काल	1301–1375
7	जामिया उसमानिया	1336–1375
8	आंध्र में उर्दू	–

यह काल विभाजन उर्दू साहित्य की पृष्ठभूमि में किया गया है, जो दक्खिनी साहित्य के विवेचन या मूल्यांकन के लिए अधूरा सबित होता है। ख़्वाजा बंदा नवाज़ गेसू दराज़ (1312–1412 ई0) से शुरू हुई दक्खिनी वली दकनी (1668–1744 ई0) के बाद समाप्त हो जाती है। इसके बाद दक्खिन विशुद्ध 'उर्दू' का केन्द्र हो जाता है। अतः दक्खिनी का मूल्यांकन करते समय वली दकनी के बाद साहित्य–विवेचन संगत नहीं जान पड़ता।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

नसीरुद्दीन हाशमी के बाद डॉ0 सैयद मुहिउद्दीन क़ादरी 'ज़ोर' ने अपनी पुस्तक 'दकनी अदब की तारीख़' (1958 ई0) में दक्खिनी को चार कालों में विभाजित किया है –

(1). बहमनी काल – 1350–1525 ई0
(2). आदिलशाही काल – 1490–1686 ई0
(3). कुतुबशाही काल – 1508–1687 ई0
(4). मुग़ल काल – 1686–1750 ई0

यह सुविधाजनक और तर्क संगत काल–विभाजन है, जो दक्खिनी साहित्य पर ही केंद्रित है। हिंदी विद्वानों में सर्वप्रथम डॉ0 बाबूराम सक्सेना का ध्यान दक्खिनी साहित्य की ओर गया। उन्होंने 'दक्खिनी हिन्दी' (1952 ई0) में कुछ कवियों की रचनाओं को सम्मिलित किया। हिंदी विद्वानों में दक्खिनी साहित्य के काल–विभाजन का पहला प्रयास महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने 'दक्खिनी हिन्दी काव्य धारा' (1959 ई0) में किया। उन्होंने सम्पूर्ण दक्खिनी साहित्य को तीन कालों में विभाजित किया है –

(1). आदिकाल – 1400–1500 ई0
(2). मध्यकाल – 14500–1657 ई0
(3). उत्तर काल – 1657–1840 ई0

महापंडित राहुल सांकृत्यायन के काल–विभाजन में डॉ0 परमानंद पंचाल ने कई समस्याएँ बताई हैं, लेकिन महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा' की कोई भूमिका नहीं लिखी है, अथवा काल–निर्धारण की विवेचना भी नहीं की है। उन्होंने 'कवि–सूची' के अन्तर्गत पहला खंड 'आदिकाल', जिसमें 7 कवि, दूसरा खंड 'मध्यकाल' जिसमें 15 कवि और तीसरा खंड 'उत्तरकाल', जिसमें 14 कवियों का नाम भर दिया है। कवियों का संक्षिप्त जीवन–परिचय और उनकी कुछ रचनाएँ ही शामिल हैं।

डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा द्वारा संपादित हिन्दी साहित्य में भी दक्खिनी साहित्य का काल–विभाजन किया गया है –

(1). बहमनी युग – 1347–1524 ई0
(2). आदिलशाही कुतुबशाही युग – 1490–1687 ई0
(3). मुग़ल युग – 1687–1722 ई0

दक्खिनी साहित्य के प्रख्यात विद्वान डॉ0 श्रीराम शर्मा ने 'दक्खिनी हिन्दी साहित्य' में सम्पूर्ण दक्खिनी साहित्य को तीन खंडों में विभाजित किया है –

(1). प्रथम खंड – 1300–1600 ई0
(2). द्वितीय खंड – 1600–1675 ई0
(3). तृतीय खंड – 1700–1850 ई0

इस काल–विभाजन में भी असंगति है। उन्होंने प्रथम खंड में निर्गुण भक्ति के अन्तर्गत हिंदी के आदि कवियों को शामिल किया है, जो संगत नहीं जान पड़ना। उनके द्वितीय और तृतीय खंड के बीच पचीस वर्षों का अंतराल स्पष्ट नहीं हो पाता।

दक्खिनी साहित्य के प्रख्यात शोध अध्येता और 'दक्खिनी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1986 ई0) नामक चर्चित पुस्तक के लेखक डॉ0 इक़बाल अहमद ने भी दक्खिनी साहित्य को तीन कालों में विभाजित किया है –

dky	le;	'kkld {k=
आदिकाल	1300–1525 ई0	बहमनी शासनकाल
पूर्व मध्यकाल	1526–1690 ई0	निज़ामशाही शासनकाल (अहमदनगर), आदिलशाही शासनकाल (बीजापुर), कुतुबशाही शासनकाल (गोलकुण्डा), बरीदशाही शासनकाल (बदिर)
उत्तर मध्यकाल	1619–1850 ई0	मुग़ल शासनकाल लगभग पूरा दक्षिण (औरंगाबाद केन्द्र के रूप में), आसफिया शासनकाल (हैदराबाद और सभी प्रवर्ती प्रदेश)

'दक्खिनी हिन्दी काव्य संचयन' की विस्तृत भूमिका में डॉ0 परमानंद पांचाल ने यह विचार व्यक्त किया है, ''यह सही है कि मुसलमानों के दक्षिण पर आक्रमण और देवगिरि को राजधानी बनाए जाने के बाद दकन में उत्तर से आई खड़ीबोली का प्रचार बढ़ा और इस भाषा ने साहित्यिक रूप ग्रहण कर लिया, जिसका इस प्रदेश पर सांस्कृतिक और भाषाई प्रभाव भी पड़ा। किन्तु, यह मानना पड़ेगा कि अलाउद्दीन और मुहम्मद तुग़लक के आक्रमण से पहले भी इस्लाम का प्रभाव दक्षिण भारत पर पड़ रहा था। अरब और भारत के व्यापारिक संबंध इस्लाम के उदय से भी पूर्व के हैं। भारत के दक्षिणी तट पर अरबों की बस्तियाँ थीं। मालाबार तट पर अरब के व्यापारियों के जहाज़ आते रहते थे। चाउल, कल्याण और सोपारा में अरब बस्तियाँ थीं। इस्लाम के उदय के बाद व्यापारियों के साथ इस्लाम प्रचारक भी सीधे दक्षिण में आते रहे। इब्ने–बतूता ने अपनी भारत यात्रा में कालिकट, कर्नाटक और मालाबार के अनेक स्थानों का उल्लेख किया है जहाँ मुस्लिमों की आबादी थी और अनेक सूफ़ी संत अपने मतों का प्रचार कर रहे थे। .....मराठी के अनेक निगुर्ण संत कवियों ने तत्कालीन हिन्दी भाषा में भी अपनी रचनाएँ की थीं। दामोदर पंडित (1287 ई0), संत नामदेव (1270–1350 ई0), संत ज्ञानेश्वर (1275–1297 ई0) गोंदा (1300–1351 ई0), एकनाथ (1528–1599 ई0), तुकाराम (1568–1649 ई0) आदि संत कवियों की हिन्दी रचनाएँ इस बात का साक्ष्य हैं कि दक्खिन में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में केवल इस्लाम के अनुयाइयों और सूफ़ी संतों का ही हाथ नहीं रहा; शैव, वैष्णव, नाथ, जैन और महानुभाव जैसे पंथों के अनुयाइयों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।''

यह तो दक्षिण में परंपरा से चला आ रहा साहित्य–सृजन था। जिसमें देवनागरी लिपि में रचनारत साहित्यकार और अरबी की सूफ़ी परंपरा के प्रचारक दोनों शामिल हैं। 'उर्दू' के आलोचकों ने देवनागरी लिपि के साहित्य को 'उर्दू' साहित्य के विकास में शामिल नहीं किया है। जबकि दक्खिनी के संतों की परंपरा का समृद्ध और विकसित रूप उत्तर भारत के भक्ति–आंदोलन में देखा जा सकता है। नामदेव, ज्ञानेश्वर जैसे संतों के बिना भक्ति आंदोलन की परिकल्पना अधूरी होगी। दूसरी तरफ अरबी–फ़ारसी की लिपि में रचनारत कवि भी पहले से विद्यमान थे। ऐसा कतई नहीं था कि दिल्ली से दौलताबाद जाने के बाद मुसलमानों का बसाव दक्षिण में हुआ। यह परंपरा तो इस्लाम के उदय से भी पूर्व थी। इस प्रकार, एक पृष्ठभूमि दक्खिन में पहले से बनी हुई थी।

अलाउद्दीन खिलज़ी और मुहम्मद तुग़लक के दक्षिण की ओर जाने से पूर्व वहाँ एक मिली–जुली संस्कृति रची बसी थी। हाँ, यह ज़रुर कहा जा सकता है कि उसका साहित्य उतना मुखर या समृद्ध नहीं था जितना कि दक्खिनी भाषा ने उसे मुखर और समृद्ध बनाया। यह इसलिए संभव हो सका कि दिल्ली से दौलताबाद गये कामगारों और कलमकारों के पास आपसी समझ कि एक मिश्रित बोली थी, जिसे शेख़ फरीद और अमीर ख़ुसरों सरीखे व्यक्तित्व ने नई पहचान दे दी थी। उसे साहित्य के अनुरूप बना दिया था।

इन सूफ़ी संतों ने अपनी शाश्वत और सार्वदेशिक रचनाओं से दक्खिनी के रूप में हिंदी साहित्य को ही गौरवान्वित किया है। 'दक्खिनी भाषा' के अंतर्गत दक्खिन में जो प्रसिद्ध रचनाएँ हुईं, वे निम्न हैं–

Ø-l-	dfo	jpuk
1.	ख्वाज़ा बंदानवाज गेसू दराज़	मेराजुल आशकीन, हिदायतनामा, चक्कीनामा, शिकारनामा
2.	फ़ख़्रुद्दीन निज़ामी बीदरी	कदमराव–पदमराव
3.	शाह मिराँजी शम्सुल उश्शाक	सबरस, खुशनामा, खुशनग्म, बाशारतुलजिक्र
4.	कुत्बुद्दीन क़ादरी 'फीरोज़' बीदरी	पिरतनामा (1564 ई0)
5.	सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह (द्वितीय)	'जगतगुरु' नौरस (1599 ई0)
6.	मुल्ला वज़ही	कुतुबमुश्तरी (1609 ई0), सबरस
7.	लुत्फ़ी	निकातुश्शोरा
8.	सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह	दकनी में पहला 'दीवान' (कविताओं का संग्रह)

9.	मुल्ला ग़व्वासी	मैना सतवन्ती (1608 ई0) सैफुलमुलूक व बदी उज्जमाल (1624 ई0), तूतीनामा (1639 ई0)
10.	आजिज़	लैला मजनूँ (1630 ई0)
11.	मुहम्मद इब्राहीम खाँ 'सनअती'	किस्सा–ए–बेनज़ीर (1642 ई0), गुलदस्ता (1646 ई0)
12.	नुस्षती गुलशन–ए–इश्क (1658 ई0),	आलीनामा (1666 ई0)
13.	इब्ने निशाती	फूलबन (1666 ई0) तारीख़े इश्कंदरी (1670 ई0)
14.	शाह बुराहनुद्दीन जानम	इर्शादनामा
15.	अब्दुल	इब्राहीमनामा
16.	तबई	बहरामो–गुल अंदाम (1670 ई0)
17.	फायज़	रिज्वाँ शाह व रूह अफ़ज़ (1682 ई0)
18.	सैयद मीराँ हाशमी	युसूफ़–जुलेखा (1687 ई0)
19.	मोमिन दकनी	इसरारे–इश्क़ (1683 ई0), मेराजनामा (1680 ई0)
20.	इशरती	दीपक–पतंग (1695 ई0)
21.	अमीन गुजराती	यूसुफ़–जुलेखा (1698 ई0)
22.	क़ाज़ी महमूद बहरी	मनलगन (1700 ई0)
23.	शेख़ वजीहुद्दीन 'वजदी'	पंछीबाछा (1719 ई0), मख़्जने–इश्क़ (1731 ई0)
24.	वली दकनी	दीवान (450 ग़ज़लें, 6 क़सीदे, 2 मसनवियाँ अनेक बंद)

lanHkZ %

1. यह काल–विभाजन 'दक्खिनी हिन्दी काव्य संचयन' में डॉ0 परमानंद पांचाल ने उद्धृत किया है। 'दकन में उर्दू' (1923 ई0) में छः दौर ही हैं, जो 747 से 1336 हिजरी तक का ही मूल्यांकन करते हैं। परन्तु, उपर्युक्त काल विभाजन 'दकन में उर्दू' (1963 ई0) के संशोधित संस्करण से है। देखें, पृ0 67–68
2. पांचाल, डॉ0 परमानंद : दक्खिनी हिन्दी काव्य–संचयन, पृ0 68
3. सांकृत्यायन, महापण्डित राहुल : दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा, पृ0 07–08
4. पांचाल, डॉ0 परमानंद : दक्खिनी हिन्दी काव्य–संचयन, पृ. 639
5. 'दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा' (1959 ई0) के कवि–सूची में छपाई की त्रुटि है। इसके साथ ही काल–निर्धारण का समय और कवियों का क्रम त्रुटिपूर्ण है। दरअसल, वजही (1609 ई0) का क्रम आठवाँ है, और ये 'मध्यकाल' के बजाय 'आदिकाल' में छप गया है। जबकि पुस्तक के अंदर का विभाजन सही है। इसी त्रुटि के हवाले से डॉ0 परमानंद पांचाल ने महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन के विभाजन को तर्कसंगत नही माना है; जबकि वजही से मध्यकाल शुरू करने का कारण उनका कुतुब–मुश्तरी' (1609 ई0) और उनकी ख़्याति रही हो। डॉ0 पांचाल ने नुस्त्रती को उत्तरकाल में रखे जाने पर भी आपत्ति जताई है, क्योंकि उनका मानना है कि इसकी शुरुआत 1687 ई0 से होनी चाहिए थी। मेरे ख़्याल से राहुल जी ने काल–विभाजन की सीमा रेखा रचनाओं के काल और उसकी प्रसिद्धि को बनाया है, न कि घटनाओं को। नुस्त्रती का 'गुलशन–ए–इश्क़' (1657 ई0) में लिख जाता है। राहुल जी को 1840 ई0 तक तुराब दखनी की रचना 'बाराबहार' (1840 ई0) में दक्खिनी का स्वरूप दिखाई पड़ता है। यही वजह है कि उत्तरकाल का समापन सन् 1840 ई0 में होता है।
6. पांचाल, डॉ0 परमानंद : दक्खिनी हिन्दी काव्य–संचयन, पृ. 69
7. शर्मा, डॉ0 श्रीरामः दक्खिनी हिन्दी का साहित्य, पृ0 04
8. अहमद, डॉ0 इकबाल : दक्खिनी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ0 33
9. पांचाल, डॉ0 परमानंद : दक्खिनी हिन्दी काव्य–संचयन, पृ0 17–18

***

fxjfefV;k Áokl v©j Áoklh fgUnh Y¨[ku

vfdrk p©/kjh*

आज विश्व के क्षितिज पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिधियों के साथ ही साथ विचार आयाम में अभिनव दिशा, दृष्टि व नई तरह की समझ का विकास हुआ है। अतीत सदैव ही प्रत्याशित–अप्रत्याशित, घटनाओं, क्रिया–कलापों के व्यापार से भरा होता है। नए और पुराने जीवन दृष्टि के अन्तर्विरोध सर्वत्र ही मौजूद होते हैं। इसी कारण दुनिया को देखने, समझने का नजरिया भी भिन्न–भिन्न चेतनात्मक स्तरों को उजागर करता रहता है। भारतीय और पाश्चात्य जीवनदृष्टि के संदर्भ में भी यही विभिन्न रूप 'प्रवासी साहित्य' में देखने को मिलता है।

प्रवासियों के ऐतिहासिकता पर नजर डालें तो, प्रवास प्रथा, राजनीतिक संबंध और रोजगार के कारण ही सम्भावित होता था। प्रथा के तौर पर 'दास प्रथा' तथा 'शर्तबंदी प्रथा' का नाम उजागर होता है। 'दास प्रथा' ऐतिहासिक रूप से बहुत ही पुरानी प्रथा रही है। प्राचीन यूनानी, रोमन, मिश्र तथा इस्लामी सभ्यताओं में 'दास प्रथा' का चलन था। युद्ध के बाद के स्थिति में विजेता जातियां, सम्प्रदाय, कबीला, पराजित को 'दास' बना लेता था। यह चलन राजतंत्र में भी मौजूद था। भारत में सल्तनत काल के कुतुबुद्दीन ऐबक इल्तुतमिश, बलबन जैसे बादशाह भी दासत्व का जीवन व्यतीत कर चुके थे। इसी कारण सल्तनत काल के उस राज्य वशं को गुलाम वंश कहा गया है। नवीन उपनिवेशों की खोज एवं व्यवसायिक औद्योगिकरण के साथ ही 'दास प्रथा' का स्वरूप संस्थात्मक हो गया। कारखानों, खादानों में इन्हीं दासों को मजदूर, श्रमिकों के साथ ही लगा दिया गया तथा इन्हें श्रमिक तबके से नीचे का समझा जाता था। इन्हें इनका श्रम पारिश्रमिक मूल्य विहीन था। युद्ध के अलावा भी, कई विपरीत और विवश परिस्थितियों में कोई भी व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मूल्य लेकर स्वयं को बेंच सकता था। ऐसे में 'दासत्व' के व्यापार को बढ़ावा मिला था और कर्ज चुका न पाने के हालात के चलते, दासत्व के चुवान के किस्से सुनने को मिलते हैं। भौतिक चिन्तन मार्क्स भी अपने जीवन के प्रारम्भिक अवस्था में दास थी। जीवन के इस पक्ष ने न केवल उन्हें प्रौढ़ बनाया, बल्कि उस प्रौढ़ से उपजी विचारधारा ने एक युग चेतना की निर्मिति की है। भारत में ब्रिटिश सत्ता से पहले 'दास' तथा कारीगर सैनिकों के राजतंत्रीय प्रवास के उदाहरण मिलते हैं, परन्तु उपनिवेश सत्ता के दौरान यह प्रक्रिया ज्यादा उग्र हो गई।

सोलहवीं शताब्दी से औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का विस्तार होने लगा था। यूरोप ने दूर–देश के कई हिस्सों में अपने उपनिवेश स्थापित किये थे और उपनिवेश के स्थानीय लोगों का शोषण करते हुए, वे उन्हें जबरन दास, सैनिक तथा घरेलू बँधुवा सेवक के रूप में इस्तेमाल करते थे। एक उपनिवेश के लोगों को, दूसरे उपनिवेश के कार्य–पूर्ति हेतु, लोगों को भेज दिया जाता था। ये लोग इसी अनमने प्रवास, विवशता या भ्रम के शिकार थे।औद्योगिकरण के साथ ही कच्चेमाल की पूर्ति हेतु, अधिक से अधिक मजदूरों की आवश्यकता बढ़ती गई। इन मजदूरों की पूर्ति के लिए प्रशासन ने स्थानीय किसानों को मजदूर के रूप में काम पर लगाया। साथ ही साथ 'बेगार' पर काम भी लिया। प्रशासन की क्रूरता का एक उदाहरण यह भी है कि कैदियों की सजा को आजीवन कारावास में बदलकर, उन्हें दासों की तरह इस्तेमाल किया जाता रहा। उन्हें खेतों और उद्योगों, खानों में लगा दिया गया। औपनिवेशिक सत्ता

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ने मजदूरों की आपूर्ति के लिए दक्षिण अफ्रीका के निग्रो (हब्शी) को जबरन अपने अन्य उपनिवेशों पर भेजा था। अमानवीय व्यवहारों को समझते हुए दासों की दुर्दशा के विरूद्ध 19वीं शताब्दी में 'दास प्रथा' के विरूद्ध आन्दोलन चलाए गए और आगे चलकर 'इस प्रथा के विरूद्ध आधुनिक काल के मानवतावादी चिन्तकों ने दास प्रथा का पुरजोर विरोध किया और 19वी शताब्दी में 'दास प्रथा', रंगभेद के भेदभाव के विरूद्ध आन्दोलन चलाये गये इससे बढ़ते ''जन दबाव के फलस्वरूप ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने 5 जुलाई 1833 को दासता उन्मूलन विधेयक संसद में प्रस्तुत किया, जो ग्यारह महीनों के बहस के बाद 30 अगस्त 1834 को अधिनियम बना। इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य में दासता उन्मूलित कर दी गई तथा बागान मालिकों की क्षतिपूर्ति के लिए बीस लाख मिलियन पौंड की राशि हरजाने के रूप में प्रदान की गई।'' इसके बाद की स्थिति में परिवर्तन आया। उपनिवेशों में कृषि कार्य बंद होने लगे। चीनी उद्योगों पर इसका असर हुआ और वे बंद होने के कगार पर आ गए। मौजूदा स्थिति से उबरने के लिए बगान मालिकों ने औपनिवेशिक मंत्रालयों से सम्पर्क कर उपनिवेश राज्य से कुशल मजदूरों की माँग की। इसी आपूर्ति के दौरान भारत से भी कुशल मजदूरों को ब्रिटिश सरकार ने बड़े पैमाने पर 'शर्तबंदी प्रथा' के साथ अन्य उपनिवेशों पर भेजा था। ''उपनिवेशों के चीनी तथा अन्य उद्योगों को बचाने के लिए श्रमिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु, उपनिवेशवादी शक्तियों ने एक नए ढंग की दासता की शुरुआत की, जिसे नाम दिया गया (शर्तबंद प्रथा)। सर्वप्रथम इस क्रम में मॉरीशस पहला देश है जहाँ 'शर्तबंदी प्रथा' के अन्तर्गत सन् 1834 में भारतीय श्रमिकों को गन्ने के खेतों में काम करने के लिए भेजा गया। उनके जाने से जहाँ एक ओर 'दासप्रथा' समाप्ति के कारण संकट में पड़े चीनी उद्योग को नवजीवन प्राप्त हुआ तो वहीं, धोखे से भेजे गए। गरीब, अनपढ़ भोले–भाले भारतीय श्रमिकों के जीवन में एक ऐसे काले युग की शुरुआत हुई, जिसका अन्त होने में लगभग एक शताब्दी का समय लग गया। 'शर्तबंदी प्रथा' में प्रवास करने वाले लोग ज्यादातर अशिक्षिति थे। वे 'एंग्रीमेंट' शब्द का उच्चारण भी नहीं कर पाते थे, उसे वे 'गिरमिट' कहते थे। बाद में यह लोग 'गिरिमिटिया मजदूर' कहें जाने लगे और इसे 'गिरमिट प्रथा' के रूप में जाना गया। इसे ही 'शर्तबंदी कुली प्रथा';। (grrement System)तथा 'इंडियन इंडेन्चर सिस्टम' भी कहा जाता है। 'इस प्रथा के अन्तर्गत दासता की कठोर बेड़ियां में जकड़कर भारतीय मजदूरों मॉरीशस, फिजी, गुयाना, ट्रिनिदाद, सूरीनाम तथा अन्य कई उपनिवेशों में भेजे गए। महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में इन्हीं भारतीय गिरमिटिया मजदूरों के स्थिति में सुधार के लिए 21 वर्षों तक संघर्ष किया। महात्मा गाँधी ने अपने आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' में लिखा है कि–''गिरमिट' का अर्थ है वह इकरारनामा यानी 'एग्रीमेंट', जिसके अनुसार उन दिनों करीब हिन्दुस्तानी पाँच साल तक मजदूरी करने के लिए 'नेटाल' (दक्षिण अफ्रीका) जाते थे। गिरमिट 'एग्रीमेंट' का अपभ्रंश है और उसी से गिरमिटिया शब्द बना है। इस वर्ग के साथ दूसरों का व्यवहार केवल काम की दृष्टि से रहता था। अंग्रेज इन गिरमिट वालों को 'कुली' के नाम से पहचानते थे और चूँकि वे संख्या में अधिक थे, इसलिए दूसरे हिन्दुस्तानियों को भी 'कुली' कहते थे। 'कुली' के बदले 'सामी' भी कहते थे।'

प्रवासी भारतीय की शब्दावली सर्वप्रथम इन्हीं गिरमिटिया मजदूरों की ओर इशारा करती है। ये गिरमिटिया प्रवासी अपने परिस्थितिजन्य शर्तों के साथ, आज के प्रवासियों की शब्दावली से भिन्न है। ये गिरमिटिया प्रवास व्यवस्था तत्कालीन सत्ता के द्वारा चलाई गई जो प्रारंभ में 'शर्तबंद प्रथा के रूप में 5 वर्षों के अनुबंध पर केन्द्रित थी, इसमें मजदूर को 5 वर्षों के लिए बाहर भेजा जाता था, पुनः वह वापस लौटकर अपने स्वदेश में जमीन खरीद कर पुनर्निवास कर सकता है। प्रवास के दौरान उसे पारिश्रमिक का भी अधिकार था। रोहणी अग्रवाल ने लिखा है–''अंग्रेजों ने 'दास प्रथा की समाप्ति पर 'शर्तबंदी प्रथा' की शुरुआत की जिसके अन्तर्गत केवल पाँच वर्ष के लिए अनुबंध पर भारत से प्रतिमाह पाँच सौ मजदूरों को ले जाने की अनुमति दी गई है। पाँच वर्ष तक अपनी सेवाओं के एवज में भरपूर पारिश्रमिक लेने के बाद ये मजदूर भारत लौटने या द्वीप में कहीं भी जमीन लेकर बसने को स्वतंत्र घोषित कर दिये गए। लेकिन शक्ति सत्ता, पूँजी प्रभुता के मद में चूर कोठी मालिक अनुबंध की शर्तों को बेनामी करते हुए, 'दासप्रथा' को पूर्ववत् जीवित रखें।'' गिरमिटिया मजदूर अपने घर, परिवार से दूर, दुःख

और त्रासद् मनः स्थिति से गुजरते हुए अपने पुनर्वास के लिए संघर्षशील रहे हैं। वे मध्यवर्गीय जीवटता अपनाते हुए अपनी गुलामी से आजादी का संघर्ष जीते रहे हैं। जहाँ वे थे, वहाँ पर उनकी नस्लें जन्म भी ले ले तो, वे रंगभेद और नस्लभेद से पीड़ित होती रही है, परन्तु उनके भीतर जो समाजबोध, सांस्कृतिकबोध पनपा, वो उन्हें नए समाजवादी चिंतक के रूप में चिन्हित करता। उनके अपने अस्तित्व के लिए उत्प्रेरित करता है। जिनके सहारे वे दोहरी नागरिकता में एक नवीन सांस्कृतिक धरातल पर गतिशील हुए हैं।

वर्तमान समाज में उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार विदेश में प्रवासी भारतीयों की संख्या लगभग दो करोड़–चालीस लाख बताई जाती है। विदेश में रहने वाले इन भारतीय प्रवासियों को वर्तमान में दो वर्गों में बांटकर देखा जा सकता है। पहले वर्ग, में वे भारतीय हैं, जो 19वीं सदी के पूर्वार्ध से 20वीं सदी के पूर्वार्ध तक मॉरीशस (1934) गुयाना (1838) त्रिनिदाद (1845), दक्षिण अफ्रीका (1860), सूरीनाम (1879) तथा फिजी (1873) आदि देशों में गिरमिट के रूप में विदेशी एजेंटों द्वारा गन्ने के खेतों में काम करने के लिए जिन्हें 'सुखद भविष्य' के स्वप्न दिखाकर विदेश ले जाया गया और फिर गिरमिट की अवधि के पूरा होने के बाद भी, ये वहीं बसने को मजबूर हुए। ज्यादातर वे वही प्रवासी हैं, जो दासत्व या 'शर्तबंदी प्रथा' के कारण प्रवासी थे। विदेशों में ही बसने की मजबूरी से वे वही रहे, आज वर्तमान में इनकी ही तीसरी, चौथी, पीढ़ियाँ वहाँ मौजूद है। भारतीय मूल के होने के नाते ये आज भी अपने सांस्कृतिक और भाषाई आत्मीयता को खुद से जोड़े हुए हैं। मॉरीशस और फिजी, गुयाना, सूरीनाम आदि देशों में हिन्दी भाषा और भारतीय तहज़ीब में यकीन रखने वाला ऐसा प्रवासी समाज अपने अस्मिताबोध के लिए संघर्षशील है। वे भाषा–संस्कृति को सुरक्षित करते हुए, प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील हैं। इनका यथार्थ जीवन, दोहरे नागरिक जीवन का हिस्सा है, ये इसी जीवनदृष्टि के साथ तत्कालीन समाज, सत्ता, राजनैतिक मंचों पर सम्मानित होते रहे हैं। 'मॉरीशस, के शिवसागर गुलाम, फीजी के महेन्द्र चौधरी, त्रिनिदाद के वासुदेव पांडे इसका उदाहरण हैं।

दूसरी कोटि में वे प्रवासी भारतीय है, जो 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत के 'संवैधानिक स्वाधीनता' के बाद विकसित देशों में चले गये। इसका प्रवास शिक्षा–रोजगार संबंधी था। ये सामान्यतः स्वदेश–विदेश आते–जाते रहे हैं और दोहरी नागरिकता के संवैधानिक अधिकार में आते हैं। ये सुविधा सम्पन्न भारतीय के रूप में जाने जाते हैं। यद्यपि भारतीय मूल निवासियों के तौर पर इन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा कम मिली है, क्योंकि ये विदेशों में संगठित नहीं रहे हैं। चीन और भारत के प्रवासी विदेशों में आसानी से घुल मिल नहीं पाते। वे मिलकर संगठनात्मक रूप से, जुड़कर रहते हैं। विदेश में स्वदेश का छोटा हिस्सा बना लेते हैं। 'अमेरिका का 'न्यूजर्सी', इंग्लैण्ड का 'मिडिल सेक्स', मलेशिया में 'मस्जिद् इंडिया' और सिंगापुर का 'लिटिल इण्डिया', सऊदी अरब में 'लिटिल एशिया' आदि।' ये सभी संगठन प्रवासी समूह ही हैं जो अपनी–अपनी सामुदायिक संचेतना के सांस्कृतिक बोध के ढाँचे की नवीन व्याख्याएँ सामने रखते हैं।

गिरमिटिया भारतीय प्रवासियों की तीसरी–चौथी, पांचवीं पीढ़ियाँ सामान्य जीवन में अपने देशज (अवधी, भोजपुरी तथा बिहारी आदि) की बोलियों का व्यवहार करती है, जिससे स्थानीय परिवेश के साथ इन्हीं देश बोलियों के नवीन संस्करण का प्रादुर्भाव हो गया। फिजी में 'फीजीबात', सूरीनाम में 'सरनामी' और दक्षिण अफ्रिका में 'नेताली' के भाषारूप मिलते हैं, जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी के रूप में पहचान मिली है। इन भाषाओं में आज कविता, कहानी, निबंध, उपन्यास आदि रचनाविधाओं में लेखन सम्पादित हो रहा है। इनसे जुड़े रचनाकार विश्वफलक पर हिंदी लेखक के रूप में पहचाने जा रहे हैं और प्रतिष्ठित हो रहे हैं। ''फिजी के 'कमलाप्रसाद मिश्र', विवेकानंद शर्मा, रामानारायण, महावीर मिश्र, काशीराम कुमुद, ज्ञानी सिंह, सुब्रमणी, मॉरीशस के अभिमन्यु अनंत, प्रहलाद रामशरण, बृजेन्द्र कुमार भगत मधुकर, मुनीश्वरलाल चिंतामणि, रामदेर धुरंधर .....सूरीनाम के मुंशी रहमान खाँ, अमरसिंह रमण, सुरजन परोही, जीतनराइन, गिनिदाद की ममता लक्ष्मना, हरिशंकर आदेश; गुयाना के रंडल बूटी सिंह, रामलाल, दक्षिण अफ्रिका के पंडित तुलसीराम पाण्डेय, प्रो0 रामभजन सीताराम, उषा देवी शुक्ल, रामविलास, भवानी

प्रीतिपाल, चम्पा वशिष्ठ मुनि, मालती रामबली इत्यादि हिंदी के प्रसिद्ध लेखक हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है तथा भारत में साहित्यकार के रूप में पढ़े जाते हैं और चर्चित हैं।''

प्रवासी भारतीय हिन्दी साहित्य विशेषतः भारतीयों के विदेश आगमन, उनकी द्वन्द्वात्मक संघर्ष की जीवनदृष्टि और परिवेशगत अंतर्विरोधों का जीवंत दस्तावेज है। इस साहित्य के सृजनात्मक चेतना का मूल प्रवास की पीड़ा है, जो वर्तमान के सापेक्ष ही विविध सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के भीतर उपजी और निरंतर यह प्रश्न उनके सामने रख देती है कि यह नई दुनिया उनके लिए अच्छी है या नहीं। वे इसे कब तक अपना पायेंगे तथा वे कब इन्हें अपना पायेंगे। नस्लभेद, रंगभेद के साथ वे निरंतर अपने अस्तित्व, अस्मिता की टोह, टटोलते रहते हैं। इस मूल सांस्कृतिक जीवटता के साथ वहीं जन्मी पीढ़ियाँ भी अलगावाद का शिकार होती है। जो प्रवासी होने का दंश है।

प्रवासी भारतीय हिंदी कथाकारों–कवियों ने इन्हीं जीवनमूल्यों के अन्तर्विरोधों, जीवनदृष्टियों, परिवेश–परिस्थितियों के सांस्कृतिक–सामाजिक टकराहट को अपने लेखन का विषय चुना है। उनके जीवन के द्वन्द्वात्मक भूमिकाओं को ये रचनाएं पुष्ट ही नहीं करती, बल्कि 'प्रवासी' जीवन के समस्त पहलुओं को संवेदित करती है। जर्मनी में रहने वाली प्रवासी हिंदी लेखिका 'मीनाक्षीपुरी' का उपन्यास 'जाने पहचाने अजनबी' (1977) और 'देस निकाले', 'सात फेरे अधूरे' का कथ्य इन्हीं आधे–अधूरे से पनपी व्यक्तिगत मानसिक अस्थिरता और ग्लैमर वर्ल्ड के चकाचौंध के तले जी रहे खोखलेपन से आक्रांत लोगों की असहाय स्थिति को बयां करता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और बौद्धिकता को आधार बनाकर, 'प्रवासी जीवनमूल्यों पर केन्द्रित 'उषा प्रियंवदा' का लेखन 'रुकोगी नहीं राधिका' तथा 'शेष यात्रा', पाश्चात्य संदर्भों में संघर्षरत भारतीय पात्रों के अस्मिताबोध से जुड़े प्रश्नों तथा समस्याओं को सामने लाता है। वहीं भारतीय प्रवासी लेखक महेन्द्र अल, जिनका जीवन इंग्लैण्ड में बीता है। वे 'भोगे हुए यथार्थ' से उपजे मोहभंग को केन्द्र में रखकर लिखते रहे हैं। उनका पहला उपन्यास 'दूसरी तरफ' (1976) में प्रकाशित हुआ तथा दूसरा 'उड़ने से पेशतर' (1987) में आया। इसमें रंगभेद से उपजी समस्याओं तथा गिरमिटिया जीवन के कचोट का अंश है। जहाँ स्वदेश वापसी की उम्मीद को जिंदा रखने का हर सम्भव प्रयत्न हुआ है। 'उड़ने से पेशतर' में लेखक ने लिखा है–''असल में इंग्लैण्ड में रह रहे, पहली पीढ़ी के तमाम अप्रवासी हिन्दुस्तानी वापस हिन्दुस्तान लौटने की बड़ी तमन्ना रखते हैं। एक–न–एक दिन घर लौटने की तमन्ना। वे सोचते रहते हैं कि अगर कोई लाटरी निकल आये तो अभी दुस्त चले जाये वरना कुछ पैसा इकट्टा करने के बाद। यो रिटायर होने के बाद हर हालत में। मगर धीरे–धीरे सबकी नहीं तो अधिकांश की समझ में आने लगता है कि वे शायद लौट नहीं पाएंगे।'' 'अमरीका प्रवासी' जीवन पर अपनी लेखनी चला रहे प्रवासी रचनाकार 'योगेश कुमार' जी ने 'टूटते–बिखरते लोग', 'सूखा स्वर्ग', 'बोइंगा' जैसे आलोचनात्मक उपन्यास लिख चुके हैं। इसमें उपस्थित पूँजीवाद अमेरीका के व्यवस्था की छानबीन करता है। विकसित और प्रगतिशील समृद्ध देश अमेरिका के राजनैतिक उठापटक, सांस्कृतिक द्वन्द्व तथा भारतीय अल्प संख्यकों के बिखरे जीवनसूत्रों का पूरा खाका खींचकर सामने रख देता है। मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रत्येक पात्र द्वारा अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को तार्किक पहलुओं के साथ रचना में सामने आता हैं। 'काला हंस' (1985) 'शालिग्राम शुक्ल' तथा सोमावीरा कृत 'दो आँखों वाले चेहरे (कहानी संग्रह) तथा राजकुमार कृत 'समुद्र', 'एक लम्बा रास्ता' आदि रचनाएँ ऐसी ही परिस्थिति विशेष का विश्लेषण विविध पक्षों के साथ रखती है।

'गिरमिट प्रवास' को ध्यान में रखकर लिखने वालों में मॉरीशस' के प्रवासी हिंदी लेखक 'अभिमन्यु अनत' का नाम विशेष तौर से उल्लेखनीय और प्रासंगिक रहा है। उनकी समस्त रचनाएँ 33 की संख्या में प्रकाशित हुई है। 'लाल पसीना' पर उन्हें भारतीय का हिन्दी साहित्य अकादमी' पुरस्कार मिल चुका है। 'गिरमिटिया मजदूरों' की संघर्ष गाथा कहती उनकी रचना के विषय में 'खगेन्द्र ठाकुर ने लिखा है–''यह उपन्यास न केवल अभिमन्यु अनत की औपन्यासिक प्रतिभा का अनोखा दृष्टांत है तथा न केवल मॉरीशस में हिंदी लेखन के विकास का अद्भुत उदाहरण है, बल्कि इस उपन्यास की कथा, कथा की घटनाओं में ब्रिटिश साम्राज्य की बर्बर भूमिका, उपनिवेशों में उसके द्वारा की गई ठगी का इस तरह संयोजन है, जैसा कि हिन्दी के किसी भारतीय लेखक ने नहीं किया। प्रेमचन्द के उपन्यास भारत में ब्रिटिश

साम्राज्य के अधीन सामंती जुल्म की कथा मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। लेकिन अभिमन्यु अनत का 'लाल पसीना' भारत की गरीब जनता को बहला–फुसलाकर उपनिवेश के दूसरे देशों में ले जाकर बर्बरता के जो कृत्य किए गए उनको हमारे सामने प्रस्तुत करता है। 'लाल पसीना' को पढ़े बिना ब्रिटिश साम्राज्य के द्वारा भारतीय जनता के निर्मम शोषण की कथा पूरी नहीं होती।.... गोदान का ही एक भाग है 'लाल पसीना' इस प्रकार 'लाल पसीना' तीसरी दुनिया में विकसित यथार्थ यानी औपनिवेशिक यथार्थ के द्वन्द्व को साकार कर ऐतिहासिक काम करता है।'' अभिमन्यु अन्नत जी के ही दृष्टांतों की अगली कड़ी में मॉरीशस के हिन्दी प्रवासी लेखक 'रामदेव धुरन्धर जी' का नाम प्रासंगिक रहा है। उनके विषय में रोहणी अग्रवाल जी ने लिखा है–''अभिमन्यु अनन्त की तरह रामदेव धुरन्धर भी गिरमिटिया इतिहास को 'पूछो इस माटी से' उपन्यास में पुनर्सृजित करते हैं। 'रामदेव धुरन्धर' गिरमिटिया इतिहास का पुनरावलोकित पूर्वलोकित करने के प्रयास में अनायास ही अतिरिक्त स्थानों की पूर्ति करते चलते हैं। जिन्हें अभिमन्यु अनंत 'लाल पसीना' और 'गाँधी जी बोले थे।' में छोड़ आए थे।''

विश्व के भिन्न–भिन्न देशों में हिंदी में होने वाला यह लेखन, विश्वफलक पर हिंदी की साहित्यिक उपलब्धियों का वैशिष्ट्य है। कुछ भारतीय चिंतक उसे, भारत में हो रहे, हिन्दी लेखन के रचनात्मक मानदण्डों की कसौटी पर तौलकर, उस पर अपने नजरिए रखते हैं, जो उचित नहीं लगता। प्रवासी हिंदी रचनाएं परिवेशगत भिन्नता के साथ सम्पन्न हो रहा स्वतंत्र लेखन है; जो राजनीतिक परम्परा समाजवाद के दबाव में सृजित नहीं हुआ है। अतः इस तरह के लेखन का मूल्यांकन स्वतंत्र स्तर पर, प्रवासी लेखन के वैशिष्ट्य के साथ ही होना, न्यायसंगत है। यही हिन्दी के अंतरराष्ट्रीयता को लक्षित भी करता है। भारत के बाहर भी हिंदी का प्रकाशन लेखन और संस्थात्मक संगठनों द्वारा उसे प्रोत्साहन किया जाना उसके वृहत्तर पाठक–समाज और भाषा परिवार को उसके अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को दर्शाता हैं। भारत में इन रचनाकारों के रचनाओं का पाठक वर्ग यद्यपि इन्हें उसी परिवेशगत अर्थबोध के साथ नहीं ग्राह्य कर पाता तथा भाषा और रचनात्मक स्तर पर भी एक भिन्नता और एक ठहराव बना रहता है। परंतु यह भी उनके लेखन के, सम्प्रेषणीयता का भावपक्षीय वैशिष्ट्य ही है, जो स्वाभाविक, सहज निष्पक्ष लेखन है। प्रवासी हिंदी लेखक अभिमन्यु अनंत के 'लाल पसीना' की साहित्यिक उत्कृष्टता को देखते हुए ही उन्हें 'हिन्दी साहित्य अकादमी' का सर्वश्रेष्ठ सम्मान प्रदान किया गया है, जो कि हिन्दी और हिंदी की अन्तर्राष्ट्रीय पहचान को समृद्ध करता है। हिंदी के इस तरह के वर्तमान वैश्विक समझ को 'हिन्दी के विश्वफलक पर हस्ताक्षर' कहना गलत न होगा। इसे हिन्दी भाषा समाज और भारतीय संस्कृति के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का फलक मानना चाहिए।

InÒ %

1. परमिता अक्टूबर–दिसम्बर 2013, पृ0 49
2. वही, पृ0 49
3. वही, पृ0 52
4. आजकल; जनवरी अंक 2016, पृ0 6
5. वही, पृ0 6
6. वही, पृ0 8
7. महेन्द्र भल्ला–'उड़ने से पेशतर', पृ0 8
8. परमिता, अक्टूबर–दिसम्बर 2013, पृ0 51
9. परमिता अक्टूबर–दिसम्बर 2013, पृ0 52

***

mRrj Hkkjr e lkeUrokn dk fodkl vkj {k=h; jkT;k dk mn;

iouUn dekj d'kokgk*

सामन्तवाद, पूर्व मध्यकालीन समाज की एक प्रमुख विशेषता रही है, जिसने समाज को एक नई सामाजिक–आर्थिक दिशा प्रदान की है। यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसने सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया और लम्बे समय तक राजनैतिक परिदृश्य को नियंत्रित किया। सामन्तवाद का पतन जहाँ यूरोप में आधुनिक काल का प्रवर्तक है,भारत में मध्यकाल के आरम्भ का प्रतीक समझा जाता है। रामशरण शर्मा के अनुसार ''सामन्तवाद की ठीक–ठीक परिभाषा कर पाना कठिन है। इस शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक विकास की भिन्न–2 अवस्थाओं के सन्दर्भ में किया जाता है।''[1] इतिहास परिभाषा कोश के अनुसार कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था पर आधारित सामाजिक,राजनैतिक अर्थव्यवस्था जिसके अन्तर्गत मूर्धन्य सत्ताधारी द्वारा अपेक्षित जन–धन की सहायता अधीनस्थों द्वारा यथा अवसर करनी पड़ती है, सामन्ती व्यवस्था कहलाती है। ये शक्तिशली अधीनस्थ सामन्त कहे जाते हैं।''[2] यूरोप के Feudalism की उत्पत्ति Latin शब्द Feudam से हुआ है। इसी से अंग्रेजी का Fief शब्द बना जिसका अर्थ ऐसे भूभाग से लिया जाता है जो फौजी काम करने के लिये प्रदान किये जाते थे। इस भू–भाग का प्रयोग करने वाले समुदाय को ही सामन्त कहा जाने लगा।[3] यह व्यवस्था न केवल शासक और शासित को, बल्कि राजाओं और सामन्तों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियंत्रित करती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कृषकों को भूमि जोतने के लिये न केवल शुल्क देना पड़ता है वरन् सामन्त द्वारा अपेक्षित अन्य सेवायें भी करनी पड़ती थीं।

भारत में सामन्तवाद के उत्थान और विकास के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों/इतिहासकारों ने अपनी लेखनी चलायी है। इन लेखकों में यू0एन0घोषाल,रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, द्विजेन्द्र नारायण झा, वी0एन0एस0 यादव का उल्लेखनीय योगदान है। सन 1965 में प्रसिद्ध इतिहासकार रामशरण शर्मा द्वारा भारतीय सामन्तवाद नामक पुस्तक प्रकाशित की गयी, जिसमें उनके द्वारा भारत में सामन्तवाद के विकासक्रम को इंगित करते हुए इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। ए0एल0 बाशम ने इस व्यवस्था को अर्द्ध–जागीरदारी व्यवस्था कहा है।[4]

सामन्तवाद शब्द का प्रयोग ईसा पूर्व शताब्दियों से प्रचलित रहा है। कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में सामन्त शब्द का प्रयोग निकट पड़ोसी के रूप में किया गया है। पड़ोसी से प्रतीत होता है कि ये शासक मित्र रहे होंगे या अधीनस्थ या फिर स्वतन्त्र। यदि ये राज्य के प्रति बैर भाव रखते होते तो इनकी गणना शत्रु के अर्न्तगत की गयी होती। मौर्य शासकों ने एक विशाल केन्द्रीकृत साम्राज्य की स्थापनी की। मौर्यों के पतन के पश्चात केन्द्रीय प्रशासन का ढाँचा कमजोर हो गया और अनेक स्वतन्त्र आँचलिक सत्ता के केन्द्रों की स्थापना हुई। भारत में सामन्तवाद का अंकुरण शक कुषाण काल में हुआ तथा गुप्तोत्तर काल अथवा राजपूत काल तक आते–आते यह व्यवस्था पूर्ण रूप से स्थापित हो गयी। रामशरण शर्मा के अनुसार भूमिदान या भूमि अनुदान की प्रथा ने अन्ततः प्राचीन भारतीय समाज को मध्यकाल के संक्रमण तक पहुँचाया और सामन्तवाद ने भारत को मध्यकाल तक।[5]

*शोध छात्र, इतिहास विभाग, रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली

भारत में सामन्तवाद के विकास के सम्बन्ध में रामशरण शर्मा का मत है कि सामन्तवाद का विकास भूमि अनुदानों से हुआ है। शर्मा के अनुसार जान पड़ता है कि इस प्रथा का उद्भव प्राचीन समाज व्यवस्था के आर्थिक आधार पर आये गंभीर संकट से हुआ। मौर्योत्तर काल में तीसरी–चौथी शताब्दी में समाज में प्रचलित वर्ण व्यवस्था नष्टप्राय हो रही थी। वर्णों द्वारा अपने–अपने वर्णधर्म का पालन नहीं किया जा रहा था। इससे सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो गयी और समाज में वर्ण संकरता आ गयी। इस समस्या से निपटने तथा पूर्व कालिक वर्ण व्यवस्था को पुनः स्थापित करने के लिये अनेक उपाय बताये गये। लगभग इसी काल की कृति मनुस्मृति में परामर्श दिया गया कि वैश्यों और शूद्रों को अपने–अपने धर्म से विमुख नहीं होने देना चाहिये। इस स्थिति के निराकरण हेतु पुरोहितों व राज्याधिकारियों को नकद वेतन व दान दक्षिणा के स्थान पर भूमि अनुदान प्रदान करने पर बल दिया गया। इस प्रकार के अनुदान देते समय दान दिये गये, क्षेत्र में कर उगाही तथा शांति व्यवस्था स्थापित करने का दायित्व अनुदानग्रहीता पर डाल दिया गया। इसके अतिरिक्त विजित क्षेत्र के स्थानीय नागरिकों को आज्ञाकारी बनाने तथा राजा के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न करने के साथ–साथ करों की अदायगी का भाव उत्पन्न करने हेतु ब्राह्मणों को भूमि अनुदान प्रदान किये गये। इस प्रकार के भूमि अनुदानों ने मौर्यों द्वारा स्थापित केन्द्रीकृत व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण आरम्भ कर दिया।[6]

चौथी शताब्दी के मध्य से ब्राह्मणों को ऐसे भूमि अनुदान प्रदान करने के प्रसंगों में वृद्धि हुयी। प्रारम्भिक समय में राजा दान देते समय केवल राजस्व वसूल करने व शांति व्यवस्था स्थापित करने का अधिकार अनुदान ग्रहीता को प्रदान करता था।[7] राजस्व के अन्य साधनों यथा चारागाह,नमक,जंगल,खान आदि पर राजा का ही अधिकार होता था। न्याय प्रशासन पर राजा के अधिकार क्षेत्र में रहता था। कालांतर में राजा ने नमक से अपना अधिकार हटा लिया। दक्षिण भारत के पल्लव शासकों द्वारा भूमिदान के समय राज्य के समस्त अधिकारों को त्याग दिया गया। वाकाटक युग में प्रवरसेन द्वितीय द्वारा अनुदान देते समय हम देखते हैं कि राजा प्रायः चारागाह, धर्म,काष्ठागार तथा सभी भूगर्भ संपदा तथा विष्टि आदि राजस्व अनुदानग्रहीता को प्रदान कर देता था। गुप्तोत्तर काल में ही अनुदानित क्षेत्रों में राजकीय कर्मचारी और सैनिकों के हस्तक्षेप का वर्जन करते हुये अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार भी अनुदान ग्रहीता को प्रदान कर दिया। विन्ध्यशक्ति द्वितीय के वासीम ताम्रफलक में राजवित्तीय छूटों की सूची मिलती है। सूची के अनुसार 14 प्रकार की छूटों के साथ कई अन्य प्रकार की सुविधायें प्रदान की गयी है।[8] यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि दण्ड व खान राज्य की संप्रभुता के महत्वपूर्ण तत्व थे। इन तत्वों का अनुदान ग्रहीताओं को स्थानान्तरित करने से स्पष्ट था कि राज्य धीरे–धीरे एवं क्रमिक रूप से अपनी प्रभुसत्ता खो रहा था। केन्द्रीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो रहा था। राज्य के विशेषाधिकार अनुदान ग्रहीताओं ने इस सीमा तक प्राप्त कर लिये कि कालान्तर में स्वयं प्रभुसत्ता का दावा करने लगे। परन्तु वी0एन0एस0 यादव का मत है कि ब्राह्णों को दान दी गयी भूमि जो कि मुश्किल से एक गाँव से अधिक नहीं रही होगी, राजनैतिक सामन्तवाद का स्थायी आधार नहीं हो सकती थी। वह भी ऐसे समय जब दानग्राही धार्मिक तथा बौद्धिक कार्यों में संलग्न रहे हों। कोई भूमि अनुदान ऐसा नहीं मिलता जिससे पता चले कि दानग्राही व्यक्ति सामन्त या राजा बन गया हो। वह ब्राह्मण भूस्वामी हो सकता था, किन्तु सामन्त नहीं। किसी भी भूमि अनुदान पत्र धार्मिक या लौकिक में, सामन्ती अनुबन्ध जैसे सेना रखा,सम्राट के सामने उपस्थित होना आदि की चर्चा नहीं मिलती।[9]

ओमप्रकाश ने भी रामशरण शर्मा के मत से असहमति व्यक्त की है। उनके अनुसार धार्मिक उद्देश्यों से दिये गये भूमिदान या ग्रामदान से सम्बन्धित किसी भी दस्तावेज में दानकर्ता उसमें उल्लिखित अपनी धार्मिक भूमिका का परित्याग करके शासन करता दिखायी नहीं देता। एक भी ऐसा उदाहरण प्राप्त नहीं होता है जिसमें धार्मिक उद्देश्य से भूमिदान अथवा ग्रामदान प्राप्त करने वाले किसी ब्राम्ह्ण की सन्तानों ने दान के मूल उद्देश्यों से हटकर दो या तीन पीढ़ियों ने सामन्त अथवा राजत्व की स्थिति प्राप्त कर ली हो। साहित्य में भी कहीं यदि धार्मिक दान ग्रहीताओं के ठाठ–बाट का वर्णन किया गया है, तो उनकी तुलना मात्र राजसी ठाठबाठ से की गयी है न कि उन्हें राजा घोषित किया गया है।10

गुप्त काल के राज्याधिकारियों को नकद वेतन दिया जाता था परन्तु कुछ विद्वानों का विचार है कि वेतन के बदले में भूमिदान प्रथा भी चल पड़ी थी। इस भूमि से जो उत्पादन होता था वही कर्मचारी का वेतन माना जाता था।[11] साम्राज्य निर्माता शासक इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते थे कि विजित क्षेत्र उनके लिये समस्या न बनें, क्योंकि युद्ध एवं संघर्ष के वातावरण में सम्राटों के लिए किसी एक क्षेत्र में लम्बे समय तक नियंत्रण रखना संभव नहीं था। अतः वे विजित शासको को अपना सामन्त बनाकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे। यह सामन्ती व्यवस्था समुद्रगुप्त के समय बढ़ी तभी प्रयाग प्रशस्ति में स्पष्ट है कि उसने दक्षिण के राज्यों को जीतकर उन्हें कुछ शर्तों पर वहाँ के शासन का अधिकार दोबारा दे दिया।[12] सामन्ती प्रथा के विकास का एक अन्य कारण था कि जब कोई व्यक्ति और उसका परिवार कई पीढियों तक अनुदानित भूमि का उपयोग करता था, तो वह एक प्रकार उसका स्वामी हो जाता था।

गुप्तकाल के प्रारम्भिक दिनों में गुप्त साम्राज्य के केन्द्रीय प्रान्तों का कोई भी सामन्त सम्राट की स्वीकृति के बिना स्वयं भूमिदान नहीं कर सकता था, परन्तु छठवीं शती तक हमें ऐसे प्रमाण मिलने आरम्भ हो गये जहाँ कुमारमात्य महाराज जैसे सामन्त भी बिना सम्राट के आदेश के भूमिदान करने लगे। इससे प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी तक विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति पूर्णतया प्राप्त कर चुकी थी और अब सामन्त अपनी–अपनी भूमि के वास्तविक स्वामी बन बैठे थे। उनके साथ केन्द्रीय सम्राट का सिर्फ इतना ही संपर्क था कि वे अपने सम्राट को उपहार, भेंट इत्यादि देकर उनके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करते रहें और उनकी सभा में प्रस्तुत होकर उनके प्रति अपनी अधीनता का प्रदर्शन करते रहें।[13]

सामन्तों के बारे में हर्षचरित में यह उल्लेख किया गया है कि महासामन्त और सामन्त लोग हर्ष के दरबार में उपस्थित होकर कभी पंखा झलते थे तो कभी अपनी गर्दनों में तलवार बॉध कर अपने प्राणों की भीख माँगते थे, तो कभी अपने सिर की माला उतार हर्ष के पाँवो पर रख देते थे। परन्तु भक्ति के अलावा, जहाँ तक प्रशासन का सवाल है, वो स्वतन्त्र थे। ऐहोल अभिलेख के अर्न्तगत हर्ष के विषय में बताया गया है कि उसकी सेवा में सामन्तों द्वारा जुटाई सेना ही अधिक थी। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति न सिर्फ ब्रम्हादेव भूमि पर ब्राह्मणों के भूमिपति बन जाने में पैदा हुयी, अपितु जब गुप्त शासकों ने उपरिक कुमारामात्य इत्यादि अपने प्रमुख कर्मचारियों को वेतन के बदले में भूमिदान देना आरम्भ कर दिया और उनका पद क्रमशः परंपरागत बनने लगा। तब वे उपरिक,कुमारामात्य इत्यादि सामंतों की तरह स्वतन्त्र होने लगे। इस तरह आमात्य और कुमारमात्य सामन्त विरूद धारण करते गये।[14] यह धर्म–व्यवस्था से पृथक अनुदान होने से उसी व्यक्ति के अधिकार में चला गया था। वहाँ सामन्ती व्यवस्था कायम हो जाती थी।[15]

सामन्ती व्यवस्था का विकास प्रशासनिक व्यवस्था के लिये बड़ा ही हानिकारक सिद्ध हुआ। पूर्व मध्य युग में राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का जो चित्र दिखायी देता है वह बहुत अंशों में सामन्ती व्यवस्था का दुष्परिणाम था। विभिन्न सामन्त अपने क्षेत्र में शक्तिशाली होते गये। जब तक प्रभु शासक शक्तिशाली रहे सामन्त वर्ग हमेशा इनकी आज्ञा का पालन करता रहा, लेकिन उसी साम्राज्य के अन्तिम समय में इन्ही सामन्तों ने अपनी शक्ति के बल पर केन्द्रीय राज्य के ध्वंशावशेषों पर अपने लिये नवीन राज्य का निर्माण किया। क्षेत्रीय राज्यों के उदय का सबसे महत्वपूर्ण कारण स्वयं सामंती व्यवस्था में निहित था। वह तत्व था सम्राटों की सामन्तों पर अधिक से अधिक निर्भरता। ऐहोल अभिलेख के अर्न्तगत हर्ष के विषय में बताया गया है कि उसकी सेना में सामन्तों की सेना ही अधिक थी। इसी अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि उसकी सेना में अनेक वैभवशाली सामन्त थे।[16] इसी प्रकार अन्य राज्यों में भी सामन्तों पर अधिक निर्भरता रही होगी। सामन्त द्वारा जनता से कर वसूलने व स्थायी सेना रखने से राज्य के दो महत्वपूर्ण अंगो कोष व सैन्य बल पर उनका अधिकार हो गया। कालांतर में जब प्रभु राजा इनसे सैनिक मदद माँगता था, तो ये अपनी शर्त रखते थे। बंगाल के रामपाल को अपने सामन्तों की सेवा लेने हेतु उनको बड़ी रकम देनी पड़ी। अगर प्रभु राजा मर जाता अथवा हटा दिया जाता था, तब वहाँ उत्तराधिकार युद्ध होता था। उसमें ये अपनी इच्छा के व्यक्ति को समर्थन देते थे और कभी कभी अपना प्रतिनिधि खड़ा कर देते थे। अब इन पर पहले की तरह प्रभु शासक का दबाव नहीं रह जाता था।

इस नये शासक से ये नये प्रकार से अपनी शर्त तय करते थे। जब कभी प्रभु शासक अत्यन्त अशक्त होता था, तो ये सामन्त अपनी सेना लेकर उस पर आक्रमण कर उसकी सत्ता हथियाने तक का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार की घटनायें लगभग सभी राज्यों के साथ उनके निर्बल होने पर हुयी थीं।[17] प्रभु–शासक पर बाहरी आक्रमण होने की दशा में ये सामन्त घड़ी के पेण्डुलम की तरह अपनी निष्ठा का प्रदर्शन करते थे। प्रभुशासक के पराजित हो जाने की स्थिति में सामन्त विजेता की अधीनता स्वीकार कर लेते थे। एरण अभिलेख से ज्ञात होता है कि गुप्त शासक बुधगुप्त के राज्य में मातृविष्णु पूर्वी मालवा पर गुप्तों के सामन्त की हैसियत से शासन कर रहा था। हूणों द्वारा मालवा पर विजय कर लेने के पश्चात तोरमाण के शासनकाल में मालवा पर मातृविष्णु का छोटा भाई धन्यविष्णु को शासन करते हुआ पाया जाता है।[18] मालवा के उदाहरण से ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य पर शासकों का प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं रहता था और वे वहाँ के क्षेत्रीय सामन्तों को ही,जो उस समय तक अपने पद को आनुवाँशिक बना चुके थे,को अपनी अधीनता में प्रशासन के सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सौंप कर सन्तुष्ट हो जाते थे।

ईसा की छठी शताब्दी के मध्य गुप्त साम्राज्य पूर्णतः छिन्न भिन्न हो गया। उसके ध्वंशावशेषों पर सामन्ती शक्तियों ने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। गुजरात के बलभी में मैत्रक वंश की स्थापना करने वाला भट्टार्क नामक व्यक्ति प्रारम्भ में गुप्तों के समय सैनिक पदाधिकारी था। भट्टार्क से लेकर ध्रुवसेन तक स्पष्टतः गुप्तों की अधीनता स्वीकार करते थे। तत्पश्चात् महाराज धरनपट्ट व गुहसेन के समय गुप्तों की निर्बलता से लाभ उठाकर स्वतन्त्र मैत्रक वंश की स्थापना की गयी।[19] इसी समय मगध का उत्तर–गुप्त वंश भी गुप्तों के सामन्त की स्थिति से मुक्त होकर स्वतन्त्र राजवंश की स्थिति में आया और उन्होनें मगध साम्राज्य के केन्द्रीय भाग पर अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित की।[20] चक्रवर्ती गुप्तों के काल में उत्तरप्रदेश और बिहार के दो मौखरी कुल उनके सामन्तों के रूप में शासन कर रहे थे। उत्तर प्रदेश के कन्नौज के मौखरियों ने भी अन्य अधीनस्थ सामन्तों की भाँति गुप्तों की निर्बल शक्ति को अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना के अनुकूल माना। महाराज हरिवर्मा के समय से मौखरियों ने अपनी शक्ति बढ़ानी आरम्भ की और ईशानवर्मा के समय तक (लगभग 550–574 ईस्वी) स्वतन्त्र राजवंश स्थापित कर लिया।[21]

गुप्त साम्राज्य के विघटन के पश्चात उत्तर भारत में जिस राजनैतिक विकेन्द्रीकरण का युग प्रारम्भ हुआ, उसकी समाप्ति हर्षवर्द्धन के राज्यारोहण के पश्चात ही हुयी। हर्षवर्द्धन के भाई की हत्या के समय उत्पन्न अराजकता से लाभ उठाकर वर्द्धन साम्राज्य के अर्न्तगत कई सामन्तों ने अपनी निष्ठा बदल कर अपने राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया लेकिन हर्ष ने अपनी विशाल सेना की सहायता से पुनः उन सामन्तों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। हर्ष ने उत्तर भारत के विशाल भूभाग को अपने अपने साम्राज्य के अर्न्तगत संगठित कर लिया। यह स्थिति स्थायी न रह सकी। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत में राजनीतिक विकेन्द्रीकरण एवं विभाजन की शक्तियाँ एक बार पुनः सक्रिय हो गयी। कामरूप के भाष्करवर्मा ने अपनी अधीनस्थ स्थिति को त्यागते हुए अपने स्वतन्त्र साम्राज्य की स्थापना की।

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् से लेकर 12वीं शताब्दी ईसवी तक का काल उत्तर भारत के इतिहास में राजपूत काल के नाम से जाना जाता है। वी0एन0एस0यादव 8वीं से 12वीं सदी के काल को सामन्तवादी मनोवृत्तियों के चरमोत्सर्ग का काल मानते हैं।[22] वर्द्धन साम्राज्य के पश्चात् उत्तर भारत में आयी राजनैतिक अस्थिरता पर विराम गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य के अस्तित्व में आने से लगा। गुर्जर प्रतिहार शासकों ने अपने साहस व पौरूष के बल पर साम्राज्यवादी नीति का अनुशरण करते हुए एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। महेन्द्रपाल के समय तक सामन्त राजकीय कार्यों में हस्तक्षेप करने की स्थिति में पहुँच चुके थे। चेदि नरेश कोकल्लदेव जो महेन्द्रपाल का सामन्त था, महेन्द्रपाल की मृत्यु के पश्चात् प्रतिहारों के उत्तराधिकारी भोज द्वितीय को सिंहासन पर बैठने में सहायता की। कोकल्लदेव के बनारस दान पत्र में कहा गया है कि कोकल्लदेव ने भोज को अभय दान दिया। प्रतिहारों की दुर्बलता से लाभ उठाते हुए अधीनस्थ सामन्तों द्वारा नवीन राज्यों की स्थापना की गयी और सत्ता के आँचलिक

केन्द्रों की स्थापना हुयी। कन्नौज तथा बनारस में गहड़वाल वंश की स्थापना का श्रेय चन्द्रदेव को जाता है, जिसका पिता यशोविग्रह कलचुरि शासन में अधिकारी था। संभव है कि यशोविग्रह ने शक्तिशाली सेना के बल पर कलचुरियों की अधीनता को त्यागकर प्रतिहारों के राज्य पर अधिकार करके अपने लिये राज्य की स्थापना की।[23] इसी समय प्रतिहारों के अधीनस्थ चाहमान सामन्तों जिनकी कई शाखायें थीं, ने भी अपनी सामन्त स्थिति त्यागकर सर्वभौम शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इन शाखाओं में शाकम्भरी शाखा के सिंहराज के नेतृत्व में चाहामानों ने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की।[24] हर्ष अथवा सीयक ने मालवा में परमार वंश की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की जिसके पितामह समय–समय पर प्रतिहारों व राष्ट्रकूटों के सामन्त रहे थे। हर्ष को इन दोनों शक्तियों से संघर्ष करना पड़ा ,पराजित करने के उपरान्त सर्वभौम स्थिति प्राप्त की।[25] प्रतिहार साम्राज्य के अर्न्तगत ही बुन्देलखण्ड के भूभाग पर नन्नुक नें 831ई0 के लगभग चन्देल राजवंश की स्थापना की। नन्नुक की उपाधि 'नृप' तथा 'महीपति' की मिलती है, इससे सूचित होता है कि वह एक सामन्त सरदार रहा होगा। चूँकि इस समय उत्तर भारत पर प्रतिहारों की सर्वभौम सत्ता थी, अतः संभव है कि वह उन्हीं के अधीनता स्वीकार कर रहा होगा। खजुराहो लेख से ज्ञात होता है कि नन्नुक के पश्चात हर्ष के समय (900–925 ई0) तक यह वंश इतना शक्तिशाली हो चुका था, कि राष्ट्रकूटों से परास्त प्रतिहार शासक महीपाल को पुनःकन्नौज की राजगद्दी पर बिठाया। हर्ष के उत्तराधिकारी यशोवर्मन के काल में चन्देलों ने न केवल प्रतिहारों की नाममात्र की दासता का जुआ भी उतार फेंका वरन कन्नौज पर आक्रमण कर प्रतिहार साम्राज्य को समाप्तप्राय कर दिया।[26]

सामन्तवादी व्यवस्था के चरमोत्कर्ष काल में भारत के राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। विभिन्न सामन्ती इकाईयाँ आत्मनिर्भर आर्थिक इकाईयों में परिवर्तित हो गयीं। सामन्तों में स्थानीयता की प्रबल भावना होने के कारण अपने–अपने क्षेत्रों में बसे व्यापारियों एवं व्यवसायियों को दूसरे स्थान में जाने पर पाबन्दी लगा दी फलस्वरूप व्यापार–वाणिज्य का पतन हो गया और सामाजिक गतिशीलता अवरूद्ध हुयी। विभिन्न प्रकार के कष्टदायी करों ने भी व्यापार के पतन हेतु मार्ग प्रशस्त किया। कुछ सामन्त तो अपने क्षेत्र से गुजरने वाले कारवाओं को लूटने का पेशा अपना लिये थे। सामन्तों के प्रशासन पर बढ़ते प्रभाव के कारण केन्द्रीय सत्ता निर्बल हो गयी और सत्ता के अनेक आँचलिक केन्द्रों की स्थापना हुयी। सामन्तवादी राज्य भारतीय राजनीति में एक प्रकार के कोढ़ थे। ये कभी भी प्रभुसत्ता के डाँवाडोल होने पर अपनी रोटी उसी के चूल्हे पर सेकने लगते थे। वे सदा प्रभुसत्ता पर हावी होने का सपना संजोये होते थे, लेकिन यह स्पष्ट है कि शक्ति सामंजस्य के कारण ही प्रभु और सामन्ती राजव्यवस्था चलती थी। इन्ही का परिणाम हुआ कि भारतीय राजतन्त्र की स्थिरता को बहुत बड़ा झटका लगा और मुसलमान आक्रमणकारी बड़ी सरलता से भारत को विजित कर सके।[27]

lanHkZ %

1. रामशरण शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, राजकमल प्रकाशन,आठवॉ संस्करण, वर्ष 2010, पेज नं0 1
2. इतिहास परिभाषा कोश, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,शिक्षा तथा संस्कृति मंत्रालय,भारत सरकार 1983 पेज नं0 98
3. डा0 शाहिद अहमद, मध्य युगीन राजपूताने की शासन प्रणाली, अपोलो प्रकाशन जयपुर, वर्ष 2006, पेज नं0 118
4. ए0एल0 बाशम, अद्भुत भारत अनु0वेंकटेशचन्द्र पाण्डेय,शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी आगरा,संशोधित हिन्दी संस्करण,पेज नं0 65
5. रामशरण शर्मा, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामन्ती समाज और संस्कृति,राजकमल प्रकाशन, पेज नं0 18
6. वहीं, पेज नं0 19
7. वहीं, पेज नं0 20
8. प्रियंका सिंह, प्राचीन भारत में भूमिदान प्रथम शती से 12 वीं शती तक, कावेरी बुक्स संस्करण 2011, पेज नं0 74
9. वी0एन0एस0 यादव,सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया
10. ओमप्रकाश,अर्ली इण्डियन लैण्ड ग्रान्ट्स एण्ड स्टेट इकोनामी, एक्सीलेंस पब्लिसर्स इलाहाबाद,वर्ष 1988,पेज

नं0 89

11. कैलाश चन्द्र जैन, प्राचीन भारत की शासनपद्धति एवं राजशास्त्र, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन दिल्ली, संस्करण 2011,पेज नं0 173
12. के0सी0 श्रीवास्तव,प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति,युनाईटेड बुक डिपो इलाहाबाद संसकरण 2008–2009,पेज नं0 386।
13. कैलाश चन्द्र जैन, पेज नं0 173–174
14. वहीं, पेज नं0 पेज नं0 174
15. वहीं, पेज नं0 239
16. के0सी0श्रीवास्तव, वहीं,पेज नं0 488
17. कैलाश चन्द्र जैन,वहीं, पेज नं0 293
18. के0सी0श्रीवास्तव वहीं, पेज नं0 416–417
19. वहीं, पेज नं0 452
20. वहीं, पेज नं0 460
21. वहीं, पेज नं0 464–465
22. वी0एन0एस0 यादव,सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया, पेज नं0 139
23. के0सी0श्रीवास्तव, वहीं, पेज नं0 565–566
24. वहीं, पेज नं0 575
25. वहीं, पेज नं0 584
26. वहीं, पेज नं0 590
27. कैलाश चन्द्र जैन, वहीं, पेज नं0 293

***

dkyk igkM% lkEiznkf;drk fojks/kh pqruk dk l'kDr gLrk{kj

fi;;dk*

हमारे देश में धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र आदि को आधार बनाकर साम्प्रदायिक शक्तियाँ काफी समय से सक्रिय रही हैं और आम जनमानस को आपस में लड़ाकर वे न केवल प्रगतिशील ताकतों को कमजोर बनाती हैं, अपितु देश की अखण्डता को विभाजित और विघटित करने का प्रयत्न करती हैं। स्वतन्त्रता के बाद साम्प्रदायिकता की समस्या समाप्त होने के बजाय उत्तरोत्तर उग्र ही होती जा रही है। साम्प्रदायिकता को जन्म देने वाली ताकतों के प्रतिरोध में जब तक कोई स्वस्थ एवं साफ–सुथरी पहल नहीं होती, तब तक धर्मनिरपेक्ष देश या समाज की परिकल्पना मात्र बदनीयती है। साम्प्रदायिक घटनाओं को आधार बनाकर हिन्दी साहित्य में अनेक कहानियाँ, उपन्यास एवं कविताएँ लिखी गयीं। इस दृष्टि से उपन्यास 'काला पहाड़' भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस उपन्यास के विश्लेषण व विवेचन के द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि वे कौन से मौके हैं, जिनका फायदा उठाकर कुछ स्वार्थी लोग साम्प्रदायिकता को उभारते हैं? कौन हैं जो लोगों को आपस में लड़ाते हैं? किसको फायदा है उससे? क्या दंगों में आम लोगों में से किसी को लाभ होता है?

'काला पहाड़' हरियाणा के मेवात क्षेत्र की कथा कहता है। यह क्षेत्र मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्र है, जो स्वयं को मुस्लिम नहीं 'मेव' कहे जाने में विश्वास करते हैं। मेव सूरजवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे, जो कि धर्मान्तरित होकर मुस्लिम बने हैं। इस क्षेत्र में गंगा–जमुनी तहज़ीब का अद्भुत नज़ारा देखने को मिलता है। साझी संस्कृति और धार्मिक सहिष्णुता इस क्षेत्र की अन्यतम विशेषता है।

उपन्यास का आरम्भ प्रधानमंत्री के 'महू' आगमन की खबर के साथ होता है। जहाँ उनके आगमन से राजनीतिक सरगर्मी बढ़ जाती है, वहीं आम जनमानस में उम्मीद की एक लहर दौड़ जाती है कि वर्षों से रूका हुआ विकास कार्य शुरू हो सकेगा। इस क्षेत्र में विकास के लिए जरूरी मांगे पूरी की जायेंगी जैसे सिंचाई के लिए नहर, रेलवे लाइन, उद्योग धंधे, स्कूल–कॉलेज, अस्पताल और युवकों के लिए रोजगार इत्यादि। लेकिन हर बार की तरह इस बार भी उनकी आशा, निराशा में तब्दील हो जाती है। इतना अवश्य है कि मुख्यमंत्री इस अवसर का उपयोग 'मेवात रत्न' अवार्ड से सम्मानित होने में करते हैं। जनता यह सोचती ही रह जाती है कि यह 'मेवात रत्न' मुख्यमंत्री जी को किस कार्य के लिए दिया जा रहा है, जबकि इस क्षेत्र के विकास के लिए तो उन्होंने कुछ किया भी नहीं है। जनता के इस द्वन्द्व को प्रस्तुत पंक्तियों में देखा जा सकता है–

''तो फिर या मुखमंत्री लू काँई तू दिया जा रो है .....याने या इलाका को कौण सो भलो करो है? .....अरे, कटे–मरे हम और फेंटा बाँधो जाए या मुखमंत्री के सिर पे.....?''[1]

राजनेताओं के चेहरों पर से नकाब हटाने का सफल प्रयास किया गया है, उपन्यास में। अतर मुहम्मद, मुर्शीद अहमद, करीम हुसैन, हाजी अशरफ जैसे पात्रों द्वारा राजनेताओं, राजनीति के स्वभाव, स्वरूप और स्वार्थगत नीतियों को प्रस्तुत किया है। किस प्रकार नेता अपने स्वार्थ के लिए भोली–भाली जनता को बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। जाति, सम्प्रदाय, धर्म के नाम पर जनता को

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005।

भड़काकर सत्ता पाने की कोशिश करते हैं, पर जैसे ही जीत हासिल हो जाती है, वे भूलकर भी पीछे नहीं देखते। उनके द्वारा किये गये चुनावी वादे महज दिवास्वप्न बनकर रह जाते हैं।

'काला पहाड़' जहाँ एक तरफ राजनीति के स्याह पक्ष से पर्दा उठाता है, वहीं यह साम्प्रदायिकता विरोधी चेतना और सौहार्द्र का अद्वितीय आख्यान है, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अद्भुत सामंजस्य देखने को मिलता है। धर्म की दीवार इन्हें कभी आतंकित नहीं करती। वे सदियों से चली आ रही परम्पराओं का निर्वाह मिल–जुलकर करते हैं। हिन्दुओं के द्वारा दादाखानू पर गलेप चढ़ानें की प्रथा तथा मेवों के विवाह, रीति–रिवाज, आचार–व्यवहार का हिन्दुओं की परम्पराओं के करीब होना इसी साम्प्रदायिक सद्भाव का परिणाम है।

लेकिन, समय के साथ इस साझी संस्कृति में दरार पड़ने लगती है। लोगों के भीतर आतंक, भय और असुरक्षा की भावना घर करने लगती है। हिन्दू और मुसलमान दोनों का एक–दूसरे से भरोसा उठने लगता है। लेखक ने भरोसा उठने के पीछे राजनीतिक समीकरणों को ही जिम्मेदार माना है। पूरे उपन्यास में लेखक इन्हीं सवालों से जूझता हुआ नजर आया है कि आखिर वे कौन से कारण हैं जिससे ये दोनों एक–दूसरे से जुड़े होकर भी किसी एक बिन्दु पर जाकर अलग हो जाते हैं। गोपाल राय ने इस संदर्भ में लिखा है कि, ''साम्प्रदायिकता का भाव किस प्रकार सीधे–सादे लोगों के मन में भरा जाता है और अफ़वाहों के द्वारा अविश्वास, आतंक और भय पैदा कर उसे जुनून में बदल दिया जाता है, इसका बहुत प्रभावकारी अंकन उपन्यास में किया गया है।''[2]

1992 में घटित बाबरी मस्जिद विवाद ने किस प्रकार सुदूर मेवात के लोगों को अपने चपेट में ले लिया, इसका प्रभावी अंकन किया गया है। साझी तहज़ीब व सभ्यता में विश्वास करने वाले 'मेव', 'मुसलमान' कैसे बन गये? इस संदर्भ में 'स्वतन्त्र कुमार जैन' की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–''1992 में मेव समाज में वे कौन से नए कारक, नई शक्तियाँ थीं जिन्होंने इस क्षेत्र के मेवों को मुसलमान बना दिया? जिन्होंने इस क्षेत्र की मिली–जुली तहज़ीब से विश्वास उठा दिया? इसी सुदीर्घ प्रक्रिया को, दैनिक जीवन संघर्ष को केन्द्र में रखकर विवेचित–व्याख्यायित करने का एक मानवीय, करूण और सार्थक प्रयास है, 'काला पहाड़''।[3]

6 दिसम्बर को अयोध्या में भगवा झण्डा फहराये जाने की घटना ने पूरे मेवात में आग लगा दी। धार्मिक जुनून में अंधे लोग लूट–पाट, धार्मिक स्थलों में तोड़–फोड़ करने लगे। यह वही मेवात है जो विभाजन के समय साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए आज भी याद किया जाता है। दंगों के बाद नगीना और उसके आस–पास के गाँवों में कर्फ्यू लगा दिया जाता है किन्तु कर्फ्यू लगने के बाद भी लोग सामान्य दिनों की भांति ही क्रियाकलाप करते हैं। उपन्यास से उद्धृत अंश के माध्यम से ज्ञात किया जा सकता है कि 6 दिसम्बर की घटना से पूर्व मेवात के लोग हिंसा और कर्फ्यू दोनों से कितने अपरिचित हैं–

''हालाँकि आधिकारिक तौर पर पूरे नगीना और आसपास के कुछ गाँवों में कर्फ्यू लगा हुआ है किन्तु देखने से बिल्कुल नहीं लग रहा है कि कर्फ्यू जैसी कोई बात है। उस दिन तो सुबह–सवेरे से ही ज़्यादातर ख़ाकी वर्दियाँ यह देखकर हैरान रह गई कि कर्फ्यू के दौरान सामान्य दिनों की भाँति लोग दिशा–फ़ारिंग के लिए तेजी से लपके हुए जा रहे हैं। शायद उन्हें नहीं मालूम कि क़र्फ्यू के दौरान गोली भी मारी जा सकती है।

एक जवान ने हँसते हुए दूसरे जवान से कहा भी, ''लगता है इन लोगों ने कभी कर्फ्यू देखा नहीं!''[4]

भौंरी ने भी बेहद शाइस्तगी से उसी अंदाज़ में कहा, ''बेटा, वा कलफूई ए तो देखण आई हैं हम .....बताइयो, ऊ कहाँ है?''[5]

यह वही मेवात है, जो 6 दिसम्बर से पहले साम्प्रदायिकता किस चिड़िया का नाम है, से अनभिज्ञ था। लेकिन धीरे–धीरे अफ़वाहों और खबरों के माध्यम से उससे परिचित होने लगता है। साम्प्रदायिकता शनैः–शनैः अपने पांव पसारने लगती है। इस साम्प्रदायिक झड़पों के पीछे अखबार की अहम् भूमिका होती है, जो तथ्य की सही जांच–पड़ताल किये बिना ही उसे खबर बना देता है। अखबारों में छपने वाली खबरों से आशंकित होकर मनीराम, बुद्धन, हरसाय वर्षों के पारस्परिक

सम्बन्धों को भुलाकर गाँव छोड़कर चले जाते हैं। जहाँ ये अफ़वाहें जनमानस के बीच डर पैदा तो करती हैं, लेकिन कोई भी इन अफ़वाहों के तह तक जाने का प्रयास नहीं करता। बनवारी कहता है–

''ताउ, यही छप रही है कि मेवात में कभी भी कुछ हो सकता है.... बल्कि एक अखबार ने तो यहाँ तक लिखा है कि कोई बड़ी बात नहीं यह इलाका आने वाले टैम में दूसरा पाकिस्तान ही बन जाए....।''

''बनवारी, तेरो मूँड तो बावलो ना हो गो है ..... अन्यायी कहीं ई बात तोहे जंचे है?'' सलेमी ने बनवारी की बात का उसी से जवाब जानना चाहा।

''ताऊ, जँच तो मोहे भी ना रही है पर अगर मेवात में यही हालात रहा तो इस इलाके का ऊपर वाला ही मालिक है ..... अरे, कहीं तो मूर्ति तोड़ी जावे हैं..... और कहीं हमारे साधू–संतों के ऊपर हमले होवे हैं..... यह बात तो सब जाने ही हैं के आए दिन मोवात में गाय कटे हैं ..... दो महीना पहले अपने इसी काले पहाड़ से सैकड़ों की तादाद में गाय की खालें पकड़ी गई ही।''[6]

लेकिन जाँच–पड़ताल करने के बाद पता चलता है कि मन्दिर की मूर्ति बच्चों के खेलने से गिर गई थी और साधू–संतों का झगड़ा आपसी विवाद था। पर बाबरी मस्जिद विवाद के प्रभाव में इसे साम्प्रदायिक रंग देते हुए अखबार में प्रकाशित किया गया था। इस प्रकार एक छोटी सी घटना खबर बनकर लोगों के भय का कारण बन गई। ऐसी खबरों का फायदा दोनों सम्प्रदायों के नेताओं ने खूब उठाया।

साथ ही लेखक ने इस बात का भी खुलासा किया है कि साम्प्रदायिकता उन्हीं को अपने गिरफ़्त में लेती है, जो बेरोजगार हैं तथा अपने भविष्य को लेकर काफी आशंकित है। नूह–नगीना में चौधरी करीम हुसैन तथा अशरफ जैसे नेताओं के नेतृत्व में बाबू खाँ और सुभान खाँ जैसे बेरोजगार साम्प्रदायिक घटनाओं को अंजाम देते हैं।

लेखक ने पुलिस की भूमिका पर भी सवाल उठाया है। पुलिस ने दंगा–फ़िसाद करने वाले उपद्रवियों पर लगाम नहीं लगाया, वरन् अपनी मूक उपस्थिति दर्ज कराते हुए दंगाइयों को तोड़–फोड़ और लूट–पाट के लिए प्रेरित ही किया।

''सिपाई–विपाई तो घणाई हैं ताऊ..... पर वे तो मजा सू तमासो देख रा हैं और मैंने तो एक सिपाई का मुँ सू ई भी सुणी ही के, ऊ एक आदमी सू कह रो हो अरे, तम या बड़कली पे काँई लू धूमस कर रा हो हून् नघीणा में जाओ और कुछ दुकान–वुकान लूटो।'' युवक ने खुद अपनी आँखों से देखने और कानों से सुनने के बाद पुलिस की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए कहा।[7]

सलेमी काला पहाड़ का लोकोन्मुख मानवीय जनतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष पात्र है। सलेमी की पीड़ा एक मुसलमान से ज्यादा एक आम भारतीय लोक मानस की है। साम्प्रदायिक सद्भाव के खत्म होते जाने और समाज के साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण से पैदा हुई पीड़ा के रूप में चित्रित है। सलेमी जैसे पात्र के माध्यम से ही नगीना में साम्प्रदायिक आग विकराल रूप लेने से पहले ही बूझ जाती है। लेखक ने सलेमी के बारे में लिखा है – ''सलेमी जैसे बड़े–बूढ़ों की समझदारी से यह आग पूरे नगीना में फैलने से रूक गई, वरना हाजी अशरफ़ और डॉक्टर शफ़ीक ने तो अपनी ओर से कोई कसर छोड़ी नहीं। यह तो ग़नीमत है कि सिर्फ़ माता के मन्दिर ने सारे वार अपने सीने पर झेल लिए, वरना अयोध्या में गिराए गए बे–क़सूर विवादित ढाँचे के बदले पता नहीं कितने और मंदिरों को ये वार झेलने पड़ते।''8

लेखक ने इन साम्प्रदायिक ताण्डवों ओर बर्बरता के बीच भी मानवीय मूल्यों को मरने नहीं दिया है। आशंका, असुरक्षा तथा विश्वास के दरकने के बाद भी आपसी सौहार्द्र को बनाये रखा है। दंगा शुरू होने के बाद मनीराम, बुद्धन, हरसाय और छोटेलाल के आशंकित और असुरक्षित महसूस करने पर रोबड़ा, नबी खाँ, रमजानो, तरकीला सभी, इन लोगों को तसल्ली देने पहुँच जाते हैं तथा जुहुर की अजान लगने पर भी नमाज़ पढ़ने नहीं जाते बल्कि उनके पास बैठकर उन्हें ढाँढस देते हैं।

''लेकिन रोबड़ा के कहने के बावजूद कोई नहीं गया नमाज़ पढ़ने। रोबड़ा ने भी दोबारा नहीं कहा किसी से क्योंकि सब जानते हैं कि यहाँ इन डरे, सहमे और किसी हद तक अपने आपको इनके भरोसे बैठे हुओं की सुरक्षा और उन्हें तसल्ली देना भी तो नमाज़ या इबादत से कम नहीं है।''[9] यहाँ

लेखक का मंतव्य यह है कि यदि सभी धर्मों के लोग इंसानियत को सबसे बड़ा धर्म मान ले तो ऐसे साम्प्रदायिक फ़साद स्वयं ही खत्म हो जायेंगे।

पारस्परिक प्रेम और सद्भाव के होने पर भी लोगों के दिलों में अनेक गांठे पड़ जाती हैं। यह भी कोई नहीं जान पाता कि परस्पर सौहार्द्र का दर्पण कब टूट गया और उसके जाने कितने टुकड़े हो गये। मनीराम सलेमी का सबसे अच्छा मित्र होते हुए भी यह सोचने को मजबूर हो जाता है कि क्यों गांधी जी ने घासेड़ा में बीच सड़क पर लेटकर इन मेवों को पाकिस्तान जाने से रोक लिया था।

शासन की अमानवीय और अनैतिक कार्यवाही ने इस साझी संस्कृति के दरार को और बढ़ा दिया। शासन की बदले की कार्यवाही से तहमद पहनने वाले यानी मेवों को ही दंगों का जिम्मेदार माने जाने से उनके मन में दूसरा पाकिस्तान जगह बना लेता है। दंगों के वास्तविक जिम्मेदार करीम हुसैन, मुर्शीद अहमद, हाजी अशरफ़, बाबू खाँ तथा स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जैसे लोग इसकी चपेट में नहीं आते, शिकार होते हैं असलम और नबी खाँ जैसे बेकसूर आम लोग।

जहाँ दंगों के पहले हिन्दुओं का भरोसा उठा था, वहीं दंगों के बाद मेवों का विश्वास दरक जाता है। वे स्वयं को असुरक्षित तथा इस देश में दोयम दर्जे के नागरिक समझे जाने के दर्द से कलप उठते हैं।

अब नबी खाँ ने आखिर कह ही दिया, ''मनीऽऽराम, अब तो सिरकार भी तिहारी है और पुलिस भी तिहारी है..... हमारो भी या मुलक में कोई हो तो आज ये दिन ना देखना पड़ता .....।''

यहाँ तक कि सलेमी जैसा धर्मनिरपेक्ष पात्र भी जो जीवन भर पारस्परिक सौहार्द्र और सद्भाव के लिए प्रयास करता है वह भी अन्त में राजनीति व सत्ता के कुचक्रों में फंसकर अपना धैर्य खो देता है – ''मनीराम मोहे भी अब लग रो है के पाकिस्तान न जाके हमन्ने कितनी बड़ी गलती करी है..... अच्छो होतो अगर हम भी वा बखत पाकस्तान चला जाता ..... पतो ना ऊपर वाला ने वाई बखत ऊ गांधी या इलाका में काँई लू भेज दियो ..... ऊ थोड़ा–सा दिन और रूक जातो तो वाको कहा बिगड़ जातो .... अरे, ऊ तो हमन्ने याँ फँसा के अल्ला कू प्यारो होगो और भुगत रहा हैं हम .....।''[11]

काला पहाड़ में उपन्यासकार ने मेवात के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक पहलुओं का अध्ययन विविध कोणों से किया है। उपन्यास के विवेचन और विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि जब तक आर्थिक और राजनीतिक इन दोनों क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं होता साम्प्रदायिकता की समस्या से निज़ात नहीं पाया जा सकता। उपन्यास का अन्त सलेमी की मृत्यु के साथ–साथ जनतान्त्रिक धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के मृत्यु से होता है। साथ ही लेखक ने साम्प्रदायिकता की भावना के लिए एक चुनौती छोड़ने का प्रयास किया है।

lnHk

1. काला पहाड़, भगवानदास मोरवाल, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृ0सं0 22
2. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ0सं0. 398
3. हिन्दी उपन्यास जनवादी परम्परा, सं0 कुँवर पाल सिंह, अजय बिसारिया, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2004, पृ0सं0 226
4. काला पहाड़, भगवादास मोरवाल, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृ0सं0 438।
5. वहीं, पृ0सं0 438
6. वहीं, पृ0सं0 269
7. वहीं, पृ0सं0 420
8. वहीं, पृ0सं0 423
9. वहीं, पृ0सं0 425
10. वहीं, पृ0सं0 442
11. वहीं, पृ0सं0 442

***

dey'oj dk dFkk lkfgR; vkj fluek

vpuk flg ;kno*

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य में कमलेश्वर की अपनी एक अलग पहचान है। उनका व्यक्तित्व जितना बहुआयामी है उतना ही उनका लेखन भी। उन्होंने अपने लेखन को अनुभव की प्रामाणिकता के साथ व्यक्त किया है। उनके कथा साहित्य में युग के प्रति जागरूकता विद्यमान है। अपने साहित्य के माध्यम से एक तरफ जहाँ उन्होंने स्वातंत्र्योत्तर काल में फैली भ्रष्ट राजनीति, औद्योगिकीकरण, बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद, भीड़, अकेलेपन, अजनबीपन, कुण्ठा, संशय, संघर्ष, साम्प्रदायिकता भाषावाद, प्रांतवाद, आतंकवाद, घुसखोरी और महानगरी कोलाहल को व्यक्त किया है वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक अधःपतन, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, मानवीय एवं पारिवारिक मूल्यों की टूटन, नये पुराने का संघर्ष, रिश्तों में पड़ती दरारें, नगर और कस्बों में फैली विषमता, बेरोजगारी, गरीबी, भ्रष्टाचार, सामान्य आदमी का मोहभंग, अकाल और सूखा आदि के बीच पिसते हुये आम आदमी, मध्यवर्ग तथा निम्न वर्ग का चित्रण भी किया। इसके अलावा उन्होंने स्त्री संघर्ष का इतिहास, उसके अस्तित्व की लड़ाई और उसके जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति भी की।

कमलेश्वर ने अपनी इस अभिव्यक्ति को व्यापक रूप देने तथा आम जनमानस की पीड़ा को जनजीवन तक पहुँचाने के लिए साहित्य लेखन के साथ श्रव्य–दृश्य का माध्यम चुना। क्योंकि उनका मानना था पर्दे के माध्यम से जीवन की विडम्बनाओं और उनकी समस्याओं को अत्यंत सशक्त तरीके से समाज के सामने रखा जा सकता है। अपने एक धारावाहिक परिक्रमा के विषय में कहा है– ''हमारी सभी योजनायें एवं कार्यक्रम आम–आदमियों के नाम पर खड़े हैं। मैं दर्शकों के सामने उस आम आदमी को लाना चाहता हूँ। वह आम आदमी जिसे सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्तर पर सदियों से नकारा गया है।''[1]

इसी प्रकार अपने एक अन्य महत्वपूर्ण धारावाहिक 'रेत पर लिखे नाम' में कहा– ''इस सीरियल को मैंने इस दृष्टि से लिखा कि हमारी भी कुछ सामाजिक जिम्मेदारियाँ हैं और मीडिया के सशक्त माध्यम के जरिये एड्स की प्रामाणिक जानकारी करोड़ों लोगों तक पहुँचाना हमारा कर्तव्य है। क्योंकि अशिक्षित जनता तक इसी दृश्य माध्यम के जरिये पहुँचा जा सकता है।''[2]

कमलेश्वर ने कई उपन्यास और कहानियाँ साहित्य में लिखी, जिनका रूपान्तरण फिल्मों में किया गया इसके अलावा उन्होंने लगभग सौ फिल्में लिखीं जिनमें वे कथाकार, संवाद लेखक और पटकथा लेखक के रूप में अलग–अलग तरह से जुड़े। 'पति–पत्नी और वह', 'वही बात', 'बदनाम बस्ती', 'आँधी', 'मौसम', 'डाक बंगला', 'सुबह.....दोपहर.....शाम', आदि फिल्म कमलेश्वर के उपन्यासों पर आधारित है। इनके अतिरिक्त 'फिर भी', 'अमानुष', 'उसके बाद', 'घड़ी के दो हाथ', 'आनंद आश्रम', 'तुम्हारी कसम', 'मृग–तृष्णा', 'राम–बलराम', 'नीली झील', 'सौतन', 'सारा आकाश', ' आधा दिन आधी रात' आदि फिल्मों में निर्देशन, सवांद लेखन, पटकथा लेखन का कार्य उन्होंने किया।

अपने सभी लेखनों में उन्होंने तत्कालीन समाज तथा उसकी विसंगतियों को व्यक्त किया है, चाहे वह कथा साहित्य हो या सिनेमा। उनके उपन्यासों पर आधारित फिल्मों में यह यथार्थ बखूबी देखा जा सकता है। सिनेमा के माध्यम से उन्होंने हिन्दी लेखन और समाज को एक नया आयाम दिया। ''कमलेश्वर

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ने हिन्दी के मूलधारा सिनेमा के लेखन के स्तर पर एक नया आयाम दिया। हिन्दी सिनेमा के लेखन में वे यह मानते थे कि सिनेमा मूलतः निर्देशक का माध्यम है। इसमें लेखक निर्देशक का सहयोगी होता है। इसलिए यदि वह कथाकार के रूप में अपनी ओर से चार बातों दर्शकों से कर पाता है तो वह लेखक की उपलब्धि होती है।''[3]

कमलेश्वर के सिनेमा से जुड़ने के आरंभिक दिनों में ही उनके उपन्यास 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' पर आधारित बदनाम बस्ती फिल्म बनी। जिसमें उन्होंने कस्बाई जीवन के सुखःदुख आशा–निराशा, व्यथा के साथ सामाजिक जीवन का बखूबी चित्रण किया। फिल्म में भी प्रेम कपूर ने इसकी कस्बाई संस्कृति को पूरी तरह उभारकर सामने लाया है।

इनके दूसरे उपन्यास 'डाक बंगला' पर इसी नाम से फिल्म 1974 में आयी। जिसमें नायिका 'इरा' के माध्यम से आधुनिक महानगरीय जीवन में उसके आन्तरिक और बाह्य संघर्षों को रूपायित किया गया। एक तरह से सिनेमा में वह नारी विमर्श है। स्त्री की जिस दोहरी–तिहरी प्रताड़ना को उपन्यास में बहुत सहजता पूर्वक उकेरा गया है और उतनी ही रोचकता से इसे फिल्म में भी दर्शाया गया है।

शिवेन्द्र सिन्हा ने कमलेश्वर के सबसे प्रसिद्ध कथा संग्रह 'मांस का दरिया' में संकलित 'तलाश' कहानी पर 'फिर भी' फिल्म का निर्माण किया। 'तलाश' वस्तुतः मानवीय अस्मिता की संवेदनात्मक तलाश की महागाथा है। इसमें उन्होंने व्यक्ति और समाज के तनावों को एकरूप कर दिया है।

उनके उपन्यास 'काली आँधी' पर 'आँधी' फिल्म बनी। यह एक महत्त्वाकांक्षी स्त्री की कहानी है, किन्तु विशेष रूप से सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन के विघटन की गाथा है। महात्त्वाकांक्षा किस तरह से आज के मनुष्य को सफलताओं के चंगुल में फंसाकर अपनों से दूर कर देती है। इसकी बखूबी अभिव्यक्ति हुयी है। ''आँधी सिनेमा के माध्यम से कथात्मक रूप में जीवन की विडम्बनाओं को सम्पूर्ण रागात्मक रोचकता के साथ बयान करने की उदाहरण फिल्म के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।''[4]

'मौसम' फिल्म भी उनके लघुउपन्यास 'आगामी अतीत' पर आधारित है। उसकी कथावस्तु हुबहू वही नहीं है, जैसा कि उपन्यास में है। उपन्यास के अंत को भी कथा में बदल दिया गया है। उपन्यास में मन की पीड़ा से बौद्धिक स्तर पर पाठक को भिगोया गया है जो पाठक के भीतर गहरी टीस पैदा कर देती है। इसके विपरीत फिल्म में अंत भारतीय काव्यादर्श से प्रेरित सुखांत किया गया है। एक स्त्री के अदम्य साहस, पीड़ा और निःस्वार्थ प्रेम को कमलेश्वर ने पूंजीवादी समाज के अंतर्द्वन्द्व की पृष्ठभूमि में जहाँ प्रस्तुत किया है, वहीं फिल्मकार ने एक सहज माननीय संवेदना की कथा के रूप में प्रस्तुत किया है।

उत्तरोत्तर कमलेश्वर कथा लेखक की जगह पटकथा लेखक एवं संवाद लेखक बनते गये। क्योंकि उनका मानना था यदि दृश्य माध्यम में बने रहना है तो साहित्य से हटकर सिनेमा के मानदंड से लेखन करना होगा और अपने इस लेखन में भी उन्होंने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की।

'पति, पत्नी और वो' फिल्म के माध्यम से उन्होंने एक सफल पटकथा लेखक और संवाद लेखक के रूप में ख्याति अर्जित की। उन्हें 1978 में सर्वश्रेष्ठ पटकथा लेखक का फिल्मफेयर अवार्ड भी प्राप्त हुआ। ''इस फिल्म के द्वारा कमलेश्वर ने साहित्य और सनेमा के अलग–अलग रिश्ते को एक सूत्र में बांधने का भी गंभीर उपक्रम किया।''[5]

'पति, पत्नी और वो' के द्वारा कमलेश्वर ने पुरुष की चंचल मनोवृत्ति एवं विवाह प्रथा की सार्थकता पर प्रहार किया। 'अमानुष' और 'आनंद आश्रम' जैसी फिल्मों में भी उन्होंने काम किया जो बंगला कथाकारों की कृतियों पर आधारित थी। इन दोनों फिल्मों के संवाद लेखन का कार्य उन्होंने किया। लेखक के रूप में सामान्य दर्शक–संवाद लेखन से ही प्रभावित होता है, क्योंकि प्रस्तुत की गयी कहानी को वह संवादों के माध्यम से ही ग्रहण करता है। 'अमानुष एवं आनंद आश्रम' के संवाद पात्रों के अनुकूल थे। उनमें एक साथ सादगी और गरिमा दोनों थे।

कमलेश्वर की अन्य महत्त्वपूर्ण फिल्मों में साजन बिन सुहागन, सौतन, प्यार की जीत, सौतन की बेटी, राम बलराम, तुम्हारी कसम, बाजी, द बर्निंग ट्रेन इत्यादि हैं, जिनसे उनको अपार सफलता मिली

और वे उस समय के पटकथा लेखन के प्रतिमान बन चुके थे। कमलेश्वर ने अपने पटकथा लेखन, संवाद लेखन के द्वारा समाज के हर पहलू पर नजर डाली एवं सफलतापूर्वक उसे रोचक ढंग से सामान्य जनमानस तक पहुँचाने का प्रयास किया, क्योंकि लेखक के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण उसकी अभिव्यक्ति होती है, जिसे अधिक से अधिक व्यापक बनाने की उसकी आसक्ति सहज मानवीय आकांक्षा है। सिनेमा में उनकी दृष्टि की सफलता की सभी ने सराहना की है। राजेन्द्र यादव लिखते हैं– ''अमानुष, आँधी, द बर्निंग ट्रेन, पति, पत्नी और वो, मौसम इत्यादि उसकी लिखी सफल फिल्में थी। दूरदर्शन के कार्यक्रम परिक्रमा प्रोग्राम से वह घर–घर का परिचित नाम हो गया था।''[6]

इस तरह कमलेश्वर ने अभिव्यक्ति की व्यापकता के लिए साहित्य एवं सिनेमा को माध्यम बनाया तथा अपने लेखन से सामाजिक रूढ़ियों, पतनशील सामाजिक मूल्यों तथा विसंगतियों के विरूद्ध परिवर्तनकामी तेवर दिये।

lanHkZ %

1. कथाकार कमलेश्वर और हिन्दी सिनेमा – उज्ज्वल अग्रवाल, पृ0 106
2. रेत पर लिखे नाम, कमलेश्वर, पृ0 1
3. कथाकार कमलेश्वर और हिन्दी सिनेमा, उज्ज्वल अग्रवाल, पृ0 79
4. कथाकार कमलेश्वर और हन्दी सिनेमा, पृ0 106
5. वहीं, पृ0 123
6. मेरी तेरी उसकी बात – प्रश्नों का प्रजातंत्र, राजेन्द्र यादव, हंस मार्च 2007, पृ0 4

***

ekfj'kl dh dfork ;k=k vkj vfHkeU;q vur dh dfork

jktho ekgu*

मॉरिशस डोडो पक्षी के साथ–साथ इन्द्रधनुषी सपनों का देश है। मॉरिशस का नाम लेते ही हमारे मन में अनेक प्रकार के खूबसूरत दृश्यों को देखने की आकांक्षा उत्पन्न होने लगती है। आँखों में एक ऐसे सुन्दर द्वीप का चित्र सजीव हो उठता है, जो मूँगा और मोतियों की दुनिया है। एक ऐसा देश जहाँ हिन्द महासागर का अथाह नीलापन है। लांग माउन्टेन की पर्वत मालाएँ हैं, सतरंगी धरती का सुन्दर नजारा है और सूर्य की लालिमा से भरी किरणें मॉरिशस की धरती को दुल्हन की तरह सजा देती हैं। महाकवि कालिदास ने रघुवंश और बाणभट्ट ने कादम्बरी और हर्षचरित में श्वेत द्वीप के नाम से बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है।

मॉरिशस के प्रसिद्ध इतिहासकार प्रहलाद रामशरण ने लिखा है– ''वास्तव में मॉरिशस को 'सिल्वर आइलैण्ड' अर्थात् श्वेत द्वीप कहना असंगत नहीं है। क्योंकि मध्यकाल से अब तक के अनेक साहित्यकार मॉरिशस को हिन्द महासागर का चमकदार मोती के नाम से अभिहित करते आये हैं।'' मॉरिशस देश की संस्कृति सामासिक है। मॉरिशस ने बहुभाषी, बहुजातीय तथा बहुसांस्कृतिक स्थिति के साथ अपनी विशेष पहचान बनाई है। यशपाल जैन का मानना है कि ''मॉरिशस साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति का संगम है।'' मॉरिशस की भौतिक और सांस्कृतिक समृद्धि के पीछे भारतवासियों के त्याग और बलिदान का महिमामंडित इतिहास छिपा हुआ है। मॉरिशस में सबसे अधिक क्रियोली बोली जाती है। क्रियोली के बाद भोजपुरी वहाँ की सर्वाधिक "प्रचलित जनभाषा है। भोजपुरी बिहारी हिंदी की एक बोली है। भारतीय मूल के लोग अपने घर में इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। शिक्षा के प्रसार के साथ मॉरिशस में खड़ी बोली हिंदी का भी प्रचार प्रारम्भ हुआ। ठाकुरदत्त पाण्डेय ने लिखा है कि इस द्वीप में खड़ी बोली हिंदी की जननी भोजपुरी है–

"भोजपुरी यहाँ की हिंदी की जननी है क्योंकि इसी बोली में प्रारम्भ में हमारे पूर्वज सोचते–समझते थे और बोलते भी थे। अब भी हमारे अधिकांश लोग भोजपुरी बोलते हैं। एक तरह से कहा जा सकता है कि उसी के माध्यम से हम अपने अज्ञान रूपी अंधकार को दूरकर ज्ञान रूपी प्रकाश में आ गए हैं। आगे चलकर भोजपुरी का विकसित रूप ही हमारे यहाँ की हिन्दी रूप में परिणत हो गया है।"

मॉरिशस ने खड़ी बोली का प्रयोग बोलचाल में बहुत कम होता है, किन्तु यह एक अध्ययन–अध्यापन का विषय बना हुआ है। मॉरिशस का अधिकांश हिंदी साहित्य खड़ी बोली में ही लिखा गया है। मॉरिशस में हिंदी भाषा का प्रचार–प्रसार आर्य समाज के माध्यम से बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में हुआ। दूरदर्शन और आकाशवाणी पर खड़ी बोली में बहुत अधिक कार्यक्रम प्रसारित होते रहते हैं। खड़ी बोली में अनेक पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ है, जिनमें बसन्त, इन्द्रधनुष, पंकज, आर्योदय और आक्रोश जैसी पत्रिकाएँ हैं।

मॉरिशस के विषय में एक बात यह है कि हिन्दुस्तान के बाहर यही मात्र एक देश है जो हिंदी लेखन में व्यापक रूप से अपनी सृजनात्मक भूमिका निभा रहा है। कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध जैसी साहित्यिक विधाओं में यहाँ के रचनाकार अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। भारत के बाहर

*शोध छात्र, हिंदी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रूस, फिजी, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के रचनाकारों ने हिंदी के विकास में लेखन कार्य किया है, किंतु सर्जनात्मक साहित्य की प्राणवत्ता और जीवन्तता जो मॉरिशस के हिंदी साहित्य में है, वह अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है। मॉरिशस में हिंदी के अनेक विधाओं में सृजन कार्य हो रहा है, किन्तु कविता कहानी और उपन्यास यहाँ की विशेष पहचान है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश उपनिवेशों में गन्ने की खेती के लिए बहुत अधिक संख्या में मजदूरों की आवश्यकता हुई। सन् 1834 ई0 में भारत के उत्तर प्रदेश बिहार के मजदूरों का एक जत्था मॉरिशस भेजा गया। मजदूरों के पास फटी पोटलियाँ और गठरियाँ थीं। उन्हें मार्ग में अनेक मुसीबतों का सामना करना पड़ा। इन मुसीबतों के समय उनका सहारा और सम्बल बना। रामचरितमनस और हनुमान चालीसा की प्रतियाँ, जिन्हें वे अपने साथ लेकर गये थे। गोरे मिल मालिकों के खेतों और फैक्ट्रियों में दिन भर कठिन मेहनत करने के बाद जब वे अपने पर्ण कुटीर (मड़ई के घर) में आते थे, तो टिमटिमाती डिबरियों और लालटेनों के प्रकाश में वे रामचरितमानस की चौपाईयों और दोहों में अपने आप को रमा देते थे। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के माध्यम से हिंदी का बीज बोया गया। अनजाने में ही बोया गया यह बीज भविष्य में वट वृक्ष का रूप धारण कर लेगा, इस बात को उस समय शायद कोई नहीं जानता था।

रामदेव धुरन्धर के शब्दों में –''मॉरिशस में इतिहास को हिंदी में लिखा है। हिंदी में ही स्वतंत्रता की यात्रा तय की है। स्वतंत्रता के बाद अस्मिता की खोज में यहाँ के हिंदी भाषियों और राजनायिकों ने हिंदी का ही सहारा लिया है। इस लम्बी दौड़ में हिंदी को कहीं नकारा नहीं गया है और यह हिंदी के लिए बहुत बड़ी विजय है।''[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक मॉरिशस में हिंदी 'रामचरितमानस' की चौपाइयों और दोहों के माध्यम से जिन्दा रही। यह प्रश्न स्वाभाविक है कि मॉरिशस का प्रथम हिंदी कवि कौन है ? मॉरिशस की हिंदी कविता की प्रारम्भिक गतिविधियों पर डॉ0 लक्ष्मीप्रसाद रामयाद और मुनीश्वरलाल चिन्तामणि ने लेखन कार्य किया है। डॉ0 रामयाद ने लन्दन विश्वविद्यालय से पीएच0 डी0 की थी। उनके शोध प्रबन्ध का संशोधित रूप 1885 ई0 में महात्मा गाँधी संस्थान मॉरिशस से प्रकाशित हुआ था। उस पुस्तक का नाम है– 'द एस्टाब्लिशमेन्ट एण्ड कल्टिवेशन ऑफ मॉडर्न स्टैन्डर्ड हिंदी इन मॉरिशस' इस पुस्तक में डॉ0 रामयाद ने लिखा है–''मॉरिशस में हिंदी कविता की प्रथम पुस्तक 'रसपुंज कुण्डलिया' 1923 ई0 में प्रकाशित हुई थी। इसके रचनाकार हैं डॉ0 लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी जो द्विजराम रामटहल से भी जाने जाते हैं।'[2]

अतः ड़ॉ0 लक्ष्मीप्रसाद रामयाद के अनुसार लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी मॉरिशस के प्रथम हिंदी कवि हैं। डॉ0 मुनीश्वर लाल चिंतामणि ने भी अपनी पुस्तक 'मॉरिशस की हिंदी कविता में लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी को ही मॉरिशस का प्रथम कवि और रसपुंज को प्रथम कविता स्वीकार किया है।

मॉरिशस के प्रख्यात इतिहासकार और हिंदी साहित्य के विद्वान प्रहलाद रामशरण ने अपने शोध के द्वारा यह बताया कि मॉरिशस में हिंदी कविता का उद्‌भव गणेशी कवि की 'होली' कविता से हुआ है। यह कविता डॉ0 मणिलाल द्वारा स्थापित 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका के 2 मार्च 1913 के अंक में प्रकाशित हुई थी। मॉरिशस की हिंदी कविता यात्रा को हम इन अध्यायों में बाँटकर देख सकते हैं–

1– प्रारम्भिक काल या प्रेरणा काल (1913–1935 ई0)

2– मध्य काल या संघर्ष काल (1935–1968 ई0)

3– आधुनिक काल (1968 ई0–अब तक)

प्रारम्भिक काल के प्रमुख कवियों में गणेशी, लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी 'रसपुंज' गणपतिदास, हीरालालगुप्त, जनाब मुहम्मद, कन्हैयालाल मिश्र, जदुनन्दन शर्मा, डी0 हरिदत्त इत्यादि प्रमुख हैं। प्रहलाद रामशरण द्वारा संपादित पुस्तक 'मॉरिशस का आदिकाव्य कानन' में अनेक प्रकार के कवियों की108 कविताएँ संकलित की गई हैं। इन कविताओं को 'हिन्दुस्तानी', 'मॉरिशस इंडियन टाइम्स', 'मॉरिशस मित्र','मॉरिशस आर्य पत्रिका' में प्रकाशित किया गया था। गणेशी कवि का वास्तविक नाम गणेशी कौलेसर सिंह था। ये मॉरिशस इण्डियन टाइम्स के हिंदी अंग्रेजी दैनिक के संपादकों में से एक

थे। इस युग के सबसे महत्वपूर्ण कवि हैं–पं0 लक्ष्मीनाराण चतुर्वेदी 'रसपुंज'। ये बलिया जिला के निवासी थे। इनके पिता रामटहल चौबे एक पुरोहित थे, जो पुरोहिताई करने मॉरिशस जाया करते थे। इनकी कविता 'होली में ठिठोली' 20 मार्च 1924 ई0 को मॉरिशस इण्डियन टाइम्स में प्रकाशित की गई थी। इनकी कविताओं पर रीतिकाल का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। होली में ठिठोली कविता का एक अंश द्रष्टव्य है–

^^dfd mfB dkfdyu xft mfB ekjHkhj] Mkfy mB lkjHk lehj lj lkouA
Qfy mfB yfrdkg ykxu dh ykuh ykuh] >fe mfB Mkfy;k dne vjlkouAA
pgfd pdkj mB dfj dfj ekj mB] Vfj mB lkfjdk foukn mitkouAA^^

मॉरिशस प्रवास में लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी रसपुंज ने रसपुंज कुण्डलिया 1923 ई0 और शताब्दी सरोज 1935 ई0 नामक दो काव्य कृतियों का सृजन किया। कुण्डलियों के माध्यम से हिन्दू धर्म की कुरीतियों पर प्रहार किया गया है।

1935 ई0 में मॉरिशस में भारतीयों के आगमन की शताब्दी वर्ष मनायी गई। इसी अवसर पर 'शताब्दी–सरोज' का प्रकाशन हुआ। इस काव्य कृति में अप्रवासी भारतीयों की वेदना और संघर्ष को उद्घाटित किया गया है।

मॉरिशस में गीति काव्य का प्रवर्तन पं0 जदुनन्दन शर्मा ने किया। इनका काव्य संकलन 'कृष्ण की वंशी' 1934 ई0 में प्रकाशित किया गया था। कृष्ण की वंशी काव्य संकलन की पंक्तियाँ देखिए–

dUg;k dh o'kh ct teuk rhj]
Xoky&cky lc HkfDr exu xHkhjA^^

कन्हैयालाल मिश्र हिन्दू धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए 1933 ई0 में मॉरिशस गये। इनकी स्फुट रचनाएँ ही प्रवासी साहित्य में मिलती हैं।

प्रहलाद रामशरण मिश्र ने मॉरिशस के मध्यकालीन काव्य प्रसून में 170 कविताओं को संकलित किया है। मध्यकाल या संघर्षकाल के प्रमुख हैं– पं0 रामसेवक तिवारी, हरिप्रसाद रिसाल मिश्र, जयनारायण राय, डॉ0 ब्रजेन्द्र कुमार, भगत 'मधुकर', सूर्यप्रसाद मंगर भगत, सोमदत्त बखोरी इत्यादि।

पं0 रामसेवक तिवारी का जन्म 1905 ई0 में वाक्वा में हुआ था। ये सनातन धर्मावलम्बी पुरोहित थे। ये 'वर्तमान' पत्रिका का सम्पादन किया करते थे। पं0 रामशरण द्वारा संपादित मॉरिशस के मध्यकालीन काव्य प्रसून में इनकी 18 कविताएँ संकलित हैं।

जयनारायण राय को मॉरिशस का प्रथम हिंदी साहित्यकार माना जा सकता है। मध्यकालीन काव्य प्रसून में जयनारण राय की अभिलाषा, अहिंसा पथ, बारह वर्ष बाद, भरोसा तुम ही हो जवान, उसी देश के वासी हैं इत्यादि कविताएँ प्रकाशित हुयी थी। इनकी कविता का एक अंश प्रस्तुत है –

ßlofj;k l;kjh] pyk n'k ejs lx]
n'k dh cfr;k fru fru ifr;k ykrh D;k g mexAÞ

डॉ0 ब्रजेन्द्र भगत 'मधुकर' को मॉरिशस का राष्ट्र कवि माना जाता है। इनकी प्रकाशित रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

मधुपर्क, वीरगाथा, मधुकरी, हमारा देश, अमर संदेश, गुन्जन, रसरंग, तथा रणभेरी। रणभेरी की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं–

Þpy euku ck/k dQu flj] gldj vkt eju R;kgkj]
vfre fot; gekjh gkxh] fuf'pr g n'eu dh gkjAÞ

पंडित हरिप्रसाद रिसाल मिश्र की रचनाएँ हैं– भजनमाला और छन्दोवाटिका।

1936 में सौभाग्यवती गया सिंह द्वारा रचित 'विवाह मंगल' नामक संकलन का प्रकाशन हुआ। इस संकलन के लोकगीत मॉरिशस में अत्यन्त लोकप्रिय हुए। मणिलाल ठाकुर का भजन संकलन 'कोयल की कूँक' 1938 ई0 में प्रकाशित हुआ, जिसका मॉरिशस की गीतिकाव्य परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान है। सूर्यप्रसाद मंगर भगत की चर्चित कविता 'लन्दन में स्वयंवर' 1961 ई0 में 'नवजीवन' नामक

पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इस कविता में रामचरितमानस की चौपाइयों की पैरोडी करके तत्कालीन राजनीतिक स्थिति पर व्यंग्य किया गया है। डॉ0 मुनीश्वरलाल चिन्तामणि कवि के साथ ही साथ मॉरिशस हिन्दी कविता के समीक्षक भी हैं। इनकी काव्य रचनाएँ हैं– प्रथम किरण तथा शांति निकेतन की ओर। प्रथम किरण की कविता का मूल स्वर सत्य अहिंसा और मानव प्रेम है। शांति निकेतन की ओर कविता संकलन विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की जन्म शताब्दी के अवसर पर 1961 ई0 में प्रकाशित किया गया था, इसमें चिन्तामणि ने मुक्त छन्द का प्रयोग किया है। मुझे कुछ कहना है नामक कविता सोमदत्त बखोरी जी का है, जो कि मॉरिशस के हिंदी कविता के सशक्त स्वर हैं।

12 मार्च 1968 ई0 को मॉरिशस ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त हुआ। आजादी की खुशी और उल्लास आधुनिक काल के कवियों की रचनाओं में दिखलाई पड़ता है। मध्यकाल में रचना करने वाले ब्रजेन्द्र भगत मधुकर, सोमदत्त बखोरी तथा मुनीश्वर लाल चिन्तामणि आधुनिक काल में भी रचना करते रहे। आधुनिक काल में प्रकाशित ब्रजेन्द्र भगत मधुकर जी की काव्य रचनाएँ हैं– स्वराज्य गीतांजली, एक कहानी कुली की, मधुकलश, मधुवन, मधुमास, मधुचक्र, जय हिंदी, मधुदीप, माधुरी, मधुगुंजार आदि।

हरिनारायण सीता का एक मात्र काव्य संकलन 'प्रभात' 1969 ई0 में प्रकाशित हुआ था। इस संकलन में कुल छह कविताएँ हैं– 'प्रभात, अभिशाप, मेरी तस्वीर हँसी, यह गीत नहीं, पतित पागल, मुड़िया पहाड़ की आत्मकथा'। प्रभात कविता में छायावाद का प्रभाव है। इसमें प्रकृति का मानवीकरण किया गया है। मुड़िया पहाड़ की आत्मकथा नामक लम्बी कविता में कवि के मॉरिशस द्वीप के प्रहरी मुड़िया पहाड़ करुण कहानी को कथा का आधार बनाया गया है।

चक्रव्यूह नामक कविता में हरिनारायण सीता ने आत्मकथा के द्वारा महाभारत के आख्यान को नवीन रुप दिया गया है।

सोमदत्त बखोरी का सबसे अधिक काव्य आधुनिक काल में प्रकाशित हुआ। बीच में बहती धारा, नशे की खोज, साँप भी सपेरा भी। इनकी कविता तृतीय विश्व महायुद्ध का एक अंश–

Þrhlj egk;q) d g rhu ekp
Xkjhch chekjh vKkurk
yMrs g ble flikgh
dne& dne ij goynkj l
ekj tkrs g ble vkneh] v0;oLFkk dh ryokj lAß

नवनिर्माण की बेला (1972) काव्य संकलन की कविताएँ हैं– सुन्दर प्यारा देश हमारा, नवनिर्माण की बेला, एक निर्धन बेटा, भगवती माण्डवी तथा ध्वनन काव्य संकलन मुनीश्वर लाल चिंतामणि का आधुनिक काल में प्रकाशित काव्य संकलन है।

मॉरिशस की हिंदी कविता को एक नई ऊँचाई तक ले जाने वाले रचनाकार अभिमन्यु अनत हैं। 9 अगस्त 1947 ई0 को मॉरिशस के त्रिओली गाँव में जन्म लेने वाले अभिमन्यु अनत प्रखर बहुमुखी प्रतीक से सम्पन्न रचनाकार हैं। अधिकांश मात्रा में कथा साहित्य का सृजन करके भी जब उनके सृजन की छटपटाहट शांत नहीं हुई, तब उन्होंने कविता का सहारा लिया–

"उपन्यास कहानी तथा नाटक के बाद ही कविता को अपनी अभिव्यक्ति बनाने की विवशता। जब भीतर की छटपटाहट और व्यथा किसी दूसरी विधा से व्यक्त नहीं हो पातीं तब कविता का सहारा लेना पड़ता है।"[3]

अभिमन्यु अनत की काव्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

नागफनी में उलझी साँसे 1977, कैक्टस के दाँत 1982, एक डायरी बयान 1986, गुलमोहर खौल उठा 1994 अभिमन्यु अनत की कविताओं का परिवेश व्यापक है। अपनी कविता में समाज में होने वाले अत्याचार और शोषण के खिलाफ वे अपनी आवाज बुलंद करते हैं–

ÞrEgkjk ;g nkok g fd
re n'k dh mUufr d fy,

lcl dfBu dk;l djus tk jgs gks
ejh utj esa dkbZ vFk ugha j[krk]
mUufr voufr dks NkMks
ejh rjg ukdjh dh ryk'k esa yx dj fQj crkvks
dkSu dke fdruk dfBu gSAÞ

कवि अभिमन्यु अनत उस इतिहास को झूठा मानते हैं, जिसमें आम आदमी की आशा, आकांक्षा, एवं संत्रास की अभिव्यंजना न हुई हो। स्वाधीन मॉरिशस देश की इतिहास विधाता से कवि प्रश्न करता है कि इतिहास योजना व्यवस्था निष्पक्ष क्यों नहीं है–

^^bfrgkl vxj dkbZ gS] rks fy[k tk, bfrgkl dkA vc ejh lkSV gFkyh ijAÞ

सूरज के प्रिय प्रतीक के माध्यम से कवि व्यंग्य करता है कि–

ftl fnu lwjt dks
etnwjksa dh vkSj xokgh nsuh Fkh]
ml fnu lwcg ugha gqbZ
lwuk x;k fd
ekfyd ds ;gk dh ikVh esa lwjt us T;knk ih yh FkhAÞ

मॉरिशस में व्याप्त आर्थिक विषमता पर लेखक ने व्यंग्य किया है। कवि प्रतीकों के माध्यम से पूँजीपतियों एवं सत्ताधारियों से प्रश्न करता है–

ejh eVBh dk mtkyk rEgkjh eVBh esa D;ks cn gS
ejh eVBh ds dDVl esa
Qy D;ks ugha vk;k \

कवि की ये पंक्तियाँ आज भी पूरे विश्व में आर्थिक असमानता की गवाह हैं और उसे अक्षरशः सही साबित करती हैं। भारत में भी आज 10 प्रतिशत लोगों के पास 90 प्रतिशत धन और भूमि पर अधिकार है और 90 प्रतिशत लोग आज भी रोजी–रोटी के लिए दर–दर की ठोकर खा रहे हैं। कवि झूठे आश्वासनों में विश्वास नहीं करता –

Þfo"kys lrk"k dks ihrs&ihrs
vc esa futhZo gks pqdk gS
Ykfdu ejh /kd /kd lkalks dh ckjkbZ gSbZ [kkek'kh irk ugha dc xjt mBsAß
esa Lohdkj ugha ldrk
dcrjks ds chp ckt dks
viuh lokyks dks cp ugha ldrk
esa [kkek'kh Lohdkj ugha ldrkA

अभिमन्यु अनत की कविताओं का मूल्यांकन करते हुए डॉ0 श्यामधर तिवारी ने लिखा है– "अभिमन्यु अनत जनजीवन गायक कवि हैं। उन्होंने आम आदमी के दुख दर्दो को अपनी कविताओं का . . . . . [3]

डॉ0 श्यामधर तिवारी मॉरिशस के जन कवि अभिमन्यु अनत– कोसल पत्रिका, 1980, पृष्ठ संख्या–59 ,1982

'कैक्टस के दाँत' अभिमन्यु अनत की कविता का दूसरा कविता संग्रह है, जिसमें 88 कविताएँ हैं। इन कविताओं में अस्मिता की खोज की गई है। स्वतंत्रता को अपने तरीके से व्याख्या करती हुई ये पंक्तियाँ देखिए –

ßejh ,d LorU=rk gS] jktuhfr dh nh gqbZ
ftl Nwus dh pkg fy,] Nwus ugha ikrkß

भयावह जंगल, काँच का टुकड़ा, मैं तुम्हें स्वर्ग नहीं जाने दूँगा, हवा और हवा इस संग्रह की प्रमुख कविताएँ हैं।

एक डायरी बयान–1986– इस संग्रह की 13 कविताएँ डायरी लेखन के रूप में हैं और 18 डायरी लेखन से बाहर हैं। अभिमन्यु अनत कथन अपनी कविताओं के बारे में देखिए– ये सारी कविताएँ उस निहत्थेपन और सिले हुए आक्रोश की प्रतिक्रिया ही तो है जिसमें आज मेरे देश का आदमी सियासती वायदों के हाथों अपने को गिरवी रखकर जी रहा है।"[4]

अभिमन्यु अनत के साहित्य के मर्मज्ञ डॉ0 कमल किसोर गोयनका का मानना है कि डायरी विधा में उपन्यास, कहानी, आदि लिखे गए हैं किन्तु कविता के लिए इसका प्रयोग पहली बार अभिमन्यु अनत ने किया है।[5]

आजादी के बाद की राजनीतिक सौदेबाजी और घपलेबाजी पर व्यंग्य करते हुए कवि कहता है–

vkt viuh lky fxjg ij
fQj t>rs jgus dk ,d u;k dky
HkaV dj jgk gS viuk dk
viuk dk VVus ls cpkus dh ;g cbekuh
blfy, rkfd viuh vxyh lky fxjg ij
viuk ykxk ds fy, yk ldk
mu nlj ykxk }kjk fnykflr
og cgrj Hkfo";Aß
xyegj [kky mBk&1994

यह कविता संकलन ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में 76 कविताएँ और 25 क्षणिकाएँ हैं। कविता शीर्षक से ही पता चलता है कि इन कविताओं में विद्रोही स्वर है।

ßD;k gS ejh dfork
bl fookn dk Hkyk gh ns
dqN vkj gh dguk gS rq>ls
;s ejh >ViVkgV dh v/kjh ifDr;k gS
ftues dfork cuus dh NViVkgV gSAß

हेमराज सुन्दर मॉरिशस के सर्वाधिक समर्थ युवा रचनाकार हैं। चेतना 1973 और चुनौती 1979 इनके दो प्रमुख काव्य संग्रह हैं। पूँजीवाद के वीभत्स चेहरे को हेमराज जी ने बेनकाब कर दिया है –

ijthokn ,d pexknM
ftldk nkuk ukdnkj ijt
,d e nck fu/ku
nlj e nch ljdkjAß

मुकेश बोध मॉरिशस की गजल विधा की हिंदी कविता के प्रवर्तक कवि हैं। इनकी ग़ज़ल साजिश का एक शेर –

ßykxk u feydj gekjs f[kykQ dh gS lkft'k
bu fnuk Qklyk ls pyrk gS viuk lk;kAß

इन्द्रनाथ भोला की रचना संकलन 'वरदान' 1972 में प्रकाशित हुआ।

प्रथम रश्मि – जनार्दन कालीचरण

आकाशगंगा –पूजानंद नेमा

मॉरिशस की हिंदी कविता में ठाकुर प्रसाद मिश्र खण्ड काव्य के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका खण्ड काव्य 'दीपावली' 1968 ई0 में प्रकाशित हुआ। इनके अलावा ज्ञानेश्वर रघुवीर, महेश राम जी यावन, गिरजानन रंगू, सूर्यदेव सिवरत इत्यादि मॉरिशस के प्रमुख कवि हैं।

मॉरिशस की हिंदी कविता के विविध स्वरों को उद्घाटित करती डॉ0 सुधारानी पाण्डेय की निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

''मॉरिशस की हिंदी कविताएँ जहाँ एक ओर भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता की अर्थवेत्ता से जुड़कर उत्कट राष्ट्रीय चेतना की परिचालक हैं, वहीं अन्तर्मन के नन्दन कानन में प्रणय का मधुमास का छविजाल बिछाने में भी पूर्ण समर्थ रही है। ओजस्वी कवि की चेतना 'एक गिरवी आत्मा के पैबन्द लगे इतिहास' का दस्तावेज प्रस्तुत करती हैं, वहीं सुख–दुःख साथ निभाने वाली प्रणय की 'धुँधली स्मृति' से लोचनों की यमुना जल से मुर्झाये प्रणय तरु सिंचन से जीवन दान के दीप जलाने की अभिलाषी है।''[6]

lanHkZ %

1. विष्णु प्रभाकर–प्रहलाद रामशरण द्वारा संपादित पुस्तक, भारतीय वाङ्मय में मॉरिशस की संस्कृति, पृ0 87–87
2. मॉरिशस का कथा साहित्य और अभिमन्यु अनत–डॉ0 सुनील विक्रम सिंह, प्राच्य प्रकाशन वाराणसी, पृ0 30
3. मॉरिशस के नौ हिंदी कवि सम्पादित पुस्तक–अभिमन्यु अनत
4. अभिमन्यु अनत एक डायरी बयान – 1996
5. डॉ0 कमलकिशोर गोयनका–अभिमन्यु अनत : एक बातचीत, पृ0 61
6. डॉ0 सुधारानी पाण्डेय–गगनांचल 1985, पृ0 158

***

lkekftd leL;kvk l l?k"kjr ^lf"V ij igjk*

f'kojke ek;*

'सृष्टि पर पहरा' केदारनाथ सिंह का महत्वपूर्ण काव्य–संग्रह है। इसकी कविताओं की बात शुरू करने से पहले मैं इस बात को स्पष्ट करना चाहूँगा, कि इस संकलन की समस्त कविताएँ भाषा शिल्प एवं वैचारिकता की दृष्टि से 20वीं शताब्दी के एक परिपक्व कवि की पूरी वैचारिक सजगता एवं आधुनिक सोच के साथ प्रस्तुत की गयी है।

21वीं शती हमारे सामने बड़ा बदलाव लेकर आयी, जिसने हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया। इसी शती में वैज्ञानिक तकनीकी ने भी खूब प्रगति की। सूचना संचार प्रौद्योगिकी, दूर संचार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई। अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई।

वैज्ञानिक प्रगति के कारण एक देश, दूसरे देश के संपर्क में आये और इनमें आपसी आदान–प्रदान हुए। सभी एक दूसरे की सभ्यता, संस्कृति से परिचित हुए और इन सभी चीजों का बाजारीकरण हुआ, जिसके चलते पूँजी की महत्ता बढ़ी और इसका विस्तार हुआ और सम्पूर्ण संसार का भूमण्डलीकरण भी। इन सभी प्रवृत्तियों के चलते आर्थिक विषमता की खाईं चौड़ी हुई। बेरोजगारी बढ़ी भारतीय राजनीति–सम्प्रदायिकता तथा जातिवाद का शिकार हुई।

कवि अपने समय में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विषयों से प्रभावित होता है तथा इन सब पर ही वह अपने चिन्तन को व्यक्त करता है। इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है।

कवि केदारनाथ सिंह जी भी इसके अपवाद नहीं हैं। इन पर भी तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। इनके हालिया काव्य संग्रह 'सृष्टि पर पहरा' पर उपर्युक्त पृष्ठभूमि से जुड़ी चिंताओं की अभिव्यक्ति हुई।

'विद्रोह' कविता के माध्यम से कवि ने आधुनिकता के प्रति उपज रहे विद्रोह का चित्रण किया है। विज्ञान ने हमें बहुत कुछ दिया, लेकिन इनके बदले में हमसे अनेक चीजों को छीन भी लिया है। हमारे वन, बाग, तालाब सब उजड़ रहे हैं। धरती के खनिज तत्वों का अंधाधुन्ध दोहन किया जा रहा है। प्रकृति के प्रति गैर जिम्मेदाराना रवैया तथा हमारी सीमित सोच ने प्रकृति को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। मनुष्य की इसी स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण प्रकृति के सभी तत्व विद्रोह कर रहे हैं और अपने मूल को वापस जाना चाहते हैं।

कवि प्रकृति के गैर जिम्मेवारी पूर्वक दोहन के खिलाफ है। वह सभी को सचेत करना चाहता है, कि अगर हम सब की सोच में परिवर्तन नहीं हुआ, तो वह दिन दूर नहीं, जिस दिन हम लोग सुविधाहीन हो जायेंगे। कवि ने घर के अन्दर उठ खड़े हुए विद्रोह की बडी ही व्यंग्यात्मक प्रस्तुति की है–

आज घर में घुसा/ तो वहाँ अजब दृश्य था/
सुनिए– मेरे विस्तर ने कहा– यह रहा मेरा इस्तीफा/
मैं अपने कपास के भीतर/ वापस जाना चाहता हूँ।[1]

*शोध छात्र, डॉ0 हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, म0प्र0 ।

इसके पश्चात् बिस्तर ही नहीं घर की कुर्सी, मेज, आलमारी में बन्द किताबें, टेलीविजन, फोन, दरवाजा सभी विद्रोह कर देते हैं और इन विद्रोहों को दबाना भी आसान नहीं। वे कहते है–

जी अब बहुत हो चुका/
आप को सहते–सहते।[2]

'विज्ञान एवं नींद' कविता में विज्ञान एवं नींद के मध्य तालमेल स्थापित करते हुए भी एक विरोधाभाष को चित्रित किया है। जब मानव विकास ने इतनी प्रगति नहीं की थी, तो वह कितनी चैन से सोता था। कवि ने स्पष्ट करना चाहा है, कि प्रत्येक कार्य विज्ञान के माध्यम से ही नहीं किये जा सकते। विज्ञान ने तो हमें अनेकों सहूलियतें तो उपलब्ध करायी, लेकिन इन सबके बदले हमसे हमारी नींद को ले लिया–

विज्ञान के अँधेरे में/
अच्छी नींद आती है।[3]

'घास' नामक कविता के माध्यम से केदारनाथ जी भारतीय समाज में व्याप्त शोषितों, पीड़ितों की दशा को व्यक्त करते हैं, जो कि हमेशा से ही शोषित, पीड़ित रही है। जिसके पास न तो खाने के लिए भोजन और न रहने के लिए आवास है। कवि निवेदन करता है–

तुम्हारे घर के किले में/ बस एक छोटा सा– सुराख/ कि वह घुस जाये अन्दर।[4]

भारतीय राजनीति के साथ–साथ विश्व राजनीति में जिस प्रकार से गरीब उपेक्षित रहा है, अब उसे और अधिक दिनों तक उपेक्षित नहीं रखा जाना चाहिए और इनके मुद्दों पर एक लम्बी बहस होनी चाहिए।

घास के सवाल पर/ होनी चाहिए एक लम्बी एक अखण्ड बहस।[5]

भारतीय राजनीति में कहने के लिए तो गरीबों को भी राजनीतिक अधिकार दिये गये हैं, लेकिन चुनाव जीतने के लिए धन–बल की आवश्यकता होती है, जो कि इस गरीब के पास नहीं होता। वह हमेशा मैदान में घास के समान अपना बैनर उठाये हमेशा मैदान में ही रह जाता है। वह चुनाव जीत नहीं पाता। कवि शोषितों एवं पीड़ितों का पक्ष लेता हुआ कहता है–

अगले चुनाव में/ मैं घास के पक्ष में/ मतदान करूँगा।[6]

'मंच और मचान' शीर्षक कविता में एक पुराने वट वृक्ष का वर्णन है, जो वर्षों से जीती–जागती हमारी संस्कृति का प्रतीक है। वह एक धरोहर है। यह अनेकों जीव–जन्तुओं के विषय का स्थान भी है। इस पर बौद्ध, सिक्ख, चीनी बाबा भी रहते हैं। जिनका निवास इस वृक्ष के ऊपर है, वही वृक्ष ही चीनी बाबा का घर है, लेकिन यह वृक्ष हमारे देश के अदूरदर्शी एवं मूर्ख नेताओं की बुद्धि हीनता का शिकार होता है। उचित एवं अनुचित का निर्णय किये बिना वृक्ष काटने का आदेश दे दिया जाता है–

पहली चोट के बाद ऐसा लगा/ जैसे लोहे ने झुककर पेड़ से कहा– माफ करना भाई/कुछ हुक्म ही ऐसा है/ और ठक–ठक गिरने लगा उसी तरह।[7]

ईश्वर को एक भारतीय नागरिक के कुछ सुझाव–कविता में कवि ने भारतीय समाज में व्याप्त राजनीतिक तथा सामाजिक विसंगति को बड़ी कुशलता पूर्वक चित्रित किया है। पहले सुझाव में वह मानवता की रक्षा के लिए अणुबम को पृथ्वी से उठाकर स्वर्ग में रखने के लिए कहता है। भारत देश की बढ़ती जनसंख्या एवं जीविका के साधन जुटाने के लिए ग्रामीण लोगों का पलायन शहरों की ओर होने से शहरों में बच्चों के खेलने के लिए कोई खाली स्थान नहीं बचा, इसलिए वे ईश्वर से कहते हैं–

यहाँ शहरों की गलियाँ/अब पड़ रही है छोटी/ इसलिए कुछ ऐसी जुगत करना/कि पृथ्वी के बच्चे कभी–कभी क्रिकेट खेल आएँ/ चाँद पर/[8]

इसके बाद वे ईश्वर का ध्यान भारतीय समाज में व्याप्त जातिवाद की ओर खींचते हैं। उन्हें यह अहसास है कि, चाहे कितना भी प्रयास किया जाय समाज के इस लाइलाज बीमारी से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। इसलिए वे समाज को सुधारने के लिए कोई उपाय करने के लिए नहीं कहते बल्कि भारतीय समाज का पुनर्सृजन करने का सुझाव देते हैं–

भारत का सृजन/अगर फिर से करना/ तो जाति नामक रद्दी को/ फेक देना अपनी टेबुल के नीचे की टोकरी में।[9]

'गमछा और तौलिया' में केदारनाथ सिंह जी द्वारा परम्परा तथा आधुनिकता में सामंजस्य बिठाये जाने की कोशिश की है। परम्परा को बचाये रखते हुए भी आधुनिक हुआ जा सकता है–

तौलिया गमछे से कह रहा था/ तू हिन्दी में सूख रहा है/

मैं अंग्रेजी में कुछ देर/ झपकी लेता हूँ।[10]

कविता संग्रह की 'सृष्टि पर पहरा' शीर्षक कविता में एक ऐसे शोषित पीड़ित वर्ग की दशा का चित्रण किया है, जिसका आधार ढगमगा गया है। वह अब बहुत दिनों तक स्थिर नहीं रह सकता, लेकिन फिर भी अपनी उत्कट जिजीविषा एवं अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए विषम परिस्थितियों में भी सामाजिक तथा सांस्कृतिक अस्मिता को बचाये रखने के लिए प्रयासरत है और जीवन के साथ संघर्ष कर रहे हैं।

जड़ों की डगमग खड़ाऊ पहने/ वह सामने खड़ा था, सिवान का प्रहरी/ जैसे मुक्ति बोध का ब्रह्मराक्षस एक सूखता हुआ लम्बा झरनाठ वृक्ष/ जिसके शीर्ष पर हिल रहे थे तीन चार पत्ते।[11]

इस संघर्ष के पीछे विशाल जनसमूह नहीं है, लेकिन फिर भी उद्देश्य के प्रति समर्पण एवं अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए यह प्रयास महान है।

कितना भव्य था/ एक सूखते हुए वृक्ष की फुनगी पर महज तीन चार पत्तों का हिलना/ उस पर विकट सुखाड़ में सृष्टि पर पहरा दे रहे थे तीन चार पत्ते।[12]

'बबूल के नीचे सोता बच्चा' कविता में कवि केदार जी मजदूर एवं शोषितों के पक्ष में खड़े दिखाई पड़ते हैं और मजदूरनी के बच्चे के माध्यम से वे तथाकथित आज के विकास पर खुश होने वाले लोगों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि आज भी हमारे मध्य समाज का ऐसा वर्ग है, जिसके पास न खाने के लिए भोजन न रहने के लिए आवास है। इस तरह के झूठे दिखावटी विकास पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं–

दिल्ली से कह दो/हरिकोटा से कह दो/ दुनियाभर से राडारों से कह दो/ अभी–अभी बना/ अन्तरिक्षयान सो रहा है/ बबूल के नीचे।[13]

और इस तरह दिखावटी विकास पर विरोध जताते हुए कहते हैं, अभी उल्टी गिनती गिनना शुरू मत करो, अभी हमारे मध्य बहुत गरीबी है, पहले इस पर विजय पाओ–

नहीं नहीं/ अभी उल्टी गिनती, गिनना शुरू मत करो/

अभी उड़ने में देर है/ मा अभी व्यस्त है सोहनी में/

दूध अभी गर्म हो रहा है/ पसीने की आँच पर।[14]

'हक' कविता में कवि भारत पाक के मध्य पड़ी दरार को भरने की प्रबल इच्छा प्रकट करता है। कवि चाहता है कि दरार इतनी गहरी न हो कि हवायें आने से कतराने लगें और पक्षी सरहदों में बँट जाय। कवि की इच्छा है, चाहे जैसे भी हो दोनों देशों के बीच एक पतली सी झिरी खुली रहे जिससे खुली हवा में सांस ले सकें, इतना स्थान तो होना ही चाहिए।

चलती रहे वार्ता/होते रहें हस्ताक्षर/ ये सब सही/ ये सब ठीक/ पर हक को भी हक दो/ कि ज़िन्दा रहे वहा।[15]

'एक किसान का सुख' इस संग्रह की बहुमूल्य कविता है। किसान दिन–रात खेतों में काम करके अपना पालन–पोषण करता है तथा देश के लिए खाद्यान्न उपलब्ध कराता है, लेकिन आज सर्वत्र किसानों का शोषण हो रहा है, कृषि उसकी आजीविका का साधन है। वह भी पूँजी–पतियों द्वारा औने–पौने दामों पर अपने नाम करा लिया जा रहा है। भू–माफिया भी उसकी जमीन पर नजर लगाये बैठे हैं और बलपूर्वक जमीन हथिया लेना चाहते हैं।

इस कविता में किसान को साहस का संचार सांप की चमकती हुई आँख को देखकर होता है।

आज नरकट की पत्तियों में/उसने एक सांप की चमकती हुई आँख देखी/ उसने जोखिम में देखी/ अद्भुत सुन्दरता।[16]

जब साहस पैदा हो जाता है, तब किसान इन लोगों से संघर्ष करने के लिए तैयार हो जाता है और विद्रोह कर देता है–

वह कचहरी गया / वहां उसके सामने रखा गया / एक सादा कागज / कहा गया यहां–यहां / दस्तख़त करो / और किसान का विद्रोह उसे चेतन बना देता है / उसने इन्कार किया / और उसे लगा / वह दस गुना / बीस गुना / सौ गुना और जिन्दा हो गया।[17]

कवि ने स्पष्ट करना चाहा है कि प्रतिरोध की शक्ति में क्रान्ति के बीज छुपे होते हैं, जो किसी मरे हुए समाज को भी जिन्दा कर सकते हैं।

'चुप्पियाँ' इस संकलन की अधिकार के प्रति सजग करती हुई कविता है। कवि अपनी कविता के माध्यम से सचेत करता है। चुप्पियों का बढ़ना खतरनाक होता है। जहाँ बोलना आवश्यक हो वहाँ चुप नहीं रहना चाहिए। अन्याय को देखकर चुप रहना उचित नहीं है। यदि हम चुप हो जाते हैं, तो यह हमारे लिए और समाज के लिए घातक सिद्ध होता है–

चुप हो जाता है / एक पूरा समाज
एक जीता–जागता राष्ट्र /
भूल जाता है वह अपनी भाषा।[18]

चुप रहना भी एक तरह का गुनाह है, ये समझना जरूरी है। मानों कवि कहता है कम से कम अपने अधिकारों के लिए बोलो, वरना तुम्हारी खामोशियाँ तुम्हारे अस्तित्व को समाप्त कर देंगी, चुप्पियों को तोड़ना ही होगा, नहीं तो वह दिन दूर नहीं जब तुम्हारा अस्तित्व मिट जायेगा।

इसलिए अन्याय के विरोध में आवाज उठाना ही हितकारी है। इसके लिए किसी विशाल जन समूह की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए–

क्योंकि– एक फूल के खिलने से भी /
दरक जाते हैं पहाड़।[19]

इस प्रकार देखते हैं, केदारनाथ सिंह जी वर्तमान समाज में व्याप्त सभी समस्याओं पर संघर्ष करते नजर आते हैं। जहाँ एक ओर 'विद्रोह' कविता के माध्यम से प्रकृति संरक्षण एवं त्यागपूर्वक भोग की शिक्षा देते हैं, वहीं, 'गमछा' और 'तौलिया' कविता में परम्परा तथा आधुनिकता के मध्य ताल–मेल स्थापित करते हैं।

'ईश्वर को भारतीय नागरिक के कुछ सुझाव' कविता के माध्यम से भारत की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्यओं को उजागर करते हैं, 'बबूल' के नीचे सोता बच्चा' कविता में एक मजदूरनी के दुःखों एवं समस्याओं को बताते हैं। 'एक ठेठ किसान का सुख' नामक कविता में किसानों की समस्या पर बात करते हैं। 'चुप्पियाँ' कविता के द्वारा समाज को अधिकार के प्रति सजग करते नजर आते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि केदारनाथ जी की कविता सामाजिक समस्याओं से संघर्ष करती हुई आगे बढ़ती है।

lnHk

1. सृष्टि पर पहरा–केदारनाथ सिंह, प्रकाशक– राजकमल प्रकाशक प्रा0लि0, दिल्ली, पहला संस्करण–2014,पृ0 11
2. वहीं, पृ0 11
3. वहीं, पृ0 28
4. वहीं, पृ0 21
5. वहीं, पृ0 23
6. वहीं, पृ0 23
7. वहीं, पृ0 44
8. वहीं, पृ0 47
9. वहीं, पृ0 47
10. वहीं, पृ0 60
11. वहीं, पृ0 62
12. वहीं, पृ0 62
13. वहीं, पृ0 63
14. वहीं, पृ0 64
15. वहीं, पृ0 67
16. वहीं, पृ0 114
17. वहीं, पृ0 115
18. वहीं, पृ0 6
19. वहीं, पृ0 76

***

vk/kfud ;x e Yk¨dxhr¨ dk ÁHkko

Ánhi dekj e©;*

इंग्लैण्ड के साहित्य में अठारहवीं शताब्दी को चहकते पक्षियों का नीड़ माना गया है। हिन्दी साहित्य का छायावाद युग भी वैतालिकों से पूर्ण है। भक्तिकाल के अनन्तर शताब्दियों तक लुप्त गीति–परंपरा पुनः इस युग में वेग पूर्वक चल पड़ी। इसके अनेक कारण हैं– समय के प्रभाव, विदेशियों के सम्पर्क, साहित्यिक प्रतिक्रिया तथा विदेशी साहित्य के अध्ययन से एक विचित्र बहुमुखी जागृति उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरूप हिन्दी साहित्य गीति–निधि से समृद्ध हो उठा। उन दिनों जन–जीवन में महान परिवर्तन हो रहा था। पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता के संघर्ष के एक विचित्र हलचल उत्पन्न हो गई थी और राजनीतिक विवशताओं, दरिद्रता तथा अन्य कारणों से लोग निराशावादी बन गये थे। ये सभी प्रवृत्तियाँ साहित्य में प्रतिफलित हुईं, क्योंकि इनसे प्रभावित कवियों ने गीतिरचना में अत्यधिक रूचि प्रकट की। ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ सर्वदा गीतात्मक उद्वेक के लिए अनुकूल पाई गई हैं।[1]

हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग की गीतियों पर लोकगीतों का प्रभाव कम नहीं है। लोकगीतों से ही इन्हें लय की प्राप्ति हुई है, वहीं से आख्यान मिले हैं और उन्हीं की मधुरता और लोकप्रियता से आकर्षित हो कवि गीतों की रचना में संलग्न हुए हैं। इनमें कवित्व–कला का समावेश करके कवियों ने कला गीतों की सृष्टि की है। लोकगीतों से साहित्यिक गीतों के अभ्युदय की मान्यता यूरोपीय साहित्य में भी प्रचलित है।

फ्रांस की गीतियों के विकास पर दृष्टिपात करने से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है, कि लोकगीतों से ही उनका मूल स्रोत है। आदियुग के लोकगीत कार्यरत व्यक्तियों के गाने के लिये बने थे। जब लोग सूत् कातते थे। खलिहानों में काम करते थे या नौकायें खेते थे, तो उन्हें गाया करते थे। उन दिनों इनका स्वरूप पूर्णतः सामाजिक था और समाज द्वारा इनकी रचना भी होती थी। धीरे–धीरे स्थिति बदली और कवित्व की शक्ति से पूर्ण एक व्यक्ति इनकी रचना करने लगा। ऐसे व्यक्ति अपनी जीविका अर्जित करने के लिए घूम–घूम कर गाया करते थे, गीतों की स्वयं रचना करते थे, लेकिन इनके गीतों की टेक व्यवस्था प्राचीन सामाजिक गीतों के अनुरूप ही होती थी, जिसे लोग नाचते समय या काम करते समय गाया करते थे। कालांतर में कला के सहयोग से यही लोकगीत साहित्यिक गीत बन गये, इनमें कवि की रुचि प्रधान होने लगी फिर भी इनमें कुछ ऐसी विशेषताएं बनी रहीं जो इनके आदिम सामाजिक स्वरूप की ओर संकेत करती हैं। इनका आकार और इनके संस्कार बहुत दिनों तक लोक गीतों के समान ही बने रहे। लोकगीतों के साहित्यिक गीतों में बदल जाने से कवित्व के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे जो गीत अत्यन्त सहज, स्वाभाविक भावोद्रेक को व्यक्ति करने वाले थे तथा विशेषतः काम करने वाली प्रसन्न स्त्रियों द्वारा गाये जाते थे अब अलंकृत एवं कवित्व पूर्ण बन गये, उनकी रचना पुरुषों द्वारा की जाने लगी और उनकी सहजता जाती रही।[2]

संस्कृत साहित्य में जयदेव के गीतगोविन्द से गीत रचना का प्रारम्भ माना जाता है। यह रचना पहले से चली आती हुई गीत परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है, क्योंकि इसके द्वारा कवि को जो सफलता और लोकप्रियता प्राप्त हुई है, वह किसी सर्वथा नवीन काव्य परम्परा द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती है। जयदेव का गीत गोविन्द लोक में प्रचलित काव्य परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाली रचना है इस पर जन गीतियों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।[3]

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

हिन्दी के आदिकाल के कवि विद्यापति और बंगला के प्रसिद्ध कवि चण्डीदास के गीतों में लोकगीतों की भांति उन्मुक्त प्राकृतिक वातावरण का चित्रण उपलब्ध होता है यहां कवि अपने भावों का अध्यन्तर गोपी कृष्ण के प्रेम विलास के साथ कर लेता है इसलिए भावाभिव्यंजन की इसी प्रणाली को स्वीकार किया जाता है। वहां भी गायक पात्रों के माध्यम से अपने भावों को श्रोता के सक्षम प्रकट करता है, वे भाव उसके होते हुए भी ऊपर से उसके नहीं प्रतीत होते।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की सम्पूर्ण वैष्णव पद परम्परा लोकहित से सर्वथा सम्बन्धित रही है। सन्त तथा भक्त कवियों ने जगत के कल्याण के लिए पदों की रचना की है जिनका प्रचलन जनसाधारण में आज भी भजन के रूप में अत्यधिक दिखाई पड़ता है। यह पद परम्परा अपभ्रंश में संतों द्वारा प्रणीत चर्यापदों के रूप में वर्तमान है। इसको कुछ ऐसी लोकप्रियता प्राप्त हुई थी, कि कश्मीर के क्षेमेन्द्र, उत्कल के जयदेव, बंगाल के चण्डीदास, मिथिला के विद्यापति, व्रज के सूर, राजस्थान की मीरा आदि अनेक भक्त कवियों ने इसे समान रूप से स्वीकार किया था। इन पदों में प्रचलित मात्रिक छन्द लोकगीतों के छन्दों के समान हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पद साहित्य लोकगीतों से सर्वथा प्रभावित रहा।

हिन्दी साहित्य में श्रीधर पाठक ऐसे पहले कवि हैं जिनमें स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति सर्वप्रथम परिलक्षित होती है। इन्होंने 'एकान्तवासी योगी' के द्वारा प्रेम के स्वच्छन्द स्वरूप को पाठकों के सामने रखा, यह रचना 'लावनी' तर्ज पर लिखी गई है और इनका 'जगत सचाई सार' सुयेर साइयों के लय में प्रणीत है। इन रचनाओं के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि पाठक जी ने हिन्दी कविता को पाण्डित्य के बोझ से मुक्त कर जनता के हृदय में संचारित करने की चेष्ट की है।[4]

सन् 1900 ई0 से सरस्वती का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसके माध्यम से साहित्य का नेतृत्व प्रारम्भ किया। इसलिए उसकी प्राचीन प्रतियों पर दृष्टिपात करने से तत्कालीन काव्यचेतना की रूपरेखा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उसकी प्राचीन प्रतियों में ऐसी रचनाएं भी मिलती हैं–

vjh rq d©u gS ckYkk!
dgk ls vkt vkbZ gSA
fd QwYkokjh d¨ eFk MkYkk
crk D;k chu Ykkbl gSA
l¨tk cc¨ l¨tk pUnk l¨tk
l¨tk Òw;k l¨tk l¨tk l¨tk
tYnh l¨uk tYnh l¨uk ;g fl)kUr cukuk viuk
cf)eku uhj¨x xq.kkdj g¨ rq Jh;qr fo|klkxj l¨tkA[5]

आज भी हमारे समाज में लोकगीतों को ढोल–मंजीरे के साथ खूब धूम–धाम से गाया जाता है और इस प्रकार आधुनिक युग में लोकगीतों का प्रभाव है।

lanHkZ %

1. डॉ0 केशरी नारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य धारा, पृ0सं0 206
2. डेविड डेकीज : लिटरेचर एण्ड सोसाइटी, पृ0सं0 34, 36
3. डॉ0 रघुवंश : प्रकृति और काव्य, संस्कृत खण्ड, पृ0 128
4. किशोरी लाल गोस्वामी : प्रेमोपहार–'सरस्वती', भाग–1, संख्या 5, पृ0 171
5. गिरिधर शर्मा : लोरी–सरस्वती, भाग 14, पृ0सं0 26

***

vuqdj.k fl)kar dh çkP;&ik'pkR; vo/kkj.kk

lr#æ çdk'k*

çLrkouk % जीव में अनुकरण की अद्भुत शक्ति उसे जन्म से ही प्राप्त होती है। इस विश्व का हर प्राणी जब उत्पन्न होता है, तो बहुत सारे व्यवहार वह बिना किसी प्रकार का प्रशिक्षण लिये अनायास ही प्रारम्भ कर देता है। उदाहरण के लिए, नवजात शिशु द्वारा स्तनपान, माँ के सुखद स्पर्श को प्राप्त करके सुरक्षा की अनुभूति इत्यादि। यह प्रवृत्ति न केवल मनुष्यों में अपितु पशुओं में भी देखी जाती है। अनुकरण की इस प्रवृत्ति ने मानव सभ्यता को आगे बढ़ाने में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। क्योंकि बहुत सारी वस्तुएं या व्यवहार हर पीढ़ी नहीं विकसित करती, अपितु ऐसी चीजें वह अपने पहले की पीढ़ी से ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार उतनी पूर्वकृत उपलब्धियों के आगे वह पीढ़ी कुछ और जोड़कर उस सम्पूर्ण सभ्यता या संस्कृति को आगे बढ़ाती है।

अनुकरण का यह व्यापक क्षेत्र न केवल इन सन्दर्भों में है, अपितु काव्य में भी दृष्टिगत होता है। काव्य की नाट्यविधा पूर्णतः अभिनय पर ही आधारित है। उल्लेखनीय है कि काव्य को प्रथम सोपान में दो श्रेणी में विभाजित किया जाता है– प्रथम, दृश्यकाव्य एवं द्वितीय, श्रव्यकाव्य। दृश्यकाव्य के अन्तर्गत ही नाट्य के सभी अंगो–उपांगों को परिगणित किया जाता है।

vuqdj.k fl)kar dh çkP; vo/kkj.kk %

'नाट्य' शब्द की व्युपत्ति पर विचार करें तो इसकी मूल धातु 'नट्' है, जिसका अर्थ 'किञ्चित् स्पन्दन' या 'अवस्पन्दन' लिया जाता है। इस 'नट्' धातु में तीन प्रत्ययों के योग से नाट्य शब्द की निष्पत्ति होती है। श्यञ् (अष्टाध्यायी, 5.1.124) प्रत्यय के योग से निष्पन्न नाट्य का अर्थ नट का गुण तथा कर्म होता है, ण्यत् (अष्टाध्यायी, 3.1.124) प्रत्यय से निष्पन्न शब्द का अर्थ नटव्यापार होता है। अन्तिम 'ञ्य' (अष्टाध्यायी, 4.3.129) से निष्पन्न नाट्य शब्द का अर्थ होता है, "नटों का आम्नाय" अर्थात् नटों (अभिनेताओं) के आम्नाय द्वारा किया गया अभिनय व्यापार ही नाट्य है।

इस प्रकार व्याकरणिक व्युत्पत्ति का स्पष्ट संकेत है कि नाट्य वही होता है जिसमें नटों द्वारा अभिनय करके अथवा किसी पूर्व घटित घटना अथवा लेखक के काव्य सृजित पात्र का अनुकरण करके उसके क्रिया–कलाप की नकल एक विशेष मंच पर किया जाय। इसी अनुकरण को ही उदात्त भाषा में अभिनय कहते हैं। 'अनुकृति' शब्द का प्रयोग आचार्य भरतमुनि ने भी नाट्यशास्त्र में उसी समय पहली बार किया, जहाँ उन्होंने नाट्य के प्रथम मंचन का उपदेश दिया है। आगे नाट्य के महत्त्व प्रतिपादन पर आचार्य ने पुनः नाट्य को अभिनय से अनिवार्यतः युक्त होना बताया है। उल्लेखनीय है कि आचार्य भरत ने बार–बार अनुकरण, अनुकृति, अभिनय आदि शब्दों का प्रयोग किया है। नाट्य को परिभाषित करने के क्रम में उन्होने पुनः अनुकरण शब्द को लेते हुए प्रतिपादित किया था, "नानाभावों से सम्पन्न, अनेक अवस्थाओं से समन्वित तथा लोक की वृत्तियों के अनुकरण स्वरूप यह नाट्य मेरे द्वारा रचित है"।

आचार्य भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में निर्धारित ये नियम और उपदेश ही कालान्तर में अनेक सिद्धांतों के आधार बने। इन्हीं अनेक सिद्धांतों में सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत अनुकरण का सिद्धांत है। वस्तुतः यह सिद्धांत ही नाट्य विधा का प्राण है। इसीलिए कालान्तर में दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने नाट्य को परिभाषित करते हुए कहा था कि, "अवस्था की अनुकृति (अनुकरण) ही नाट्य है"। इसकी

*शोधच्छात्र, विशिष्टसंस्कृताध्ययनकेन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

अवलोक वृत्ति में आचार्य ने प्रतिपादित किया है कि, "काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतु–र्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्" इस पर व्यास जी की हिन्दी टीका इस प्रकार हैः

"अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं। जहाँ काव्य में निषिद्ध या वर्णित धीरोदात्त, धरोद्धत, धीरललित, धीर प्रशान्त, प्रकृति के नायकों का आङ्गिक, वाचिक आहार्य तथा सात्विक इन चार प्रकार के अभिनयों द्वारा अवस्था का अनुकरण किया जाता है, वह नाट्य है। अवस्थानुकरण से तात्पर्य है कि चाल–ढाल, वेश–भूषा, आलाप– प्रलाप, आदि के द्वारा पात्रों की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस ढंग से किया जाय कि नटों में पात्रों की 'तादात्म्यापत्ति' हो जाय।''

नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से अनुकरण का यह सिद्धांत आचार्य धनंजय द्वारा विधिवत् परिभाषा के रूप में प्रतिपादित किया गया, जिसके बीज भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र में ही हैं। दृश्यकाव्य विधा में अनुकरण सिद्धांत का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इस विधा का केवल श्रवण या पठन ही नहीं होता, अपितु इसे रंगमंच पर मंचित करके प्रस्तुत भी किया जाता है। यह कार्य अनुकरण द्वारा ही संभव होता है। पात्र तो कवि कल्पित होते हैं जिन्हें एक नट/अभिनेता अभिनीत करके दर्शकों के सामने प्रस्तुत करता है।

ik'pkR; fl)krk e vuqdj.k dh vo/kkj.kk %

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अनुकरण शब्द को 'Imitation' शब्द से अभिहित किया जाता है। इस शब्द का प्रथम प्रयोग अरस्तू ने नहीं किया था, अपितु प्लेटो ने सबसे पहले इसका प्रयोग काव्य से संयुक्त करके किया था, लेकिन अरस्तू ने इसे एक नये एवं परिभाषित अर्थ में प्रयोग करके इसके महत्त्व एवं अर्थ को व्यापक बना दिया।

अरस्तू (374 ई.पू.–322 ई.पू.), यूनानी दार्शनिक तथा प्लेटो का शिष्य था। सिकन्दर जैसे विश्वविजेता होने की महत्त्वाकांक्षा रखने वाले सम्राट् का गुरू था। लगभग 400 विविध रचनाओं के रचयिता अरस्तू के 2 बड़े ग्रन्थ काव्यशास्त्र पर हैं, पहला "भाषाशास्त्र" (Rhetoric) और दूसरा "काव्यशास्त्र" (Poetics)। अरस्तू के तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धांत हैं–

1. विरेचन का सिद्धांत (Theory of Purgation)
2. अनुकरण का सिद्धांत (Theory of Imitation)
3. त्रासदी का सिद्धांत (Theory of Tragedy)

संस्कृत काव्य परम्परा में 'अनुकृति', हिन्दी भाषा में 'अनुकरण' तथा आंग्ल भाषा में विवेचित Imitation शब्द मूलतः यूनानी शब्द "Mimesis" का रूपान्तरण है। यद्यपि शब्दों के ये अनुवाद चर्चा में ज्यादा महत्त्व नहीं रखते, परन्तु ये विवादास्पद भी हैं। क्योंकि यह ऐसा प्रथम सिद्धांत है, जिसने प्रकृति और कला के तत्त्वों का परस्पर अनुपात निर्धारित करने का प्रयास किया है, क्योंकि अरस्तू मूलतः कला को प्रकृति की अनुकृति मानता है।

vjLrw dk vuqdj.k fl)kr %

अरस्तू के मतानुसार काव्य या कला का मूल उत्स तो ये अनुकरण ही होता है और व्यक्ति को अनुकरण में आनन्द भी आता है। परन्तु अनुकरण के साथ–साथ काव्य या कला–सर्जन के समय कुछ और भी मौजूद रहता है। एक कलाकार केवल अनुकर्ता नहीं होता। कला उस तत्त्व की भी देन होती है; अनुकरण के साथ–साथ काव्य सृजन के समय उस तत्त्व की उपस्थिति भी आवश्यक है। अरस्तू ने अनुकरण (Imitation) का तात्पर्य प्रतिकृति अथवा नकल न मानकर उस वस्तु का पुनर्निर्माण या पुनर्रचना (Reproduction) माना है। चूंकि अरस्तू ने कला को प्रकृति की अनुकृति माना है, अतः प्रकृति से उसका अभिप्राय कोई सामान्य प्रकृति न होकर उस प्रकृति से है, जिसमें क्रोध, कल्पना, काम, मोह, प्रेम जैसे उदात्त गुण आते हैं। तात्पर्य है कि अरस्तू स्थूल भौतिक प्रकृति को वह प्रकृति नहीं मानता जिसकी प्रतिकृति कला या काव्य होती है।

अरस्तू ने काव्य को भावात्मक आनंद बताया और प्रतिपादित किया कि कविता सामान्यतः मानवीय प्रकृति की दो सहज प्रवृत्तियों से उद्भुत हुई जान पड़ती है, जिनमें से एक है, "अनुकरण की

प्रवृत्ति"। इस महान् दार्शनिक की मान्यता है कि प्रकृति उस प्राकृतिक तत्त्व, जिसे आदर्श रूप माना जाता है, जो प्राप्त करने हेतु निरंतर सक्रिय रहती है, पर कई व्यवधानों के कारण वह उसे प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाती। एक कलाकार या लेखक उन व्यवधानों को हटाकर प्रकृति की सक्रियता का अनुसरण करके उसे पूर्णता प्रदान करता है। अरस्तू की मान्यता है कि एक लेखक या कलाकार अपनी कृति को सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिकता बोध कराने वाला बनाता है। अतः अनुकरण एक सृजन प्रक्रिया है। पाश्चात्य आलोचक एल. एबरक्रोम्बे ने स्पष्टीकरण देते हुए लिखा है, "अरस्तू का तर्क था कि यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती, तो वह हमें उससे कुछ अधिक नहीं दे सकती थी जो प्रकृति देती है, पर तथ्य यह है कि हम कविता का आस्वादन इसलिए करते हैं कि वह हमें वो चीजें प्रदान करती है जो प्रकृति भी नहीं दे पाती। अरस्तू के अनुसार ये सृजन प्रक्रिया तीन स्तरों पर सम्पन्न होती हैः

1. जो वस्तुएं जैसी हैं, उन्हे वैसा ही दिखाया जाय
2. जैसी वे लगती हैं या कही जाती हैं
3. जैसी उन्हें होना चाहिए, वैसे दिखाया जाय

वस्तुतः अनुकरण का अर्थ नकल नहीं, बल्कि संवेदना, अनुभूति, कल्पना, आदर्श आदि के प्रयोग द्वारा अपूर्ण को पूर्ण बनाना है। दूसरे शब्दों में कहें तो, "अनुकरण वह तंत्र है, जिसके द्वारा कवि अपनी कल्पनात्मक अनुभूति की प्रक्षेपणीय अभिव्यक्ति को अंतिम रूप प्रदान करता है" अरस्तू यह कहता है कि वस्तु–जगत् के द्वारा कवि की संवेदना और कल्पना में जो वस्तु रूप प्रस्तुत होता है, कवि उसी को भाषा में प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार यह पुनः प्रस्तुतीकरण ही अनुकरण है, परन्तु केवल इतना ही नहीं, अरस्तू ने अनुकरणीय वस्तु और उसका क्षेत्र भी निर्धारित किया है। क्योंकि यदि सम्पूर्ण प्रकृति की अनुकृति की बात आयेगी तो बहुत से नकारात्मक घटक भी प्रकृति में होते हैं। इसलिए अरस्तू ने उन्हें भी उल्लिखित किया है।

अनुकरणीय वस्तुओं के संदर्भ में ध्यातव्य है कि अरस्तू ने तीन प्रकार से अनुकरण को व्याख्यायित किया है। उन तीनों के परिप्रेक्ष्य में अरस्तू ने काव्य का विषय प्रकृति के प्रतीयमान, संभाव्य और आदर्श रूप को माना है। प्रतीयमान एवं संभाव्य रूप में यदि वह भावना या कल्पना का आश्रय लेगा, तो आदर्श रूप में वह अपनी रुचि, इच्छा तथा आदर्शों के अनुरूप चित्र प्रस्तुत करेगा। इस प्रकार अरस्तू का 'अनुकरण सिद्धांत' भावनात्मक तथा कल्पनात्मक अनुकरण को मानकर चलता है, प्रकृति या वस्तु की शुद्ध प्रतिकृति को नहीं'। वे तीन विषय, जो अनुकरण में प्रभावी भूमिका निभाते हैं, अरस्तू के अनुसार इस प्रकार हैं :

1. प्रकृति
2. इतिहास
3. कार्यरत मनुष्य

जैसा कि प्रतिपादित है, प्रकृति के अनुकरण से तात्पर्य है, प्रकृति में चल रही सृजन–प्रक्रिया तक पहुंच पाना। इस प्रकार कवि या कलाकार बाह्य या स्थूल प्रकृति नहीं, वरन् उन रूपों में निहित प्रकृति की सृजन प्रक्रिया का अनुकरण करता है। परन्तु मात्र अनुकरण से ही कार्य समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि काव्य के बारे में यह भी कहा जाता है, "Art finishes the job when nature fails, or imitates the missing parts." इसीलिए काव्य या कला केवल अनुकरण न होकर सृजन या पुनर्सृजन भी है।

इतिहास और काव्य में अन्तर करते हुए यह प्रतिपादित किया गया कि कवि किसी वस्तु का वर्णन करता है जो घटित हो सकता है, जबकि इतिहास उस वस्तु का वर्णन करता है जो घटित हो चुका है। अरस्तू के अनुसार कवि के अनुसरण का विषय कर्मरत मनुष्य है। मनुष्य बाह्य जीवन के साथ ही मानसिक स्तर पर भी क्रियाशील होता है, उसके मानसिक क्रिया–कलापों का, उसकी मानसिक उधेड़बुन का या मनोवृत्तियों के उत्कर्ष व अपकर्ष का चित्रण एक मनोवैज्ञानिक एवं रचनाशील प्रक्रिया है। कवि इसे अपनी रचनात्मक कल्पना द्वारा ही मूर्त या चित्रित कर सकता है।

काव्यशास्त्र की पाश्चात्य अवधारणा में अरस्तू ने इन तर्कों के आधार पर काव्यशास्त्र के अनुकरण के सिद्धांत को विधिवत् स्थापित किया। अरस्तू के पूर्व भी प्लेटो ने अपने ग्रन्थ Republic में काव्य पर

विवेचन किया था तथा उसने काव्य पर कई गम्भीर आरोप लगाए। प्लेटो का सबसे गम्भीर आरोप ये था कि काव्य (कविता), सत्य से कम से कम दो बार च्युत होता है। प्लेटो यद्यपि होमर की रचनाओं से प्रभावित था, परन्तु उसे जब लगा कि कविता सत्य की प्रतिष्ठापक नहीं है, तो उसने उसकी भर्त्सना भी की और स्पष्ट कहा कि आकर्षण के कारण सत्य की बलि नहीं दी जा सकती, "We are very conscious of her charm, but we may not on the account betray the truth."

इस प्रकार के काव्य विरोधी प्रबल प्रहारों के जवाब में अरस्तू ने इन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया तथा उन मतों का नम्रतापूर्वक खण्डन करके काव्य की पुनर्प्रतिष्ठा की। परन्तु भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में यह विवाद का विषय ही नहीं था। भरतमुनि से लेकर भावी परम्परा ने भी नाट्य को वही माना जो भरतमुनि और आचार्य धनंजय ने स्वीकार किया। इसलिए अनुकृति पर आचार्य भरत का यह मत सभी स्वीकार करते हैं– "त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्"

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्राच्य और पाश्चात्य परम्परा में अनुकरण सिद्धांत को चोटी के आचार्यों व विचारकों ने व्याख्यायित किया तथा उसे परिभाषित किया। दोनों परम्पराओं में एक बात समान रूप से दिखती है कि अनुकरण सिद्धांत की मूल भावना दोनों में समान है और समान महत्त्व रखती है। शायद यही कारण है कि एक तरफ भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्परा आज ज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में गंगा के समान अविरल प्रवाहित होती है, वहीं दूसरी तरफ पाश्चात्य नाट्य परम्परा सैद्धांतिक रूप से रुककर भी विलियम सेक्सपिअर जैसे महान् नाटककारों तथा यूनानी नाट्य परम्परा के रूप में आज भी सर्वोच्च मानी जाती है। प्राच्य और पाश्चात्य नाट्यावधारणाओं के मध्य में 'अनुकरण' जैसे सिद्धांत सेतु का कार्य करते हैं जो दोनों को परस्पर आबद्ध किये हुए है।

lnHkZ %

1. रेवाप्रसाद द्विवेदी सं. नाट्यशास्त्र, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, प्रथम सं. 2005, भूमिका, पृ. 7
2. तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः। संफेटविद्रवकृताच्छेद्यभेद्याऽऽहवाकुला ।। ना0शा. 1.55
3. योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः। सोऽङाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ।। वहीं, 1.116
4. नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्। लोकवश्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ।। वहीं, 1.109
5. अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् ।। हिन्दी दशरूपक, डॉ. भोला शंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, 2010 सं. , पृ. 4
6. वहीं, पृ. 4
7. वहीं, पृ 4
8. Aristotle did not invent the term "Imitation". Plato was the first to use the word in connection with poetry, but Aristotle breathes into a new and definite meaning, so that poetic imitation no longer remains mere mimicry, a mere act of servile copying, but becomes an act of imaginative creation by which the poet, drawing his material from the phenomenal world, makes something new out of it. - Aristotle's Poetics by Dr. Raghukul Tilak, Chapter 8, p. 73.
9. Imitation is natural to man from childhood…….and it is also natural for all to delight in works of imitation. – पाश्चात्य काव्यशास्त्र (साहित्यालोचन), पृ. 25
10. His nature is not the visible, physical universe, but the creative principle operating in it. -Aristotle's Theory of Poetry and drama, P.S. Shastri, p. 16
    L. Abercrombe, Principles of Literary Criticism, p. 81
11. पाश्चात्य काव्यशास्त्र (साहित्यालोचन), कला मन्दिर, दिल्ली, पृ. 27
12. वहीं, पृ. 27
13. वहीं, पृ. 27

***

Òkjrh; tutkrh; ifjokj dh fo'"krk vœj Ádkj

vkuUn dqekj x¨M*

जनजातीय भारत परिवारों की विविधता प्रदर्शन करता है, क्योंकि विभिन्न जनजातियों में विभिन्न नियम तथा रिवाज पाये जाते हैं। मुख्यता दो प्रकार के परिवार में परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर भेद किया जा सकता। 1. सरल अथवा केन्द्रीय, 2. बड़ा अथवा संयुक्त परिवार।

प्रथम प्रकार की पुरुष–स्त्री तथा उनकी संतानों के आधारभूत समूह का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार के परिवारों में सदस्यों की संख्या अत्यन्त सीमित होती है, अनेक भारतीय जनजातियों जैसे बिरहोर, परिया कोरवा, आदि इस प्रकार के परिवार रखते हैं। यदि यह 'केन्द्र' अन्य निकट सम्बन्धित नातेदारों के जुड़ने से विस्तृत हो जाता है, तो इसे विस्तृत परिवार कहते हैं। यदि यह नातेदारी के सिद्धान्तों के आधार पर और आगे विस्तृत हो जाता है, तो हम हिन्दुओं के संयुक्त परिवार जैसा परिवार पाते है। केरल के नायर इस प्रकार के परिवार का शास्त्रीय उदाहरण माने जाते हैं तथा नायर का 'थारावाड़' अपने आप में एक महत्वपूर्ण संस्था है।[1]

tutkrh; ifjokj¨ dh fo'"krk %

1. परिवार की सदस्यता अथवा सदस्यों की संख्या
2. विवाह का स्वरूप
3. परिवार सत्ता वंश का नाम तथा विकास

परिवार की सदस्यता अथवा सदस्यों की संख्या के आधार पर जनजातीय परिवारों को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है।

1. नाभिक परिवार (मूल अथवा केन्द्रीय अथवा एकाकी परिवार)
2. विवाह द्वारा निर्मित परिवार
3. संयुक्त परिवार

1- ukfÒd vFkok dUæh; ifjokj % इस प्रकार के परिवार में माता पिता (विवाहित पति–पत्नी) तथा उसके अविवाहित बच्चे आते हैं। संयुक्त की तुलना में इस परिवार का गठन सरल होता है तथा परिवार अपने सदस्यों की आवश्यकता देखभाल के लिए स्वयं ही जिम्मेदार होता है। 'हो' जनजाति के परिवारों के उदाहरण से यह स्पष्ट होता है 'हो' जनजाति में परिवार तथा कबीला एक दूसरे पर निर्भर होते हैं, किन्तु कबीले व परिवार के बीच स्पष्ट कार्य विभाजन को देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए कबीला अथवा ''किली'' सामूहिक रूप से खाद्य संकलन के लिए जिम्मेदार होता है तथा फिर सभी परिवारों में इसका समान रुप से वितरण कर दिया जाता है।

इसी प्रकार देवी देवताओं की पूजा भी सामूहिक रूप से की जाती है। किन्तु उस पूजा में प्रत्येक परिवार का अपना पृथक–पृथक सहयोग रहता है, किन्तु परिवार के सदस्यों की निजी आवश्यकताओं की देखभाल के लिए स्वयं परिवार एक ईकाई के रूप में जिम्मेदार होता है। जैसे यदि परिवार का कोई सदस्य बीमार पड़ जाता है, तो सब लोग मिल जुल कर उसकी देखभाल करते हैं। ''हो'' परिवार में अत्यधिक दहेज प्रथा कन्या मूल्य के कारण लड़कियाँ लम्बी उम्र तक अविवाहित रहती हैं तथा अपने माता पिता के साथ अपने मूल परिवार का अंग बनी रहती हैं।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005।

2- fookg }kjk fufeZr ifjokj % इस प्रकार के परिवार का आधार तो विवाह संबंध ही होता है, किन्तु इस प्रकार के परिवार में पति पत्नी तथा बच्चे के अलावा कुछ अन्य रिश्तेदार भी आकर रहने लग जाते हैं। भारत वर्ष में खड़िया जनजाति में इस प्रकार के परिवार विशेष रूप से पाये जाते हैं।[2]

3- l;qä ifjokj % संयुक्त परिवार हिन्दू परिवार व्यवस्था का सर्वाधिक प्रचलित व्यवस्था है। अधिकांश जनजातियाँ भी इस प्रणाली का अनुसरण करती हुई दिखती हैं, जहाँ केन्द्रीय परिवार में केवल चार सम्बन्धों का संलक्षण पाया जाता है। जैसे– पिता–पति, पत्नी, भाई–पुत्र तथा बहिन–पुत्री, वहीं संयुक्त परिवार में सम्बन्धों का संलक्षण और बड़ा बन जाता है। जैसे पितृवंशीय परिवार में लड़के की बहू आते ही पिता–माता, ससुर–सास, भाई–बहन, देवर–जेठ आदि बन जाते हैं और परिवार में परस्पर सम्बन्धों का घेरा व्यापक हो जाता है।

पारिवारिक सत्ता वंश एवं निवास के आधार पर भारतीय जनजातीय परिवारों को दो भागों में बाटा जा सकता है।

1. मातृवंशिक परिवार
2. पितृवंशिक परिवार

ekrZ'kd ifjokj % जिन परिवारों में सत्ता का निवास माता में होता है, उन्हें मातृवंशीय या मातृ केन्द्रित परिवार कहा जाता है। यह परिवार का सर्वाधिक प्राचीन स्वरुप है, जिसमें बच्चे अपनी माता के कुल अथवा वंश से जाने जाते हैं। इस परिवार में पाँच सम्बन्ध पाये जाते हैं। माता–पुत्र, माता–पुत्री, भाई–भाई, बहिन–बहिन। ऐसे परिवार में अर्थिक व्यवस्था सम्पत्ति व सामाजिक विषयों पर स्त्रियों का अधिकार होता है, इस प्रणाली में विवाह के पश्चात् पति अपनी पत्नी के घर जाकर रहता है तथा वही घर उसके परिवार का आधार बनता है। बच्चों की देखभाल तथा पालन–पोषण में पिता से अधिक माता का हाथ होता है। अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में पत्नी की भाई की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। ऐसे परिवारों में स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त होती है तथा उनकी पसंद पर विशेष ध्यान रखा जाता है कभी–कभी स्त्री एक से अधिक पति रख सकती है। धार्मिक कार्यों में भी स्त्रियों का नेतृत्व प्राप्त होता है। भारत वर्ष की जनजातियों में इस प्रकार का परिवारों का प्रचलन तीन क्षेत्रों में पाया जाता है।

1. ब्रह्मपुत्र के दक्षिण तट पर निवास करने वाले खासी तथा गारों जनजाति
2. केरल के नायर
3. दक्षिण भारत की 'कादर' 'इरुला' तथा 'पुलायन' जनजातियाँ[3]

[kklh % खासी जनजाति के परिवार में मातृस्थानिक निवास तथा मातृवंशिक वंशानुक्रम होता है। परिवार में लड़की का न होना बुरा समझा जाता है तथा यदि लड़की पैदा नहीं होती है तो उसे गोद लेने की प्रथा है। सम्पत्ति का हस्तांतरण पुत्रियों को होता है। परिवार की सबसे छोटी लड़की पारिवारिक धर्म का निर्वाह करती है तथा उसे पारिवारिक सम्पत्ति का प्रमुख भाग मिलता है।[4] माता के पश्चात् पुत्री सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बनती है। पुरुष जीवन–पर्यन्त अपनी सारी कमाई विवाह से पूर्व अपनी माता को तथा विवाह के बाद अपनी पत्नी को देता है। इस प्रकार सम्पत्ति पर नियंत्रण स्त्री का रहता है।

xkj¨ % 'गारो' जनजाति की परिवार व्यवस्था भी मातृसत्तात्मक परिवार का उदारण है। सम्पत्ति पर स्त्री का अधिकार होता है। तथापि सभी स्त्रियों का समान रूप से यह अधिकार नहीं होता है, यद्यपि सम्पत्ति की स्वामिनी होती है तथापि यह स्वामित्व पति के माध्यम से मिलता है। क्योंकि गारो नोक्रोम में दामाद, सास से इसलिए विवाह करता है कि सम्पत्ति का उत्तराधिकारी कोई और न हो जाय। गारो लोगों में सम्पत्ति की इस विशेष प्रथा के कारण न केवल पुत्री ही इस प्रकार सम्पत्ति के लिए दुविधा में रहती है, अपितु एक विधवा को भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।[5]

fir`o'kh; ifjokj % ऐसे परिवारों में सम्पूर्ण सत्ता तथा आर्थिक अधिकार पति अथवा पिता के हाथ में रहता है। उत्तराधिकार पुत्र को प्राप्त होता है तथा बच्चे पिता के वंश माने जाते हैं। ये परिवार पितृस्थानिक होते हैं, जिनमें लड़का विवाह कर पत्नी को अपने घर लाता है या विवाहित पुत्रियों को पिता का घर छोड़ना पड़ता है तथा विवाह के पश्चात् पति के घर को ही अपना घर मानना पड़ता है। सत्ता परिवार

के वरिष्ठतम् पुरुष जो पिता अथवा पति होता है, में निहित करती है और परिवार के सभी मामले में निर्णय का अधिकार परिवार के मुखिया को प्राप्त है।

[kfM;k tutkfr % उड़ीसा के पहाड़ी प्रदेशों में रहने वाली खड़िया जनजाति में पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था पायी जाती है। पिता परिवार का मुखिया या सर्वोच्च सदस्य होता है। उसी के नाम से वंश चलता है। विवाह में वर, बारात लेकर कन्या के घर जाता है तथा विवाह के पश्चात् लड़कियाँ अपने घर रहती हैं। इन लोगों में सामान्यतया एक विवाह का प्रचलन देखने को मिलता है।

ÒhYk tutkfr % भील जनजाति में भी पितृसत्ता प्रधान होता है। परिवार में पिता को असाधारण शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, किन्तु वह उनका निरंकुशता से प्रयोग नहीं करता है। नागा लोगों में भी विधि व्यवस्था में वंशानुगत उत्तराधिकार पितृप्रधान ही पाया जाता है। भारत वर्ष में कतिपय जनजातियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें पितृप्रधान व्यवस्था होने के बावजूद आर्थिक तौर पर स्त्रियाँ सक्रिय रहती हैं तथा आर्थिक मामलो में उन्हें प्रमुख स्थान प्राप्त होता है। हिमालय की घाटी में निवास करने वाली भोटिया जनजाति में अर्थिक क्षेत्र में स्त्रियों का योगदान महत्वपूर्ण है, क्योंकि परिवार की आर्थिक व्यवस्था में वे पर्याप्त सक्रिय रहती हैं।[6]

lanHkZ %

1. नदीम हसनैन, जनजातीय भारत, रवि मजूमदार, जवाहर पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ0 44
2. हरीश उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ संरचना एवं विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, राजस्थान, पृ0 103–04
3. वहीं, पृ0 104
4. कपाड़िया, भारत वर्ष में विवाह एवं परिवार, 1962, भारतीय जनजातियाँ संरचना एवं विकास, हरीश उप्रेती में उद्धृत, पृ0 249
5. हरीश उप्रेती, भारतीय जनजातियाँ संरचना एवं विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, राजस्थान, पृ0 106
6. वहीं, पृ0 107

***

/kfey d dk0; e fonkg Hkko

fjdh oek*

साहित्य समाज के चित्र को तो उपस्थित करती ही है, किन्तु समाज कैसा होना चाहिए यह बतलाने का भी उत्तरदायित्व साहित्यकार पर होता है। विसंगति, विषमता और शोषण तो सभी स्तरों पर व्याप्त है। इनके खिलाफ आवाज उठाना और अपने नेतृत्व में समूह को लेकर चलते हुए अराजकता और अव्यवस्था को सुव्यवस्थित करना निराला और धूमिल जैसे कवियों का ही काम है। छायावादी युग में निराला की कविता में दीन–हीन और शोषितों के प्रति करूणा और विद्रोह के जो भाव व्यक्त हुए है, आगे चलकर वही भाव समकालीन काव्य में धूमिल की कविता में आक्रामक रूप में गुंजित होते हैं।

सार्थक कविता और आदमी की पहचान करने वाले कवि धूमिल के वक्तव्यों में परस्पर विद्रोह भाव को देखा जा सकता है। जिसमें राजनीतिक बोध की कविताओं में यह व्यंग्य की व्यापकता का द्योतक है, जबकि व्यक्ति इसका माध्यम रहा है। धूमिल सभी के कई चेहरे देखता है, पहचानने का प्रयत्न करता है, पर कवि–दृष्टि सदैव पाठक को सही पहचान करवाता रहा है। यथा–

^^dkuu dh Hkk"kk ckyrk gvk

1

साथ ही ईमानदारी का चोर बाजारी से संबंध और विवेक का चापलूसों के आगे गिड़गिड़ाना, अपराध का सदाबहार फूल होना, राष्ट्र के कर्णधारों का सड़क पर किश्तियों की खोज हेतु भटकना इत्यादि से वह विद्रोह की स्थितियों को दिखलाकर 'सही' की पहचान कराना चाहता है। आज का आदमी अन्याय, शोषण और अत्याचार को विद्रोह नहीं करता। वह एक ऐसा प्रत्यक्षदर्शी गवाह है, जिसके मुँह पर पट्टी बंधी हुई है। समाज के विषाक्त परिवेश में वह यह कहने के लिए तैयार नहीं कि किसी के साथ अन्याय हुआ है और उसने इसे देखा है।

^^ph[k tk vU/kj e
Rkeu lqu g&flQ
Lkcu ml <ky ij
fxjr g, n[kk g
vkj egt ,d cj
lcdh vk[kk e
xLlk xjk;k g vk/khuek
lcu egl l fd;k&dlk vU;k;
dkbu ugh vk;kA^^2

सुविधाभोगी व्यक्ति भी आत्मसम्मान पर ठेस लगते देख भीतर ही भीतर घुटता रहता है। वह विद्रोह तो करना चाहता है और हम नहीं जान पाते कि हमारा शोषण किस प्रकार किया जा रहा है।

^^l?k"k dh enk e ?kk;y i: "kkFk
Hkhrj gh Hkhrj
,d fu%'kCn foLQkV l =Lr gA^^3

*शोधछात्रा, मानविकी संकाय, हिन्दी तथा आधुनिक भाषा विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी ।

धूमिल की कविता 'किस्सा जनतंत्र' कविता हमारे जनतंत्र के व्यवस्थापकों एवं संचालकों पर एक करारे तमाचे की तरह है और संचालकों का पर्दाफाश कर उनका विद्रोह करने में आगे आती है। 'किस्सा जनतंत्र' कविता में व्यक्ति की घरेलू समस्याओं को उभारा गया है, जिसमें ''घर की रसोई में करछुल, बटलोही, तवा तथा चिमटा अनिवार्य उपकरण में जो सामान्य जनों के खाने–पकाने में सहायक होते हैं। चूल्हा तो होता ही है। इन्हीं के वार्तालाप से कविता का आरम्भ होता है। इस वार्तालाप में जहाँ करछुल, बटलोही से बात करती है और चिमटा, तवे से, वहीं चूल्हा चुपचाप जलता रहता है। स्पष्ट है रोटी की जुगाड़ में परेशान गरीब आदमी अपने भीतर चूल्हे की तरह जलने के सिवा और कुछ नहीं कर सकता। बतियाते हैं घर के अन्य सदस्य बीबी और बच्चे। अभावग्रस्त बटलोही में इतनी दाल नहीं होती कि करछुल चलाने पर खटपट न हो, उसी तरह चिमटा कम रोटी के अभाव में आवाज ही करता है।''[4] संकेत एक और दिशा में भी है कि घर के लोग परस्पर बातचीत में भूख और रोटी की बात करते है। रसोई के उपकरणों को जनतंत्र के अंग के रूप में ले तो यह खुलासा होता है और बातचीत वे ही करते हैं, जिन्हें रोटी की सम्सया का सामना नहीं करना पड़ता, इस समस्या से ग्रस्त के सामने चिन्ता और मौन के सिवा कोई विकल्प नहीं है।

^^lpeep etcjh g@exj ftUnk jgu d fy,@
lkkyr gkuk t:jh gA^^[5]

ये पक्तियाँ कविता के भाव को प्रस्तुत करती हैं और शहर के लोगों के विवशताजन्य पालतूपन को उसके जीवनयापन के लिए जरूरी मानने पर व्यंग्य करते हैं। व्यवस्था तो पालतू लोगों को ही पसंद करती है, उन्हें इसके लिए सुविधा और सहूलियत मुहैया कराती है। जब तक शहर की यह पालतू होने की प्रवृत्ति नहीं बदलती, उनसे विद्रोह की आशा करना व्यर्थ है।

वास्तव में धूमिल की कविता में वह आग है, जो जटिल सामाजिक–राजनीतिक स्थितियों से टकराते विचारों के विस्फोट से पैदा हुई है। उसमें जनता की जड़ता को चीथड़े–चीथड़े करने का सामर्थ्य है, बशर्ते जनता की मानसिकता उस आग को महसूस करे, क्योंकि धूमिल को एहसास है जनता के मानसिक रूप में पंगु होने का–

^^turk D;k g\ ,d 'kCn-----flQ ,d 'kCnA
dgjk vkj dhpM vkj dkp l@cuk gvkA
,d HkkM g@tk nlj dh B.M d fy,@
viuh ihBij@Åu dh Qly <k jgh gA^^[6]

''धूमिल अपनी कविता में इस ठण्डी निर्जीव जनता को सम्बोधित करते हैं, उसे तनने, अकड़ने और जड़ पकड़ने की सलाह देते है।''[7]

^^ekl fe;r d gj rdkt dk@Bkdj ekj nk
vc oDr vk x;k g fd re mBk@vkj viuh Åc
dk vkdkj nkA^^[8]

इस जंगल तंत्र ने तुम्हें नफरत के उस मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ तुम इस समय द्वेश, ईर्ष्या और प्रतिरोध में जिस गले को काटने के मार्ग पर चल रहें हो, उसमें तुम्हारी सन्तानें आगे चलकर विरोधियों का ही नहीं, बल्कि अपने पड़ोसी जाति, बन्धु सबके गले को अपने लिखने वाली स्लेट से काटने पर उतारू हो जायेंगी।

^^mlu rEgkj ifjokj dk
uQjr d ml edke ij yk [kMk fd;k gA
fd dy rEgkjk lcl NkVk yMdk Hkh
rEgkj iMkslh dk xyk
vpkud
viuh LyV l dkV ldrk gA^^[9]

धूमिल ने सर्वहारा वर्ग की नियति और शोषक वर्ग के लोगों की नियति का बिम्बात्मक चित्र प्रस्तुत करते हुए समाज के निम्न वर्ग और उच्च वर्ग की मानसिकता और तहजीब का उल्लेख किया है। धूमिल मोचीराम और निर्धन वर्ग के प्रतिनिधि उस व्यक्ति का उल्लेख करते हैं, जो चकत्तियों वाला जूता लेकर मरम्मत के लिए आया है, जो उसके भीतर और बाहर की तमाम मजबूरियों के दस्तान को व्यक्त करता है–

^^;gk rjg&rjg d tr vkr g
vkj vkneh dh vyx&vyx uo;r
crykr g
lcdh viuh&viuh 'kDy g
viuh*viuh 'kyh g
elyu ,d trk g
trk D;k g&pdfŸk;k dh Fkyh g
ml ,d pgjk igurk g
ft l ppd u px fy;k g
ml ij mEehn dk rjg nrh gb g lh g
t l VyhQku d [kEHk ij
dkb irx Qlh g
vkj [kM[kMk jgh gA^^[10]

मरम्मत के लिए आये हुए फटे जूते के माध्यम से जूताधारी आदमी की नवैयत ही है कि जूते के शक्ल से अधिक गठे हुए चकत्तियों की थैलियाँ है, जिसे उसका चेहरा पहनता है। धूमिल कहते है कि जिस आम आदमी के भीतर–बाहर मजबूरियाँ ही मजबूरियाँ हैं। आशा और उममीदों की एक हँसी चेचक (पूँजीवादी लोग) के कुतरे हुए चेहरे पर भी आ जाती है। इसी फीकी हँसी के लिए धूमिल उसकी मुखाकृति की दयनीयता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उनके मुँखों पर उम्मीदों की हँसी वैसे ही फड़फड़ा रही है, जैसे कोई कटी हुई पतंग टेलीफोन के खम्भे पर फँस जाय और हवा के थपड़ों में फड़फड़ाती रहे।

धूमिल मध्यम वर्ग के आदमी से कहते हैं कि निकम्मी आदतों का लिहाफ ओढ़कर सोने के अतिरिक्त तुम्हारे पास चारा ही क्या है, क्योंकि जीवन व्यवहार में जो विषमताएँ दिखायी दे रही हैं उनका विरोध तो तुम कर ही नहीं सकते। इसीलिए व उदाहरण प्रस्तुत करते है –

^^rme dj Hkh D;k ldr gk
;fn iMkl dh efgyk dk ,d cVu
rEgkjh chch d CykÅt l
dher e cMk g
vkj l;kj dju l igy
rEg iV dh vkx l gkdj
xtjuk iMrk gA^^[11]

इस प्रकार हम कह सकते है कि धूमिल की कविता विद्रोह भाव की कविता है जिसमें कवि समाज के हर क्षेत्र में अपने विद्रोही भाव को व्यक्त करते हैं जिसे कवि राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक हर पहलू पर अपने विचारों को व्यक्त करते थे और यह भी कि उनकी कविता उत्तेजनाओं से अलग मनुष्य के केन्द्रीय प्रश्नों से जुड़ी हुई कविता है, जिसमें रोटी और भूख, शहर और गाँव, जनतंत्र और समाजवाद, संसद और सड़क प्रमुख है।

lnHk %

1. समकालीन बोध और धूमिल का काव्य : डॉ. हुकुमचन्द राजपाल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, पृ. 113.
2. संसद से सड़क तक : धूमिल–हत्यारी संभावनाओं के नीचे, पृ. 79.
3. कल सुनना मुझे : धूमिल, एक कविताः कुछ सूचनाएँ, पृ. 64.
4. धूमिल की श्रेष्ठ कविताएँ : ब्रह्मदेव मिश्र व शिवकुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम सं. 2009, पृ. 139.
5. संसद से संड़क तक, धूमिल– शहर का व्याकरण, पृ. 57.
6. संसद से संड़क तक : धूमिल–पृ. 104.
7. समकालीन हिन्दी कविता : विश्वनाथ तिवारी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली , पृ. 201.
8. संसद से संड़क तक : धूमिल, पृ. 113.
9. संसद से संड़क तक : धूमिल– नक्सलबाड़ी, पृ. 68–69.
10. संसद से संड़क तक : धूमिल, मोचीराम, पृ. 38.
11. संसद से संड़क तक : धूमिल, हत्यारी संभावनाओं के नीचे, पृ. 78.

***

^xknku* e nfyr thou dh vfHk0;fDr

jkekuUn dqekj*

प्रेमचंद हिन्दुस्तान की नई राष्ट्रीय और जनवादी चेतना के प्रतिनिधि साहित्यकार थे। वे जिस युग में लेखन कर रहे थे, उसकी पूरी राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया का आकलन उन्होंने प्रस्तुत किया। यह, वह दौर था; जब देश पूर्णतः विदेशी सत्ता के चंगुल में फँसा था। उसे मुक्त कराने के लिए एक ओर जहाँ राजनीतिक आंदोलन चल रहे थे, शासन का दमन और शोषण भी अपनी चरम सीमा पर था, वहीं समाज का बहुत बड़ा तबका जो सदियों से अन्याय और यातनाओं से त्रस्त था, वह मानवीय अधिकारों से वंचित रहा। जो आज भी मानवीय गरिमा और आत्म सम्मान पाने के लिए संघर्षरत है। उस दलित वर्ग पर होने वाले जुल्म व अत्याचार से प्रेमचंद का हृदय मर्माहत हो उठता था। दलितों के इसी दिल दहला देने वाले दर्द को स्वयं प्रेमचंद ने महसूस किया और उसको अपनी लेखनी का आधार बनाया।

प्रेमचंद इस समाज व्यवस्था के हर पहलू से भली–भाँति परिचित थे। इसलिए वर्ण–व्यवस्था की विकृतियों, छुआछूत एवं ऊँच–नीच की अमानवीय भावनाओं से उनका हृदय संवेदित हो उठता था। आर्थिक विषमता एवं गरीबी के निर्मम प्रहारों से आहत समाज की अनुभूतियां उनके अन्तर्मन में समाहित थी। वे रचना के ऐसे कालबिन्दु पर खड़े थे, जहाँ अतीत नया अर्थ खोजता था और भविष्य अपना आधार। अतः अपने साहित्यिक विचार यात्रा के इस पड़ाव पर दलित, शोषित, पीड़ित जनों पर प्रेमचंद जैसे जागरूक साहित्यकार का ध्यान स्वाभाविक ही था। खासतौर पर एक ऐसे युग में जबकि अछूत समस्या पूरे देश के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के लिए एक जबरदस्त चुनौती बन गयी थी।

प्रेमचंद की लेखनी की यह खासियत रही है कि वह दलितों की पीड़ाओं को ग्रामीण जनता की आम समस्याओं का अंग बनाकर ही चली है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था, जबकि भारतीय जनता के तमाम वर्गों और हिस्सों से विदेशी साम्राज्यवाद का सीधा–सीधा टकराव था। इस अंतर्विरोध की तुलना में भारत के विभिन्न वर्गों पूंजीपति बनाम सामंत, सामंत बनाम किसान, पूंजीपति बनाम मजदूर जैसे मुद्दे गौण हो चले थे। प्रेमचंद की यह विशेषता रही है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति निरंतर संघर्ष करते हुए भी उन्होंने देश के अन्य वर्गों के बीच मौजूद अंतर्विरोधों को नजर से ओझल नहीं होने दिया। तमाम अन्तर्विरोधों और सांस्कृतिक जड़ता के बावजूद उन्होनें आक्रामकता से मुँह नहीं मोड़ा। एक सजग लेखक की भाँति प्रेमचंद ने समाज में व्याप्त समस्त अंधविश्वासों व मान्यताओं पर प्रहार करते हुए सामंतवादी अवशेषों व पूंजीवादी साधनों की धज्जियाँ उड़ाते हुए शोषकों की झूठी मानवता का पर्दाफाश किया और दासों, शोषितों, पीड़ितों का गुणगान किया। इसलिए उन्होंने अपने कथा साहित्य मे पूंजीपतियों, जमींदारों व सामंतों को न बैठाकर साधारण किसानों एवं दलितों को अपने साहित्य में स्थान दिया।

जागरण के संपादकीय में वे लिखते हैं– 'जो नीति धनवानों को गरीबी के खून को मोटा करती है उसका जितनी जल्दी अन्त हो जाय उतना ही अच्छा है।' इसी तरह प्रेमचंद 'कायाकल्प' में लिखते हैं कि ''समाज की यह व्यवस्था थोड़े ही दिनों की मेहमान है और वह समय आ रहा है जब या तो राजा प्रजा होगा या राजा ही नहीं। अतः अब जनता दमन से भयभीत नहीं होती बल्कि उठकर उसका सामना करती है।'' रंगभूमि का सूरदास भी अन्याय को चुपचाप न सहकर उसका सक्रिय विरोध करता है।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005।

समाज कल्याण की अपनी भावना को व्यक्त करते हुए स्वयं प्रेमचंद लिखते हैं, ''हम तो समाज का झण्डा लेकर चलने वाले सिपाही हैं और सादी जिन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है।''

दलितों एवं उनकी समस्याओं का समाधान प्रेमचंद ने शुरू में तो आदर्शवादी और गांधीवादी तरीके से दिये। लेकिन जैसे–जैसे उनके कथा लेखन में प्रौढ़ता आती गयी, वैसे–वैसे यथार्थ की ओर उनका झुकाव बढ़ता चला गया–आदर्श के प्रति आग्रह घटता चला गया। उनके चिंतन की दिशा के विषय में कहा जा सकता है–''प्रेमचंद का आदि गांधीवादी है और अन्त साम्यवाद 'गोदान' इसका स्पष्ट उदाहरण है। प्रेमचंद ही ऐसे पहले कथाकार हैं, जिन्होंने दलित वर्ग को लेखकीय न्याय प्रदान किया। छुआछूत, ऊँच–नीच, जाति–भेद जैसे सामाजिक दुराग्रहों के साथ–साथ दलित वर्ग की सामाजिक, आर्थिक समस्याओं का चित्रण भी उन्होंने अपने कथा लेखन में किया तथा उनकी समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत किया।

अछूतोद्धार एवं अन्यायपरक अन्ध परम्पराओं से भारतीय समाज को मुक्ति दिलाने के लिए प्रतिबद्ध प्रेमचंद के दलित सम्बंधी चिंतन के स्वरूप को हम निम्न बिन्दुओं द्वारा उद्घाटित कर सकते हैं।

गोदान प्रेमचंद की अंतिम पूर्ण और अत्यंत प्रौढ़ कृति है। गोदान की कथा भी ग्रामीण परिवेश से प्रारंभ होती है। इस उपन्यास में होरी दलित है या नहीं यह अभी विवाद का प्रश्न है, किन्तु प्रेमचंद की दलित परिभाषा के अनुसार तो वह दलित ही प्रतीत होता है। इस उपन्यास में होरी में तो कोई विरोध हम नहीं देखते, क्योंकि उसकी नीति है कि जब अपनी गर्दन दूसरों के पैरों के नीचे दबी हो तो उसे सहलाने में ही कुशलता है। वैसे हम होरी को भी गलत नहीं कह सकते।

होरी का बेटा गोबर विद्रोही है। वह जमीदारों को रंगा सियार मानता है– ''अपना इलाका हमें क्यों नहीं देते। हम अपने खेत, हल, बैल, कुदाल सब उन्हें देने को तैयार हैं। करेंगे बदला ? यह सब धूर्तता है निरी मोटमरदी।''

होरी उसे जब समझाता है कि बड़े लोगों की समस्याएं बड़ी होती है, उन्हें भी धन की कमी होती है, तो गोबर कहता है कि धन भले ही कम हो पर सुख तो है हर प्रकार का। इस पर होरी कहता है, वह तो उनके पूर्व जनम के पुण्य हैं। छोटे–बड़े तो भगवान के घर से बन के आते हैं। इस पर गोबर प्रतिवाद करते हुए कहता है–''यह सब मन को समझाने की बाते हैं। भगवान सबको बराबर बनाते हैं। यहाँ जिसके हाथ में लाठी है वह गरीबों को कुचलकर बड़ा आदमी बन जाता है।''

जहाँ तक गोदान उपन्यास में दलित विमर्श की बात है तो मातादीन व सिलिया प्रकरण में उभरकर सामने आता है। प्रेमचंद इस प्रकरण में दिखाते हैं कि एक दलित का किस तरह से शोषण किया जाता है। खान–पान में छूत लगती है लेकिन उनके बहू बेटियों के साथ व्यभिचार करने में छूत नहीं लगती। सिलिया के साथ भी यही होता है। वह एक अछूत 'हरखू' की संतान है और ब्राह्मण मातादीन के जाल में फँस जाती है। मातादीन जाति–पांति को भूलकर उसके साथ ऐय्यासी करता है, लेकिन जब अपनाने की बात आती है तो उसका धर्म आड़े आता है। उदाहरण के लिए जब मातादीन के पिता दातादीन हरखू से यह कहते हैं कि तेरी बिटिया है ले जा चाहे जहाँ, हम उसे अपने घर नहीं रख सकते है तो सिलिया की माँ कहती है–''वाह–वाह पण्डित ! खूब निआव करते हो ! तुम्हारी लड़की किसी चमार के साथ निकल गई होती और तुम इसी तरह की बातें करते तो देखती। हम चमार हैं, इसलिए हमारी कोई इज्जत नहीं। हम सिलिया को अकेले न ले जायेंगे, उसके साथ मातादीन को साथ ले जायेंगे जिसने इसकी इज्जत बिगाड़ी है। तुम बड़े नेमी–धरमी हो उसके साथ सोओगे लेकिन उसके हाथ का पानी न पीओगे।''

प्रेमचंद ने दलित के इस टीस को भी दिखलाते हैं कि ब्राह्मण का धर्म, धर्म है, हमारा धर्म, धर्म नहीं दलित अछूत के साथ खाओ, पीओ साथ रहो। यदि उनकी इज्जत लेते हो तो उन्हें अपना धर्म भी दो। जब चमार के साथ हो तो चमार बनकर रहो या उन्हें ब्राह्मण बना दो। उदाहरण स्वरूप मातादीन व हरखू के झगड़े को लेकर जब झिंगुरी सिंह पूछते हैं तो हरखू बोलता है–''झगड़ा कुछ नहीं है ठाकुर हम आज या तो मातादीन को चमार बनाकर छोड़ेंगे या उनका और अपना रक्त एक कर देंगे।

सलिया कन्या जात है किसी न किसी के घर जायेगी ही। पर उसे जो कोई भी रखे, हमारा होकर रहे। तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हे चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्ममण बना हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नहीं है तो तुम भी चमार बनो। हमारे साथ खाओ–पीओ, हमारे साथ उठो–बैठो। हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धरम हमें दो।''

प्रेमचंद यहाँ स्पष्ट करना चाहते हैं कि दलित ब्राह्मण से नहीं, अपितु उनकी शोषणकारी नीतियों से खफा हैं। वह मातादीन के धर्म से घृणा करता है। यदि ब्राह्मण धर्म में इतनी शक्ति नहीं है कि एक दलित को अपना ले, तो उसका धर्म ही अपना ले या उसके इज्जत के साथ खिलवाड़ न करे। आगे चलकर जब सिलिया को बच्चा पैदा होता है, तो धर्म का ढिढोरा पीटने वाला मातादीन चोरी–चोरी अपने बच्चे को देखने को जाता है। बच्चे को देखकर वह अपना सब धर्म भूल जाता है। उसे अपने धर्म व अपनेपन से ग्लानि होती है। समय का चक्र घूमता है। एक दिन बच्चा निमोनिया होने के कारण मर जाता है। इस अवसर पर मातादीन का हृदय अपने धर्म से विद्रोह कर उठता है। धर्म की परवाह किए बिना अकेले बच्चे को गोंद में उठाता है और उसका अंतिम संस्कार करता है।

भारतीय समाज में औरत पर जुल्म नयी बात नहीं है। लेकिन दलित स्त्रियों पर अधिक जुल्म होते हैं। इसमें कोई संदेह की बात नहीं। प्रेमचंद ने सिलिया के संघर्ष को 'मानवीय सम्मान के लिए दलित औरत समुदाय के संघर्ष' के रूप में उपस्थित किया है।

प्रेमचंद ने दलित पात्र सिलिया एवं सिलिया–मातादीन सम्बंध के माध्यम से दलित वर्ग के आर्थिक, सामाजिक, दैहिक, भावनात्मक, शोषणपरक सवर्णों की दोहरी नैतिकता को अभिव्यक्ति दी है। प्रेमचंद ने सिलिया–मातादीन के प्रसंग से यह भी बतलाना चाहा है कि समाज का उच्च वर्ग किस प्रकार से निम्न वर्ग की अस्मत से खेलता है और किन उपक्रमों द्वारा दलित स्त्रियों का दैहिक, मानसिक शोषण करता है। प्रेमचंद दलित मुक्ति से जुड़े इस सवाल को शिद्दत से उठाते हैं कि ब्राह्मण की लड़की चमार द्वारा भ्रष्ट होने पर अपवित्र होती है, लेकिन चमार की लड़की की इस दृष्टि से शायद इज्जत ही नहीं होती है, तो जाएगी क्या?

किन्तु दलित चिंतक डॉ0 धर्मवीर की दलित चेतना प्रेमचंद को यहीं पर रोकती है। उनके अनुसार प्रेमचंद का दलित चिंतन सवर्ण मानसिकता का चितंन है। सवर्ण जैसा चाहते हैं, दलितों का वैसा उपयोग करते हैं। दलित उनकी सहानुभूति और दया के पात्र हैं। चाहे मातादीन की सिलिया ही क्यों न हो। उसकी इच्छा के अनुसार कुछ नहीं होता।

गोदान उपन्यास में दलित चेतना का सबसे विकसित प्रतिनिधि दलित पात्र 'हरखू' है। यह सिलिया का बाप है यथा–

''सिलिया का बाप हरखू साठ साल का बूढ़ा था, काला दुबला सूखी मिर्च की तरह पिचका हुआ, पर उतना ही तीक्ष्ण।''

सिलिया और मातादीन के अवैध सम्बन्ध हैं और सिलिया गर्भवती हो जाती है। यह बात जब सिलिया के बाप हरखू को पता है कि मातादीन अब उससे पीछा छुड़ाना चाहता है। एक दिन खलिहान में हरखू अपने सजातीय चमारों के दल के साथ आ धमकता है। अपने लोगों के द्वारा मातादीन के मुँह में हड्डी ठूंसकर उसका धर्म भ्रष्ट कर देता है। दलितों का यह स्वरूप प्रतिरोध का स्वरूप है, जो सवर्णो के शोषण का विरोध करता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि सामाजिक क्रांति जैसे दलित प्रसंग में प्रेमचंद उनका नेतृत्व किसी सहानुभूति रखने वाले सवर्ण पात्र के हाथ में नहीं, स्वयं एक दलित के हाथ में रखते हैं। साठ साल के बूढ़े सिलिया के पिता हरखू चमार के हाथ में। जो काला, दुबला सुखी मिर्च की तरह पिचका हुआ पर उतना ही तीक्ष्ण था।

प्रेमचंद ने दलितों में आई चेतना का अचूक चित्रण इस प्रसंग के माध्यम से किया है। बीसवीं सदी के चौथे दशक में किया गया यह चित्रण दलित चेतना की दृष्टि से सर्वाधिक तीव्र और परिवर्तनकारी है। इस दृष्टि से अंतिम दशक कथा साहित्य के लिए भी यह दृष्टि स्पृहणीय है।

प्रेमचंद ने गोदान उपन्यास में चुहिया एवं जंगली जैसे गौण दलित स्त्री पात्रों को स्थान दिया है। चुहिया लखनऊ में रहने वाली एक निम्नवर्गीय दलित स्त्री पात्र है। चुहिया के हृदय में दया, ममता का अगाध सागर विद्यमान है। झुनिया के प्रसव काल से लेकर बच्चे की सेवा तक वह बड़े मनोयोग से करती है। बच्चे की मालिश भी वह करती है और दिन भर में चार–पाँच बार आकर दूध भी पिला जाती है। चुहिया एक तरफ दया से ओत–प्रोत नारी है, तो दूसरी तरफ क्रोध में चण्डी भी बन जाती है। गोबर जब झुनिया को पीटता है तो वह बीच बचाव में आती है और उसे जमकर लताड़ लगाती है। गोबर जब चुहिया से क्रोधवश कहता है कि तुम मेरे घर मत आया करो तो व्यंग्यपूर्ण लहजे से कहती है यथा–

''तुम्हारे घर में न आऊँगी, तो मेरे घर की रोटी कैसी चलेगी। यहीं से मांग–जांच कर ले जाती हूँ तो तवा गर्म होता है। मैं न होती लाला तो बीबी आज तुम्हारी लातें खाने के लिए न बैठी होती। अपने भाग बखानों की ऐसी गऊ औरत पा गये हो। दूसरी होती तो तुम्हारे मुँह में झाड़ू मारकर निकल गयी होती।''

चुहिया अदम्य साहसों वाली और सशक्त इरादों वाली स्त्री है। अपने हक़ के लिए तो वह सारी दुनिया से लड़ती है। लेकिन झुनिया के हक़ के लिए भी वह गोबर से निर्भीकता से लड़ती है, जिसके मूल में उसकी ममता ही है।

उपन्यास के दलित स्त्री पात्रों में एक अनाम जंगली युवती को भी स्थान मिला है। अतिथि के प्रति सेवा–भाव एवं उदारता उसके चरित्र की विशेषताएं हैं। उसके रूप का वर्णन करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं–

''युवती का रंग था तो काला और भी गहरा, कपड़े बहुत ही मैले और फूहड़, आभूषण के नाम पर केवल हाथों में दो–दो मोटी चूड़ियाँ, सिर के बाल उलझे अलग–अलग। मुख मण्डल का कोई ऐसा भाग नहीं जिसे सुंदर या सुघड़ कहा जा सके, लेकिन उस स्वच्छ निर्मल जलवायु ने उसके कालेपन में ऐसा लावण्य भर दिया था और प्रकृति के गोद में पलकर उसके अंग इतने सुडौल सुगठित और स्वच्छन्द हो गए थे, कि यौवन का चित्र खींचने के लिए उससे सुन्दर कोई रूप न मिलता।''

इस जंगली युवती से मेहता की मुलाकात तब होती है, जब उनकी मारी हुई चिड़िया को वह बहती हुई जलधारा में पकड़ लेती है। मेहता उसकी चपलता और साहस को देखकर उस पर मुग्ध हो जाते हैं एवं उसके सेवा भाव से प्रभावित भी होते हैं। जंगली युवती दौड़कर मालती को भी साथ ले आती है। दोपहर की कड़ी धूप में पीपल की छाया में इन्हें स्वर्गीय सुख का आनंद आने लगा और जंगली के मक्के की रोटियों में अमृत का सा स्वाद। क्योंकि वह एक गरीब का दिया हुआ नैवेद्य था अतः अतिथि देव को वह पत्रं–पुष्पं–तोयं अत्यन्त श्रद्धापूर्वक निवेदित कर रही थी।

प्रायः देखा जाता है कि एक नारी के मन में दूसरी सुंदर नारी का द्वेष रहता है। ठीक वैसे ही मालती के मन में भी इस जंगली युवती के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न होती है। मालती के हर कथन में ऐसा ही घृणित भाव जंगली युवती के प्रति दिखाई पड़ता है। वह उसे बार–बार काली, कलूटी कहकर अपमानित करती है। इस तरह मालती की दृष्टि में जंगली युवती तुच्छ और निन्दनीय है। सभ्य समाज ऐसे दलितों को मानव मानने से भी सकुचाता है, क्या ये सच नहीं हैं ? परन्तु वह उसकी इन तुच्छ भावनाओं की परवाह न करते हुए अपने आतिथ्य धर्म का पालन करती है। दलित वर्ग की नारियाँ उच्च वर्गीय से हजार गुनी ऊँची हैं। इसे स्वयं मेहता भी स्वीकार करते हैं।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद ने जंगली युवती के माध्यम से ऐसे चरित्र को गढ़ा है, जो स्व की भावना से ऊपर उठकर विश्वबंधुत्व की श्रेणी में आ खड़ी होती है। जहाँ छोटे–बड़े, ऊँच–नीच जैसे तुच्छ भावनाओं के लिए कोई जगह नहीं है। जहाँ मनुष्यता ही मानव का परम धर्म है और यही जीवन का चरम लक्ष्य। इसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्रेमचंद ने गोदान उपन्यास में जंगली जैसे चरित्र को गढ़ा है।

अतः हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में दलित पात्रों का विवेचन किया है। रंग भूमि के नायक सूरदास की जाति चमार होने का स्पष्ट उल्लेख करके भी उन्होंने उसको इतना सम्माननीय पात्र बनाया है कि तथाकथित ऊँची जातियों के लोग भी उसकी कुर्बानी के सामने बौने नजर आते हैं।

कर्मभूमि उपन्यास में तो प्रेमचंद ने दलितों के अत्यंत संवेदनशील मुद्दे मंदिर प्रवेश की समस्या को ही नहीं उठाया है, बल्कि अछूतों से सम्बन्धित मरा मुर्दा का मांस खाने, नशाखोरी आदि समस्याओं पर भी गूदड़ के नेतृत्व में एक आंदोलन का संकेत दिया है। इस रूप में हमे गूदड़ चौधरी के व्यक्तित्व में एक आदर्श के दर्शन होते हैं, वहीं सलोनी काकी द्वारा सलीम पर थूके जाने वाली घटना एवं मुन्नी द्वारा अंग्रेज अफसर की हत्या यह साबित करती है, कि वे मूक रहकर बर्दाश्त करने वालों में से नहीं हैं। ठीक इसी तरह प्रेमाश्रम में अछूतों से बेगार लिये जाने और इसके बदले में उनका विद्रोह करना ये सब दलितों में उभरते विद्रोही तेवर की ओर संकेत करते हैं।

'गबन' उपन्यास में भी प्रेमचंद ने देवीदीन खटिक जैसे पात्र के रूप में राष्ट्रीय आंदोलन में दलितों की ओर रेखांकित किया है। गबन के दलित पात्र अपने को निम्न जाति का न समझकर अपने जाति गौरव का भी परिचय देते है।

इस प्रकार प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में दलित पात्रों के माध्यम से आदर्शवाद और यथार्थवाद का अद्भुत सामंजस्य स्थापित किया है।

lnHkZ %

1. गोदान (उपन्यास), प्रेमचन्द, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण, 2001 पृ0—11
2. वहीं, पृ0—12
3. वहीं, पृ0—149
4. वहीं, पृ0—199
5. वहीं, पृ0—19
6. वहीं, पृ0—224
7. वहीं, पृ0—63

***

fujkyk dh Hkk"kk ,o Nn lc/kh fopkj

xfjek frokjh*

हिन्दी साहित्य के समूचे इतिहास में कुछ ऐसे साहित्य–स्रष्टा हुए हैं जिन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा से साहित्य को अलग दिशा दी है, उसे गहरे प्रभावित किया है। आधुनिक हिन्दी कविता में एक ऐसे ही विलक्षण प्रतिभावान साहित्यकार सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला जी हैं। निराला ने बँधी–बंधायी परिपाटी से हिन्दी कविता को मुक्त किया और परवर्ती कवियों के लिए काव्य–रचना के नये द्वार भी खोले। निराला का कवि हमेशा गतिशील रहा। आजीवन मुक्त रहने वाले इस विद्रोही कवि ने काव्य भाषा और छंदों के संबंध में अपना मौलिक चिन्तन व्यक्त किया है जो विवेचनीय है।

भाषा भावाभिव्यक्ति का साधन है। बिना भाषा के हम अपने विचारों को मूर्तरूप नहीं दे सकते। भाषा की सहजता एवं सरलता साहित्य को प्रेषणीय बनाती है। अतः इसका महत्व स्वयं सिद्ध है। निराला जी भाषा के विषय में कहते हैं– ''प्रकृति की स्वाभाविक चाल से भाषा जिस तरफ भी जाय शक्ति सामर्थ्य एवं मुक्ति की तरफ या सुखानुशयता, मृदुलता और छंद लालित्य की तरफ, यदि उसके साथ जातीय जीवन का भी संबंध है तो यह निश्चित रूप से कहा जायेगा कि प्राण शक्ति उस भाषा में है'' उन्होंने भाषा के प्रमुख रूप और इसकी प्राणशक्ति के विषय में विचार व्यक्त किया है। भाषा के ओज एवं माधुर्य दो रूपों का उन्होंने प्रयोग भी किया है। अतः उनका संकेत भी इसी ओर हैं। उन्होंने लिखा– ''जो मनुष्य जितना गहरा है, वह भाव और भाषा की उतनी ही गम्भीरता तक पैठ सकता है, और पैठता है। साहित्य में भावों की उच्चता का ही विचार रखना चाहिए। भाषा भावों की अनुगामिनी है।''

निराला का मानना था कि भाषा प्रकृति के अनुकूल होनी चाहिए उसे अत्यधिक सरल करके साहित्य को कमजोर करना ठीक नहीं, इसके साथ ही भाषा कृत्रिम् नहीं होनी चाहिए क्योंकि इससे भाषा क्लिष्ट हो जाती है और भाव बोध में कठिनाई होती है। निराला जी के अनुसार–

''अपने आप निकली हुई और गढ़ी हुई भाषा छिपती नहीं। भावानुसारिणी भाषा कुछ मुश्किल होने पर भी समझ में आ जाती है उसके लिए कोश देखने की जरूरत नहीं होती है। भाषा भावों की अनुगामिनी होती है।'' निराला जी ने स्वयं भावों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है।

'राम की शक्तिपूजा' में संस्कृतनिष्ठ, ओज प्रधान सामासिक पदावली का रूप दिखाई पड़ता है तो संन्ध्यासुन्दरी एवं 'जूही की कली' जैसी कविताओं में प्रतीकात्मक, संगीतयुक्त कोमलकान्त पदावली।

इस सम्बन्ध में निरालाजी का कथन हैं–

''बड़े–बड़े साहित्यकारों ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है। कठिन भाषा को व्यक्त करने में भाषा प्रायः कठिन हो गयी है।'' भाषा की व्यापकता के संबंध में उनका मत है–

''गैर लोगों को अपने में मिलाने का तरीका भाषा को आसान करना नहीं, न मधुर करना, उसमें व्यापक भाव भरना और उसी के अनुसार चलना है।''

भाषा और भाव का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इन दोनों की अभिन्नता को निरालाजी स्वीकार करते है– ''हम दोनों प्रकार की कला को साहित्य में सन्निविष्ट करते हैं जिस वृत्त पर वह कृति की कलिका लिखती है वह है भाषा। भाषा भी समयानुसार अपना रूप बदलती रहती है। कला के

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

विकास के साथ–साथ साहित्य में नयी भाषा भी विकसित होती है।'' इस प्रकार निराला ने भाषा का मौलिक विवेचन किया है। उनका यह दृष्टिकोण वर्तमान साहित्य को नयी दिशा प्रदान करता है।

निराला के भाषा संबंधी विचारों का विवेचन करने के पश्चात उनके छंद संबंधी विचार भी उल्लेखनीय है। निराला के साहित्यिक चिन्तन में स्वाधीनता के स्वर विद्यमान है। वे मुक्ति की शाश्वत चेतना के उपासक हैं। उन्होंने हिन्दी कविता को छंद के बंधन से मुक्ति दिलाई और उसे खुली हवा में साँस लेने का अवसर दिया। मुक्त छंद के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए निराला कहते हैं– ''मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना।'' निराला जी ने 'परिमल' की भूमिका में यह दिखाने का प्रयास किया है कि कविता में छंद बद्धता और छंद मुक्ति मनुष्य के जातीय जीवन से संबंधित हैं। इसके लिए उन्होंने वैदिक कथाओं के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनकी पंक्तियाँ छोटी बड़ी और अतुकान्त है, फिर भी वे छंद हैं।

उनके द्वारा इस समय के समाज में व्यक्ति स्वातन्त्रय का भाव प्रकट होता है। उनका कथन है किं– ''कविता साहित्य काव्य में इस प्रकार ही स्वच्छन्द सृष्टि को देखकर हम तत्कालीन मनुष्य स्वभाव की मुक्ति का अन्दाजा लगा लेते हैं। परवर्ती काल में ज्यों–ज्यों चित्रप्रियता बढ़ती गयी है साहित्य में स्वच्छन्दता की जगह नियन्त्रण तथा अनुशासन प्रबल होता गया है, यह जाति त्यों–त्यों कमजोर होती गयी है।''

इस प्रकार निराला जी ने कविता में छंद के द्वारा समाज का यथार्थ बोध प्रस्तुत किया, जो उनका मौलिक एवं अभिनव प्रयोग था। आगे वे कहते हैं– ''इस समाज के और पराधीनकाल के काव्यानुशासन को देखकर हम जाति की मानसिक स्थिति को भी देख सकते हैं। अनुशासन के समुदाय चारों तरफ से उसे जकड़े हुए हैं। साहित्य के साथ राज्य, समाज धर्म, व्यवसाय सभी कुछ पराधीन हो गये है।'' कविता में छंद का एक रूप भिन्न तुकान्त भी हैं, जिसका प्रयोग मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, प्रसाद एवं पंत की कविताओं में हुआ है। किन्तु निराला ने इस प्रकार की भिन्न तुकान्त कविताओं को मुक्तछंद से अलग माना है। इस संबंध में उनका कथन है कि – ''इस तरह की कविता अतुकान्त काव्य का गौरवपद भले ही अधिकृत करती हों वह मुक्त छंद या स्वच्छन्द छंद कदापि नहीं। जहाँ मुक्ति रहती है वहाँ बन्धन नहीं रहते। न मनुष्यों में न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बन्धनों से छुटकारा पा जाना।''

इस प्रकार वे मानते है गण वृत्तों में गणों की, मात्रिक में मात्राओं की, तथा वर्णवृत्तों में अक्षरों की समानता का नियम उनको आबद्ध करता है। अतः उन्हें मुक्त छंद कहना उचित नहीं है। मुक्त छंद को परिभाषित करते हुए वे परिमल की भूमिका में कहते हैं–

''मुक्त छंद तो वह है जो छंद की भूमि में रह कर भी मुक्त है।.....उनमें नियम कोई नहीं केवल प्रवाहक वित्त छंद सा जान पड़ता है।'' मुक्त छंद के नाम से उन्होंने एक ऐसे छंद की परिकल्पना की हैं, जिसमें परम्परागत मात्राओं और गणों की निश्चित स्थिति के अभाव में कविता में लयात्मकता बनी रहती है। इस प्रकार उनका मुक्त छंद कविता के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके उसकी रूपरेखा बदल देता है। छंद की सीमा में बंधकर कविता में सहज भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। निराला जी के अनुसार–

''भावों की मुक्ति छंद की भी मुक्ति चाहती है। यहाँ भाषा भाव और छंद तीनों स्वतन्त्र है।'' निरालाजी ने काव्य में छंद मुक्त कविता के संबंध में विस्तार से विचार किया है और स्वयं उनका प्रयोग भी किया है उनके मुक्त छंदों में कोमल एवं परूष दोनों प्रकार के भावों की सफल अभिव्यक्ति हुई है। जिसमें वर्ण–योजना लय नाद के अनुरूप हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला ने काव्यभाषा और छंद के संबंध में अपना मौलिक चिन्तन व्यक्त किया हैं, जो उनके असाधारण व्यक्तित्व और अप्रतिम प्रतिभा को व्यक्त करता है। निराला इस अर्थ में प्रशंसनीय हैं कि हिन्दी काव्य उसके पूर्व कभीं छन्दों के बाहर नहीं गया था। 'जूही की कली' के प्रकाशन

से लेकर बाद तक निराला को काफी आलोचना झेलनी पड़ी और उनके मुक्त छंद का 'रबर छन्द' ओर 'केचुआ छन्द' कहकर उपहास किया गया, किन्तु निराला अपने पथ पर डटे रहे और विरोधियों पर प्रहार करते रहें। उन्होंने हिन्दी कविता को छंद बंधन मुक्त किया और उसे भाव प्रसार की स्वतन्त्रता दिलाई। स्वछन्दता का जो अबाध स्वरूप निराला की रचनाओं में देखा जाता है उसकी तुलना इस युग के किसी दूसरे कवि से नहीं हो सकती। भाषा संबंधी उनके विचार और प्रयोग दोनों अति प्रशंसनीय है। भाषा प्रयोग में जितनी सावधानी और स्वतंत्रता निराला ने दिखाई है, उतने अन्य किसी कवि ने नहीं। हिन्दी के सरल शब्दों से लेकर कठिन शब्द युग्मों तक और दुरूह संस्कृत से लेकर उपर्युक्त उर्दू तक। उन्होंने अनूठा प्रयोग किया है। जहाँ एक ओर 'राम की शक्तिपूजा' तथा 'तुलसीदास' जैसी उनकी अनेक कविताओं में तत्सम शब्दावली का आग्रह है, तो दूसरी ओर 'कुकुरमुत्ता' में अबे, सुन, वे गुलाब की देशीभंगिमा है। इसी तरह उन्होंने मुक्त छन्द की कविताओं के साथ–साथ छन्दबद्ध रचनाएँ भी की। सर्वथा नए छन्दों का प्रयोग किया। स्वयं मुक्त छन्दवाली कविताओं में लय की ऐसी सुधरता ला दी कि कविता और सजीव हो उठी। निराला निःसन्देह हिन्दी साहित्य में अपने असाधारण व्यक्तित्व के चलते 'निराला' थे।

lanHkZ %

1. प्रबन्ध प्रतिमा– सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला– राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 20
2. निराला रचनावली 5 सं0 नंद किशोर नवल– राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 364
3. वहीं, पृ0 364
4. वहीं, पृ0 364
5. वहीं, पृ0 364
6. प्रबन्ध पट्म– सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजमकल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 138
7. परिमल निराला, राजकमल प्रकाषन, पष्0 14
8. वहीं, पृ0 16–17
9. वहीं, पृ0 17
10. वहीं, पृ0 21
11. वहीं, पृ0 21
12. प्रबन्ध प्रतिमा– सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला– राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 200

***

jk"Vh; lkLdfrd pruk dk vkykd esa iklkn dk ukVd

gjh'k dqekj oek*

प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीयता एवं भारतीय संस्कृति के आदर्शों की प्रतिष्ठापना निर्विवाद है। ऐसा नहीं है कि यह विषय हिन्दी साहित्य में अछूता रहा हो। इस पर छिटपुट ढंग से कार्य होता रहा है, पर मेरी दृष्टि में आज के सन्दर्भ में यह विषय इतना अहम एवं महत्त्वपूर्ण है, कि इस पर विशेष बल देने की आवश्यकता है। आज इस व्यापक देश को राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक भावनात्मक एकता ही एक में मिलाये रह सकती है। अतः यह आवश्यक है कि ऐसे रचनाकारों का राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से पुनर्विचार हो जो इस भावना से पूर्ण रूपेण जुड़े हैं। प्रसाद जी ऐसे रचनाकारों में शीर्षस्थ हैं।

देखा जाय तो प्रसाद की रचनाकालीन परिस्थितियाँ अनेक प्रकार की विसंगतियों से पूर्ण तथा निराशाजनक थी। समूची मानवता असन्तोष, अव्यवस्था, कुंठा, एवं संत्रास से गुजर रही थी। देश में हत्या, लूटपाट, उत्पीड़न एवं अत्याचार हो रहे थे। देश गुलाम था और जनता विदेशी शासन के चुंगल से निकलने के लिए पिजड़े में बंद पक्षी की तरह फड़फड़ा रही थी। आपसी फूट और द्वेष की भावना से देश जर्जर हो गया था। जातिगत, धर्मगत तथा साम्प्रदायिक भावनाएँ आपसी प्रेम और एकता में बाधक बन रही थीं।

ऐसे विकट समय में भारतीय संस्कृति के ऊँचे आदर्शों को अपने नाटकों के माध्यम से वर्तमान में प्रतिष्ठापित करने का सराहनीय कार्य प्रसाद जी ने किया। उनका साहित्य आज की दिग्भ्रमित मानवता को दिशा बोध देने की पूर्ण क्षमता रखता है। प्रसाद के नाट्य साहित्य में युग–बोध एवं काव्य–बोध दोनों सम्मिलित हैं। उनका समूचा साहित्य अतीत को वर्तमान में चित्रित कर उसे नयी ज्योति देता है।

प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के महान आदर्श के स्वर को अपने नाटकों के माध्यम से व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है– 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' जहाँ देश–प्रेम की अगाध भावना को व्यक्त करता है, वहीं पर स्कन्दगुप्त का यह कथन कि – 'भारत समग्र विश्व का है और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेमपाश में आबद्ध है।' प्रस्तुत भावना को इतना व्यापक बना देता है कि सम्पूर्ण विश्व उसकी भुजाओं में सिमट कर बौना लगने लगता है।

प्रसाद जी मुख्यतः ऐतिहासिक नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हैं, जिसमें राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक चेतना का संपुट विराजमान है। उनके नाटकों में पौराणिक युग (जनमेजय का नागयज्ञ) से लेकर हर्षवर्धन युग (राज्य श्री) तक के भारतीय इतिहास तथा गौरवमय संस्कृति की झलक मिलती है। उनके प्रारम्भिक नाटक सज्जन, कल्याणी परिणय, करुणालय आदि नाट्य कला की दृष्टि से भले ही उतने परिपक्व न दिखाई पड़ते हों, पर लक्ष्य की ऊँचाई, अतीत के प्रति दृढ़ प्रेम, राष्ट्र को जागृत करने की बलवती प्रेरणा, सांस्कृतिक विरासत को वापस लौटा लेने की उत्कट अभिलाषा आदि की प्रेरणायें प्रारम्भिक अवस्था में ही दिखाई पड़ने लगी थीं। उनके नाटक के पात्र– गौतमबुद्ध, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, राज्यश्री, ध्रुवस्वामिनी ऐसे ही पात्र हैं जिसमें राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का उर्जस्वित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

ऐसे समय में जब देश में क्रूरता, हिंसा, विश्वासघात, हत्या आदि का साम्राज्य व्याप्त है। नैतिकता तार–तार हो गई हो, मानव दानव हो चुका हो, चारों ओर विध्वंस, अन्याय, अत्याचार का

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

माहौल व्याप्त हो, इन परिस्थितियों में प्रसाद के नाटक अजातशत्रु के ऐतिहासिक पात्र तथागत गौतमबुद्ध का यह कथन कितना प्रासंगिक जान पड़ता है– 'हमें अपना कर्त्तव्य करना चाहिए। दूसरे के मलिन कर्मों को विचारने से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है। शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म करना चाहिए। दूसरों की ओर से उदासीन हो जाना ही शत्रुता की पराकाष्ठा है। इस प्रकार की शिक्षा संसार के सारे विद्रोह को दबाने वाली तथा परम शांति को प्रदान करने वाली है।

वर्तमान की पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति भी नाटककार का गहरा आक्रोश व्यक्त हुआ है, क्योंकि इस व्यवस्था में कुछ ऐसे लोग हैं जिनके पास अपार सम्पत्ति है और इस देश के कुछ लोग भूखों मर रहे हैं। इसका विरोध स्कन्दगुप्त नाटक के पात्र पर्णदत्त के इन शब्दों से प्रकट होता है– ''अपना! देवसेना! अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए– हम भूखों के लिए रख छोड़ा है। वह थाती है; उसे लौटाने में इतनी कुटिलता। विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है और दरिद्रों के लिए नहीं?'' इस प्रकार प्रसाद ने पूँजीपतियों द्वारा एकत्र धन और अन्न पर देश और भूखे लोगों का अधिकार बतलाकर, उसे ले लेना न्याय संगत बतलाया है।

वर्तमान की समस्याओं के समाधान के लिए प्रसाद ने सभी धर्मों से ऊपर एक शक्तिशाली धर्म की स्थापना करने का प्रयास किया है, जिसमें राष्ट्र की रक्षा, त्याग और बलिदान की भावना निहित हो। जिसमें नवीन चेतना और सृजन की शक्ति हो। यह कार्य चाणक्य ने किया। जिसके अन्दर विपत्तियों का आभास सिंहरण से कराने पर चाणक्य कहता है– ''उसकी चिंता नहीं। पौधे अंधकार में बढ़ते हैं और मेरी नीति–लता भी उसी भाँति विपत्ति में लहलही होगी। हाँ केवल शौर्य से काम नहीं चलेगा। एक बात समझ लो–चाणक्य सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों। बोलो तुम लोग प्रस्तुत हो।''

इसी तरह राष्ट्रीय भावना की एक उत्कट लालसा चन्द्रगुप्त नाटक में देखने को मिलता है। सेल्यूकस के युद्ध में चन्द्रगुप्त की आशा के विपरीत सिंहरण जब सेना के साथ पहुँचता है, तब चन्द्रगुप्त उसके सही समय पर पहुँचने की खुशी जाहिर करता है। इस पर सिंहरण कहता है– ''हाँ सम्राट! और समय चाहे मालव न मिलें, पर प्राण देने का महोत्सव–पर्व नहीं छोड़ सकते। आर्य चाणक्य ने कहा है कि मालव और तक्षशिला की सेना प्रस्तुत मिलेगी। आप ग्रीकों के प्रधान शिविर का अवरोध कीजिए।''

भारतीय संस्कृति के आदर्शों के साथ–साथ प्रसाद ने विदेशी संस्कृति और सभ्यता के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली बुराइयों एवं प्रवृत्तियों का भी चित्रण किया है, जो वर्तमान में हमें प्रेरणा प्रदान करती हैं। नई सभ्यता में वासना और विलास को प्रमुखता दी जाती है और व्यक्ति अपने कुकृत्यों को छिपाने के लिए आडम्बरों का आश्रय लेता है। आज के ऐसे ही सभ्य लोगों का परिचय देते हुए कामना नाटक में संतोष नामक पात्र कहता है– ''वे शिकार और जुआ, मदिरा और विलासिता के दास होकर गर्व से छाती फुलाये घूमते हैं। हम धीरे–धीरे सभ्य हो रहे हैं। आधुनिक काल में जो व्यक्ति नैतिकता से जितनी दूर है, वह उतना ही सभ्य है। अपने ही समाज की बहू–बेटियों पर छींटाकशी और अनर्गल संकेत करना वर्तमान समाज के नये लोगों की पहचान है। व्यभिचार और नंगापन सौन्दर्य का पर्याय बनते जा रहे हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि आज का मनुष्य विवेकशील बनने की अपेक्षा लोलुप बनना पसन्द करता है।''

स्कन्दगुप्त नाटक में प्राचीन भारत का जीवन–रस, कुशल राजनीति, उच्च नैतिक आदर्श, भारतीय वीरों का स्नायुबद्ध सौन्दर्य, इतिहास के दर्पण में प्रतिबिम्बित आर्यावर्त्त में हुए अनेक परिवर्तन, भारतीय दर्शन की स्वच्छ आभा, भारत की अखण्डता आदि सभी भारतीयता के तत्त्व विद्यमान हैं। निःस्वार्थ कर्म करना, क्षमाशीलता, त्याग की भावना, देशप्रेम की भावना आदि मूल्य भारतीय संस्कृति में प्रमुखता से विद्यमान हैं। चूँकि क्षमाशीलता व्यक्ति और समाज दोनों को महान बनाती है। क्षमा को मानव–धर्म बतलाती हुई देवकी सभी षड्यंत्रकारियों को क्षमा किये जाने की प्रार्थना करती हुई स्कन्दगुप्त से कहती है– ''....तुम्हारी माता की यही मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन–दण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सबके लिए क्षमा प्रार्थिनी हूँ।''

इस प्रकार प्रसाद जी हमारे सामने एक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक नाटककार के रूप में आते हैं। उनका उद्देश्य भारत के स्वर्णिम अतीत की ज्योति को प्रज्ज्वलित रखना था। वे इतिहास के उन्हीं अंशो से अपना सम्बन्ध जोड़े हैं, जिनमें भारतीय संस्कृति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी। वस्तुतः प्रसाद जी अपने युग की समस्याओं के प्रति सचेत थे और उनके नाटकों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि अप्रत्यक्ष रूप से समकालीन समस्याओं के समाधान हेतु ही, प्राचीन इतिहास का सम्बल ग्रहण कर उनकी रचना की गई है। इन नाटकों में भारतीय जीवन की आकुलता ही परिलक्षित नहीं होती, बल्कि नवयुग की नवीन समस्याओं का समाधान भी मिलता है।

lnHkZ %

1. अजातशत्रु – जयशंकर प्रसाद, अंक 2, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 94,
2. स्कन्दगुप्त – जयशंकर प्रसाद, पंचम अंक, साहित्य सेवा प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 123
3. चन्द्रगुप्त, जयशंकर प्रसाद, अंक 2, भारतीय भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, पृ0 86
4. चन्द्रगुप्त – जयशंकर प्रसाद, चतुर्थ अंक, पृ0 169
5. कामना – जयशंकर प्रसाद, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 44,
6. स्कन्दगुप्त – जयशंकर प्रसाद, द्वितीय अंक, पृ0 103

***

iepUn dh dgkfu;k vkj Lok/khurk vkUnkyu

foodkuan frokjh*

इतिहास के जिस दौर में प्रेमचन्द ने कथा–लेखन की शुरूआत की, उस समय उनके समक्ष दो तरह की चुनौतियाँ प्रमुख थी। राष्ट्र की मुक्ति और कहानी वे उपन्यास विधा को स्थापित करना। देश अंग्रेजी सत्ता की गुलामी में जकड़ा था। इस गुलामी से मुक्ति के लिए कई तरह से आंदोलन हो रहे थे। तरह–तरह के लोग इसमें शामिल थे। इन लोगों के अपने अंतर्विरोध भी थे। कुछ लोगों का मानना था कि इन अंतर्विरोधों को भुलाकर सबको इस आंदोलन में शरीक होना चाहिए। जबकि कुछ लोग स्वाधीनता आंदोलन के महत्व को समझते हुए इसका समर्थन करते थे, लेकिन साथ ही इसके अंतर्विरोधी को भी उजागर करते थे, इसे न भूलाने पर जोर देते थे। सामंतवाद, जमींदारी प्रथा और जातिप्रथा के भीतर मौजूद छुआछूत ऐसे ही अंतर्विरोध थे। प्रेमचन्द अंतर्विरोधों की जटिलता और शोषणमूलक पहलू को समझते हुए इसका विरोध करते थे। साथ ही, आजादी की लड़ाई का समर्थन करते थे।

प्रेमचन्द उन लोगों में से नहीं थे, जिन्हें गल्प का यूरोपीय ढांचा स्वीकार करने में परहेज था। उन लोगों में से भी नहीं जो इसके यूरोपीय का उपयोग करते थे, लेकिन स्वीकार नहीं करते थे। 'यूरोपीय ढांचे के भीतर आत्मा' को कायम रखना प्रेमचन्द के समक्ष चुनौती थी। ऐसा करके तत्कालीन लेखक–विचार अंग्रेजी सत्ता के वर्चस्ववादी सांस्कृतिक तर्क का प्रतिरोधी विमर्श गढ़ रहे थे। प्रेमचन्द ऐसे ही लेखकों–विचारकों की श्रेणी में आते हैं।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में जिन थोड़े लेखकों ने भागीदारी की, प्रेमचन्द उनमें से एक थे। इन्होंने स्वाधीनता आंदोलन के लिए न सिर्फ कथा और पत्र–पत्रिकाओं में लेख लिखा, अपितु शिरकत भी किया। इनके कथा लेखन का आरम्भ देशभक्ति की कहानियों से हुआ जिसका सभी दृष्टियों से अनवरत विकास होता गया।

प्रेमचन्द का पहला कहानी संग्रह 'सोजे वतन' था। इस संग्रह की कहानियों में देशभक्ति का भाव मिलता है। देश–प्रेम की ऐसी कहानियाँ उस समय हिन्दी–उर्दू किसी भाषा में नहीं लिखी गई थी। देश–प्रेम की कहानी की शुरूआत यही से होती है। इसकी एक कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' का अंतिम वाक्य है– 'खून का वह आखिरी कतरा जो वतन की हिफाजत में गिरे, दुनिया की सबसे अनमोल चीज है।''[1] इसी भाव की वजह से अंग्रेजी सत्ता ने सोजे वतन की प्रतियां जलवाई थी। इन दिनों वे नवाब राय उर्फ धनपत राय नाम से लिखते थे। अब उन्होंने अपना नाम बदलकर प्रेमचन्द रख लिया। प्रेमचन्द नाम से स्वाधीनता आंदोलन से सम्बन्धित पहली कहानी 'उपदेश' छपी। उस समय स्वाधीनता आंदोलन को जातीय आंदोलन भी कहा जाता था, सन् 1917 में प्रकाशित इस कहानी से 1935 में प्रकाशित 'कातिल की माँ'[2] तक की कहानियों के कई स्वर हैं। इनकी कुछ कहानियों में स्वाधीनता आंदोलन या उसके विभिन्न कार्यक्रमों को सीधे–सीधे विषय बनाया गया है। कुछ कहानियों का कोई पात्र स्वाधीनता आंदोलन से जुड़ा है तो कुछ कहानियों में स्वाधीनता आंदोलन के दौरान घटी सच्ची घटनाओं को विषय बनाया गया है। कुछ कहानियों का विषय दूसरा है, लेकिन संदर्भ स्वाधीनता आंदोलन है। इन कहानियों में स्वतंत्रता संबंधी प्रेमचन्द के विचारों का स्वाभाविक विकास होता दिखाई

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

देता है। एक बात इन कहानियों में समान है–स्वाधीनता आंदोलन का समर्थन। इन कहानियों के जरिए स्वाधीनता आंदोलन का चरित्र समझकर इसका इतिहास लिखा जा सकता है।

प्रेमचन्द अपने दौर के महान लेखक थे। महान लेखक अपने दौर के महत्वपूर्ण विचारों से संबंध बनाता है। सब संबंध वाद–विवाद–संवाद तीनों स्तरों पर संभव है। प्रेमचन्द के विचार भी आरंभ से अंत तक एक नहीं रहे हैं। इनके रचनात्मक लेखन और पत्रकारिता संबंधी लेखन में किसी एक विचारधारा का शुरू से आखिरी तक अंध समर्थन नहीं है। 1917 के पहले के प्रेमचन्द पर बाल गंगाधर तिलक का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रेमचन्द ही नहीं उस दौर के ज्यादातर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी पर तिलक का प्रभाव देखा जा सकता है। भारतीय राजनीति में गाँधी के आने के बाद प्रेमचन्द सहित मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का बड़ा तबका गाँधी के विचारों से प्रभावित हुआ।

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चल रहे स्वाधीनता आंदोलन के प्रेमचन्द समर्थक थे, लेकिन यदा–कदा इसकी आलोचना भी करते थे। प्रेमचन्द अपने को गाँधी जी का 'कुदरती चेला' कहते थे। बावजूद इसके अपनी असहमति व्यक्त करने में कतराते नहीं थे। गाँधी के नेतृत्व से पहले भारतीय स्वाधीनता आंदोलन शहरी मध्यवर्ग तक सीमित था। उच्च शिक्षा प्राप्त शहर के लोग इस आंदोलन से जुड़े थे, गाँधी जी ने इस आंदोलन को गाँवों–कस्बों में फैलाया। किसानों और व्यापक जनता को आंदोलन के लिए प्रेरित किया। प्रेमचन्द उच्च शिक्षा प्राप्त मध्यवर्गीय लोगों द्वारा किए जा रहे आंदोलन की खूबी–खराबी और सीमाओं को देखे थे। प्रेमचन्द की यह खूबी उन्हें तत्कालीन कई लेखकों से अलग करती है।

अतः साफतौर पर कहा जा सकता है कि देश के स्वराज आंदोलन में प्रेमचन्द साहित्य के जरिए अपनी भूमिका अदा कर रहे थे। डॉ0 रामविलास शर्मा ने इन्हें ठीक ही 'स्वाधीनता आंदोलन का कथाकार' और अमृतराय ने 'कलम का सिपाही' कहा है।

सन् 1917 से पहले प्रेमचन्द की रचनाओं में राष्ट्रीय प्रश्न नहीं मिलता है। हलांकि इस बीच उनकी कुछ अच्छी कहानियां छप चुकी थी। 'सोजे वतन' में प्रेमचन्द ने देशभक्ति को दिखाया था 'उपदेश'[3] में राष्ट्रीय आंदोलन पर विचार किया गया। इस प्रकार प्रेमचन्द देशभक्ति से सफर शुरू कर राष्ट्रवाद के मुकाम तक गए। देशभक्ति से राष्ट्रवाद की यात्रा में उनकी दृष्टि का विकास हुआ है। इसकी पहली झलक 'उपदेश' में दिखती है। सवाल उठता है, कि 1917 ई0 में भू राजनीतिक परिदृश्य में ऐसा क्या हुआ है? विश्व राजनीतिक परिदृश्य में 1917 ई0 की रूसी क्रांति एक महत्वूपर्ण घटना थी। इस क्रांति से मजदूर–किसान की ताकत का पता चला। मजदूरों–किसानों की सत्ता की स्थापना ने तत्कालीन प्रगतिशील लोगों को आकर्षित किया था। देश के भीतर गाँधी जी का राष्ट्रीय आंदोलन में आना और चंपारण का किसान सत्याग्रह आंदोलन सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी। अब आंदोलन शहर की सीमाओं से गाँव की ओर गया।

सत्याग्रह को गाँधीजी ने आजादी की लड़ाई के हथियार के रूप में स्थापित किया। इसके अलावा आजादी की लड़ाई के साथ नैतिक पहलू को जोड़ा। 'उपदेश' कहानी से प्रेमचन्द के विचारों में मोड़ दिखता है। इस कहानी में राष्ट्रीय नेतृत्व की आलोचना की गई है। राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व कौन कर रहा है? उसका वर्ग चरित्र कैसा है? इस आंदोलन से फायदा किसे होगा? राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्वकारी वर्ग की सीमाएं क्या है? इस कहानी में वकील पं0 देवरत्न शर्मा की झूठी आदर्शवादिता और जातीय सेवा के ढोल की पोल खोली गई है। ऐसा करके प्रेमचन्द ने राष्ट्रीय आंदोलन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखना शुरू किया। इसी दृष्टि का विकास 'आहुति' की नायिका रूपमणि और 'गबन' के देवीदीन के सवाल के रूप में हुआ है। सवाल उठता है कि प्रेमचन्द किस दृष्टि से आजादी के आंदोलन की आलोचना करते थे? डॉ0 वीर भारत तलवार की स्थापना से इस सवाल का जवाब मिल जाता है। डॉ0 तलवार का मानना है कि ''उन्होंने किसानों के हित की दृष्टि से स्वराज्य आंदोलन के शिक्षित मध्यवर्गीय नेतृत्व की आलोचना की। लेकिन, उन्होंने कभी दरअसल किसानों का हित प्रेमचन्द के लिए स्वाधीनता आंदोलन एवं नेतृत्व वर्ग की कसौटी था।

प्रेमचन्द्र ने कुछ कहानियाँ सच्ची घटनाओं पर लिखी हैं। वे अखबार में छपी महत्वपूर्ण खबर के आधार पर भी कहानी का प्लॉट तैयार करते थे। इसे लेकर उनकी आलोचना होती थी। नंददुलारे वाजपेयी ने इन्हें समसामयिक विषयों के कहानीकार कहकर आलोचना की।

प्रेमचन्द की स्वाधीनता विषयक कुछ कहानियों में पति स्वाधीनता आंदोलन का समर्थक है और पत्नी स्वाधीनता आंदोलन का महत्व न समझकर पति के रास्ते में रोड़े अटकाती है। इसकी विपरीत 'पत्नी से पति' 'होली का उपहार' जैसी कहानियों में पत्नी स्वाधीनता आंदोलन में बढ़–चढ़कर हिस्सा लेती है, जबकि पति ऐसा करने से रोकता है। पति देर से इस आंदोलन का महत्व समझ पाता है।

'आखिरी तोहफा'[5], 'होली का उपहार[6]' और सुहाग की साड़ी' विदेशी कपड़ों के बहिष्कार पर लिखी कहानी है। 'होली का उपहार' के अमरकांत को पत्नी से पहली बार मिलने पर लिए होली के मौके पर ससुराल जाना है। इसके लिए मित्रों की सलाह से वह विदेशी साड़ी ले जाना चाहता है। इसके लिए मित्रों की सलाह से वह विदेशी साड़ी खरीदने जाता है, वहाँ उसकी पत्नी सुधदा देवी पिकेटिंग करती है। अंततः अमरकांत लज्जिन होकर स्वदेशी आंदोलन का कार्यकर्ता बन जाता है।

'आखिरी तोहफा' में प्रेमिका की विलायती साड़ी की जिद प्रेम–विच्छेद का कारण बनती है। स्वदेशी आंदोलन से पूंजीपति, व्यवसायी वर्ग के रिश्ते पर 'चकमा' एंव 'तावान' कहानी लिखी गयी है। कांग्रेस के प्रतिज्ञा–पत्र पर जो व्यवसायी विलायती कपड़ा नहीं बेचने के लिए हस्ताक्षर करने से इंकार करता था, कांग्रेस के कार्यकर्ता उसकी दुकान के सामने पिकेटिंग करते थे। इस प्रकार वे ग्राहकों को देश की दुरावस्था एवं गुलामी को समझाते हुए विलायती कपड़ा नहीं खरीदने के लिए प्रार्थना करते थे। इससे व्यवसायी वर्ग को नुकसान होता था।

'चकमा'[7] में प्रेमचन्द ने दिखाया हे कि कैसे कांग्रेस के प्रतिज्ञा–पत्र पर हस्ताक्षर करके व्यसायी वर्ग विलायती कपड़ों के गट्ठर पर स्वदेशी मुहर लगाकर निर्द्वंद्व भाव से बेचने लगा। स्वदेशी आंदोलन से इस वर्ग के चरित्र में कोई बदलाव नहीं आया था। नशाखोरी का विरोध असहयोग के कार्यक्रम में शामिल था। गांधी जी ने शराबबंदी का आह्वान किया था। स्वाधीनता आंदोलन के कार्यकर्ता शराब और दूसरी नशीले वस्तुओं की दुकान के पास पिकेटिंग करते थे। प्रेमचन्द ने इस पर 'शराब की दुकान', मैकू', 'दुस्साहस' कहानियाँ लिखीं। इन कहानियों में मैकू और मुंशी मैकूलाल जैसे पियक्कड़ों का मन कैसे बदलता है, दिखाया गया है। शराब को दुकानदार मूत में मिलाना शुरू करते हैं। 'शराब की दुकान' में कांग्रेसी नेतृत्व को कमजोरी की तरफ इशारा किया गया है। कांग्रेस के नेता शराब–ताड़ी की गंदी दुकानों में पियक्कड़ों के पास पिकेटिंग करने की जहमत उठाना की इजाजत मांगती है। कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष अपनी कमजोरी छिपाने के लिए गाँधी जी की राय का सहारा लेते है। अंततः एक युवक जयराम और मिसेज सक्सेना दुकान पर जाते है। नेतृत्व वर्ग पिकेटिंग करने नहीं जाता।

प्रेमचन्द की स्वाधीनता विषयक कहानियों से स्पष्ट होता है कि इनका भरोसा गांव के गरीब किसानों पर था। प्रेमचन्द ने 'समर–यात्रा' में गरीब विधवा नोहरी का चित्रा कर दिखाया है कि इस वर्ग के लोगों में आजादी के लिए कितना उत्साह था, नोहरी जैसे चरित्र में आजादी की ललक एवं इसके लिए कुर्बानी की कुब्बत है। सत्याग्रहियों के जत्थे को देने के लिए नोहरी के पास कुछ नहीं है। नोहरी को इसका अफसोस है। वह सत्याग्रहियों के जत्थे के पास खड़ी देख रही थी। 'सहसा उसने लाठी फेंक दी और भीड़ को चीरती हुई यात्रियों के सामने आ खड़ी हुई, जैसे लाटी के साथ ही उसने बुढ़ापे और दुःख के बोझ को फेंक दिया हो! वह एक पल अनुरक्त आंखों से आजादी के सैनिकों की ओर ताकती रही, मानो उसकी शक्ति को अपने अंदर भर रही हो। तब वह नाचने लगी, जैसे कोई सुंदरी नवयौवना प्रेम और उल्लास के मद में विह्वल होकर नाचे। लोग दो–दो, चार–चार, कदम पीछे हट गए। छोटा–सा आंगन बन गया और उस आंगन में वह बुढ़िया अपना अतीत नृत्य कौशल दिखाने लगी। इस अलौकिक आनंद के रेले में वह अपना सारा दुःख और संताप भूल गई। उसके जीर्ण अंगों में जहां सदा वायु का प्रकोप रहता था, वहाँ न जाने इतनी चपलता, इतनी लचक, इतनी फुरती कहां से आ गई थी।[8] यह गांधी जी का प्रभाव था कि उनके आंदोलन ने नोहरी जैसे

अंग्रेजी राज में भी सुखपूर्वक जीवनयापन कर रहे हैं। उन्हें आजादी से खास मतलब नहीं है। आजादी की वास्तविक जरूरत गरीब किसानों को है।

'आहुति' काहानी को 'समर–यात्रा' के साथ पढ़ने पर स्पष्ट होता है, कि उच्च मध्यमवर्ग के लड़के, जो शहर में पढ़ाई करते थे, आजादी के आंदोलन से कितना जुड़े थे। इनकी अपेक्षा गरीब का जुड़ाव कितना था। आनन्द उच्च–मध्यवर्ग का युवक है। विशम्भर गरीब है। दोनों विश्वविद्यालय में एम0 ए0 के छात्र है। स्वराज आंदोलन में दोनों हिस्सा लेते हैं। दोनों में बुनियादी फर्क क्या है? आनन्द सोचता है, ''आग में कूदने से क्या फायदा। यूनिवर्सिटी में रहकर भी तो बहुत कुछ देश का काम किया जा सकता है। आनन्द महीने में कुछ न कुछ चीदा जमाकर देता है, दूसरी छात्रों में स्वदेशी की प्रतिज्ञा करा ही लेता है। विशम्भर को भी आनन्द ने यही सलाह दी।'' लेकिन विशम्भर गांव में जाकर स्वराज्य आंदोलन का अलख जगाने निकल पड़ता है। अपने एक मित्र रूपमणि केस आनंद बहस करता है। रूपमणि विशम्भर का पक्ष लेती है। दरअसल आनन्द उच्च मध्य वर्ग के प्रतिनिधि चरित्र के रूप में कहता है ''शिक्षा और सम्पत्ति का प्रभुत्व हमेशा रहा है और हमेशा रहेगा। हां, उसका रूप भले ही बदल जाए।'' इस पर रूपमणि प्रतिवाद करते हुए कहती है, ''अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा–लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अंग्रेजी महाजनों की धन–लोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही आज हमें पीसे डाल रहा है।

जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिए हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सर चढ़ाएगी कि वे विदेशी नहीं, स्वदेशी हैं? कम–से–कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविंद बैठ जाएं। मैं समाज की ऐसी व्यवस्था देखना चाहती हूँ, जहाँ कम से कम विषमता को आश्रय न मिल सके।'' रूपमणि के इस कथन के साथ गबन के देवीदीन द्वारा कांग्रेस के नेता से पूछे गए सवाल को याद करें। इससे प्रेमचन्द की दृष्टि से पता चलता है। जब 'पूर्ण स्वराज्य' के लिए आंदोलन हो रहा था तब 'जनता का लेखक' तत्कालीन नेतृत्व से उसकी भावी योजनाओं के बारे में सवाल पूछता है। प्रेमचन्द स्वराज्य के पक्षधर थे लेकिन स्वराज्य के संबंध में उनकी अपनी रूपरेखा समता के मूल्यों पर आधारित थी। उसमें गैर–बराबरी की कोई जगह नहीं थी। प्रेमचन्द की स्वाधीनता आंदोलन से संबंधित कहानियों में ऐसा दृढ़ विचार मिलता है।

lanHkZ %

1. प्रेमचन्द : भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की कहानियाँ, पृ. 12
2. प्रेमचन्द : मानसरोवर भाग–7, पृ0 19
3. प्रेमचन्द : मानसरोवर भाग–8, पृ0 263
4. आजकल हीरक जयंती वर्ष : फरवरी 2005, पृ0 2897
5. प्रेमचन्द : मानसरोवर भाग–7, पृ0 30
6. प्रेमचन्द : मानसरावर भाग–7, पृ0 35
7. प्रेमचन्द : मानसरावर भाग–6, पृ0 197
8. प्रेमचन्द : मानसरावर भाग–7, पृ0 62।

***

v/kj uxjh % 0;X; vkj foMEcuk d #i e

xkjo dekj tk;loky*

हिन्दी साहित्य में इन्दु के समान अपनी रचनाओं के माध्यम से जो शीतलता प्रदान करते हैं वैसी शीतलता साहित्य में शायद ही देखने को मिले। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वास्तव में भारत के इन्दु थे। उन्होने साहित्य के द्वारा उस समय के विभिन्न विसंगतियों और विडम्बनाओं को अपने साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। भारतेन्दु अपने युग के युग निर्माता ही नहीं, बल्कि समकालीन साहित्य के लिए एक अप्रतिम उदाहरण भी थे। भारतेन्दु युग का साहित्य एक ऐसा साहित्य था जो देश काल की सीमा से परे था। उनका साहित्य मनुष्य को देश, चरित्र और संस्कृति का बोध कराता है। उनके साहित्य में प्रेमचन्द की तरह जीवन का यथार्थ तथा निराला जैसी उदारनिष्ठा और पौरुष की कमी नहीं थी। भारतेन्दु जब साहित्य की रचना कर रहे थे उस समय हमारा देश गुलामी की जंजीरों से जकड़ा हुआ था और अंग्रेजी शासन हमारे देश में पूर्ण रुप से हावी हो चुका था। भारत की शासन व्यवस्था को उन्होंने अपने हाथ में ली थी। उस समय हमारे देश में पश्चिमी सभ्यता और दासता का समय था। भारतेन्दु एक ऐसे समय में साहित्य की की रचना कर रहे थे, जो हिन्दी भाषा को केवल साहित्य के रुप में प्रतिष्ठत करते हुए वह भारतीय जनता में हिन्दी भाषा के माध्यम से नवजागरण की शुरुआत और सम्पूर्ण आन्दोलन को गति देना चाहते थे। उन्होंने 'बादशाह दर्पण' में कह दिया कि 'मुसलमानों का राज हैजे का रोग है, अंग्रेजी राज क्षय का।' उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से प्राचीन भारत से लेकर अंग्रेजों की शासन व्यवस्था को दिखाया है, क्योंकि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के पहले मुगल साम्राज्य कई वर्षों तक था। उस समय की शासन व्यवस्था को भारतेन्दु एक खतरनाक रोग से तुलना करते हुए उनका नामकरण भी कर दिये। भारतेन्दु हरिश्चन्द के साहित्य में सामाजिक कुरीतियों, छुआ–छूत, जाति–पाँति, बाल–विवाह के विरोध का स्वर दिखायी पड़ता हैं। उन्होंने विदेशी संस्कृति के पड़ने वाले विकृत रुपों एवं अंग्रेजी राज्य के अन्याय–अत्याचार का दृढ़ विरोध और भारतीय अस्मिता की पहचान, भारतीयों के अन्दर आत्मविश्वास और आत्मगौरव के भाव को जागृत करना जो उस समय लगभग खत्म होने के कगार पर था। यही उनके साहित्य का प्रथम लक्ष्य था। भारतेन्दु ने अपने रचना के माध्यम से ब्रिटिश सरकार की चापलूसी करने वाले लोगों पर तीखा व्यंग्य किया है। भारतेन्दु अपने रचना में धार्मिक अन्धविश्वास, संकीर्णता का भी तीव्र विरोध किया है। भारतेन्दु अपने जीवन काल में हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रबल सर्मथक और साम्प्रदायिक सद्भाव के हिमायती थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ब्रिटिश शासन व्यवस्था के खिलाफ थे और वे साहित्य के माध्यम से ही लोगों को जागृत करना चाहते थे। उनके साहित्य को आन्दोलन का साहित्य कहा गया है। भारतेन्दु ने अपने समय के पूँजीवादी, सामन्तवादी, दासतावादी शासन का विरोध करते हैं। बालमुकुन्द गुप्त ने भारतेन्दु जी के लेखन को तेज, तीखा, बेधड़क लेखन कहा है। वर्तमान समीक्षक डॉ रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु का पुनर्मूल्यांकन करते हुए उन्हें हिन्दी नवजागरण और प्रगतिशील चेतना से जोड़ा। अगर इन सब बातों पर ध्यान दिया जाए तो हमें यह स्पष्ट पता चलता है कि आलोचक ने अगर कबीर को पहला युग प्रवर्तक कहा है तो निश्चित रुप से भारतेन्दु को दूसरा, क्योंकि दोनों में जो बात एक थी वह अपने को मिटाने की भावना, क्रान्ति की चेतना और किसी भी बात को बेबाक ढंग से कह देना।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

मनुष्य मात्र की समता के हिमायती भारतेन्दु में अदम्य संघर्षशीलता के दर्शन होते है। आज जब पूँजीवादी संकट गहराता जा रहा है तो इस परिप्रेक्ष्य में भारतेन्दु के साम्राज्यवादी विरोधी स्वर प्रासंगिक मालूम देते हैं। आज जिस तरह सामन्ती सामाज में पूँजीवादी शोषण का तरीका और बारीक तथा ध ारदार हो गया है, भारतेन्दु की ये पंक्तियाँ सटीक बैती है–

^^Hkhrj&Hkhrj lc jl pl] gfl&gfl d ru&eu&/ku pl A
tkfgj ckru e vfr rt] D;k lf[k] lktu ugh vxjt AA**

'अंधेर नगरी' भारतेन्दु द्वारा अनैतिक, विवेक हीने, भ्रष्ट, काठ में तब्दील सत्ता पर करारी व्यंग्य है। यह एक ऐसी कृति है जो किसी युग को सीमा काल से नही बँधती कई युगों को जोड़ती हुई आने वाले समय में अपना स्थान सुरक्षित रखती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस नाटक के द्वारा भारत ही नहीं, बल्कि विश्व के किसी भी समाज द्वारा नियंत्रित तथा विवेकभ्रष्ट, काठ में तब्दील होते चेतना शून्य मनुष्य तथा ऐसा समाज जिसमें न्याय और अन्याय की विभाजक रेखा अपना अर्थ खो चुकी हो उसको चित्रित किया है। भारतेन्दु ने इस नाटक में ऐसे समाज का चित्रण किया है जो कर्पूर और कपास में अंतर नहीं समझता। 'अंधेर नगरी' समसामयिक सन्दर्भों का जीवन्त नाटक है। कुछ रचनायें अपनी प्रासंगिकता हमेशा सिद्ध करती हैं और वह पुरानी या बासी नहीं पड़ती । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जो रचनाएँ रचते हैं वे आज के इस पूंजीवादी समाज के ऊपर एकदम फिट बैठता तथा वह बदलते हुए परिवेश, बदली हुई परिस्थितियों में उनके नए–नए अर्थ को प्रतिबिम्बित करता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने नाटक भारत–दुर्दशा, अंधेर नगरी के जरिये ब्रिटिश सत्ता पर व्यंग्य करते हैं। जिस शासन में कर्पूर और कपास में कोई अन्तर न हो ऐसी सत्ता वाले देश को छोड़ देना चाहिए। अंधेर नगरी नाटक में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अनावरण और स्पष्ट अभिव्यक्ति को बड़ी सफाई के साथ स्पष्ट करते हैं। उनका यह स्पष्ट निश्च्छल स्वभाव ही उन्हें आज और अधिक प्रतिष्ठित करता है। सत्ता और व्यवस्था में परिवर्तन, अविवेकी, अन्यायी राजा का विरोध जन वर्ग की शक्ति, समूह चेतना और अपने को बचा एवं स्वयं राजा को ही फँसा देने की कुशलता भी इस 'अंधेर नगरी' को बहुत आगे ले जाती है। अंधेर नगरी में संघर्ष प्रत्यक्ष या व्यापक स्तर पर तो नहीं है लेकिन इस छोटे प्रहसन में उसकी अप्रत्यक्ष तीखी मार और धार अवश्य है। उदासीनता और जड़ता को तोड़ना इस नाटक का रचनात्मक पहलू है। 'कोउ नृप होउ हमे का हानी'[1] की मानसिकता कितनी घातक है यह प्रेरणा इस नाटक में स्पष्ट दिखायी पड़ती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने समग्र राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण के साथ यह नाटक रचा है। उन्होंने राजनीति को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा है। वे कहते हैं कि किसी भी देश की आर्थिक, सांस्कृतिक चेतना में राजनीति की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। भारतेन्दु ने राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण इतनी स्पष्ट थी कि वह अंधेर नगरी में उस हास्य में गंभीर व्यंग्य की रचना कर पाते है। भारतेन्दु अपने नाटक के द्वारा अंग्रेजी व्यवस्था से पीड़ित उन सभी लोगों को एक नयी दिशा दिखाना चाहते थे क्योंकि उस समय सत्ता परिवर्तन की बहुत बड़ी जरुरत थी। जिस स्तत्व की बात भारतेन्दु ने कही कि 'स्तत्व निज भारत गहै' और जिसे वर्तमान प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह ने अस्मिता मानते हुये 'आलोचना के 19 अंक में सम्पादकीय में लिखा है यह 'स्तत्व वही है जिसे हम आजकल अस्मिता कहते हैं और भारतेन्दु अपने नाटक अंधेर नगरी को विश्व के सामने इस स्तत्व प्राप्ति इस अस्मिता का मानदण्ड सामने रखते हैं। राजतंत्र की हिलती हुई बुनियादों और जागती हुई जन चेतना, शक और मजदूर को हम ब्रेख्त, गोर्की, टालस्टाय की रचनाओं में पाते है। 'अंधेर नगरी' कहने को अत्यंत लोकप्रिय नाटक है, लेकिन इसने समसामयिक दृष्टि और आधुनिक रंग चेतना के विकसित दौर में एक अत्यंत गम्भीर सृजनात्मक कृति के रुप में अपना स्थान बना लिया।

इस सामान्य से दिखने वाले कथानक में सामंती व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था की भ्रष्टाचारिता, सत्ता की विवेक हीनता, शिथिलता–जड़ता, सत्ताधारी मानसिकता, निरीह जनता को लम्बे समय तक उलझाने और ठगने की प्रवृत्ति, आज के युग में मूल्यों की विकृति और विसंगति को चित्रित किया गया है। अंधेर नगरी अन्ध व्यवस्था का प्रतीक है। चौपट राजा विवेकहीनता और न्याय दृष्टि के न होने का

मूर्त स्वरुप है। उसका न्याय भी अन्धता का प्रमाण है। भारतेन्दु ने मूर्ख राजा के साथ–साथ गोबर्धन दास जैसे मनुष्यों के लोभवृत्ति पर भी व्यंग्य किया है। लोभवृत्ति ही मनुष्य को बुरे काम में फँसाती है। अंग्रेजों की न्याय दृष्टि और प्रणाली में भी शोषक, शोषित, अपराधी, निरापराधी में कोई अन्तर नहीं था, आज भी हमारी न्याय प्रणाली की यही स्थिति है। हमारी समकालीन शासन व्यवस्था पर, शोषकवृत्ति पर तो 'अंधेर नगरी' व्यंग्य ही है पर यह अंधेर नगरी विश्व के किसी भी कोने में हो सकती है, क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ आधुनिक युग की देन है।

अंधेर नगरी केवल भारतेन्दुकालीन संदर्भों का, समाज–धर्म और राजनीति का नाटक नहीं है, वह उस मूल्यहीनता का, मनोवृत्ति का समग्र और सार्वजनिक चेतना का नाटक है जो सर्वत्र फैली हुई है। यह अंधेर नगरी सुन्दर–आकर्षक है 'पर अंधाधुंध मच्चौ सब देसा, मानहुँ राजा रहत बिदेसा।' जनता अब जानती है कि साहबों ने हकिमों ने सारा हिन्द हज़म कर लिया है 'दूना टैक्स जगाया है' भारतेन्दु ने अपने नाटक में इंगित किया है–

pju gkfde lc tk [kkrA
lc ij nuk fVdl yxkrAA
pju lkgc tkx tk [krkA
lkjk fgUn gt e dj tkrkAA[2]

ये सब चीजें यथार्थ एवं सत्य है। आज के वर्तमान दौर में भ्रष्टाचार इतना बढ़ गया है कि कोई भी काम को करने के लिए पैसा चाहिए जो कि वर्तमान समय का एक कोढ़ बन चुका है और भारतेन्दु ऐसे समाज का चित्रांकन अपने नाटक अंधेर नगरी में किया है। उन्होंने उस समय के समाज में फैली विसंगतियों को दिखाया है जो वर्तमान में भी दिखायी पड़ती है। आज जब हर तरफ घूस खोरी, कालाबाज़ारी, जमाखोरी, गबन का बाज़ार गर्म है, साम्राज्यवादी एवं पूंजीवादी ताकतें पुनः देश पर अपनी पकड़ बना रही है। आज हमारे देश में जब जनता सरकार को चुन कर सत्ता पर बैठाती है तो उसे लगता है कि वह जनता के प्रति समर्पित होगा लेकिन उनका वही हाल है। ये लोग टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों को बेच सकते हैं टके के वास्ते ये कहीं भी किसी को अपना सकते है और नही तो वेद, धर्म, कुल मर्यादा, प्रतिष्ठा सबको टके सेर में लेना चाहते है । आज भी वर्तमान आज़ाद भारत में पैसे का बोल–बाला है, यानि भौतिक विलासिता का लोभ आज भी समाज में क्या नहीं करवा रहा है। लोग भौतिक विलासिता के सुख भोग के लिए अपने माँ, बाप, पत्नी, घर–बार तक को भूल जा रहे हैं।

भारतेन्दु एक ऐसे लेखक हैं जो समाज के ऊपर किसी भी बात को बेधड़क कह देते हैं अगर उनके नाटकों में धार्मिक भावना भी दिखाई पड़ती है। वे अपने नाटक में दिखाते हैं कि आज वर्तमान समय में जो समाज में धर्म की आड़ में जो गलत काम हो रहे है उसका सजीव चित्रण उन्होंने अपने समय अपने नाटक में कर लिया था। जिसे पढ़ने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि वह वर्तमान में लिखा गया नाटक है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने धार्मिक आडम्बरों का विरोध किया है। वे अंग्रेजों के प्रति भारतीय जनता को मिलाकर स्वतंत्र होने की बात करते हैं। जिस प्रकार कबीर अपने समाज में धार्मिक–पाखण्डों का विरोध किया।

आज हम आजाद भारत में तो हैं, लेकिन स्वतंत्रता पूर्वक जीने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। जहाँ देखिए, तहाँ भ्रष्टाचार, कुरीतियों, लोभवृत्ति का बोलबाला है। समसामयिक दौर में इस प्रहसन के महत्व को हम इसी से आँक सकते हैं कि हमारे यहाँ आजाद भारत में आपातकाल के दौरान इस मंच पर पाबंदी लगा दी गयी थी। अंधेरगर्दी से भरा समकालिक दौर और चूरनवाला तथा गोबरधन दास द्वारा कही गयी बातों की समानता को हम देखते हुए ऐसा महसूस होता है कि जैसे आज का चित्र खींचकर किसी ने रख दिया हो। आज जिस तरह मूल्यहीनता, विवेकहीनता, संवेदनशून्यता अपने चरम पर पहुँच गई है। आज हमारे सामने जो समाज की स्थिति है, जिसमें चारों और नैतिक मूल्यों में आई गिरावट ने व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित और स्वार्थपरस्त बना दिया है। ये सब आज की वर्तमान व्यवस्था

की काली करतूतों का बखूबी पर्दाफाश करते हैं। चतुर्दिक मँहगाई, भ्रष्टाचार और चापलूसी रिश्वतखोरी का माहौल है। आज भी साम्राज्यवादी पूँजी के आधार पर भारतवर्ष में जो उद्योग–धन्धे पनप रहे हैं वे निश्चित ही अभी भी भारतीय मानसिकता को गुलामी की जंजीरों में जकड़े हुए है। ऐसे में भारतेन्दु की नुकीली धारदार व्यंग्यात्मक कथनों की अहमियता और बढ़ जाती है। उन्होंने अपने नाटक के द्वारा समाज को बताया है कि गोबरदास जैसे भिक्षु के लोभवृत्ति का क्या अंजाम होता है ? उसके दुष्परिणाम को दिखाने के लिए वे फांसी के फंदे तक उसे ले जाते है। वही उन्होंने विवेकहीन व्यवस्था का अंत भी बुद्धि बल के द्वारा होता दिखाया गया है।

निश्चित ही अंधेर नगरी का बाज़ार एक आभासी यथार्थ का सृजन का भ्रमजाल बुनता है और यह तभी संभव है जब समाज में व्यवस्था विवेकहीन हो और समाज में पथभ्रष्टता पनप रही हो।

I nHk

1. नये जमाने की ठुमरी, भारतेन्दु समग्र, सं0 हेमन्त शर्मा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, पिशाचमोचन, वाराणसी, तृतीय संस्करण : 1989, पृ0 सं0 : 256
2. अंधेर नगरी, भारतेन्दु समग्र, सं0 हेमन्त शर्मा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, पिशाचमोचन, वाराणसी, तृतीय संस्करणः 1989, पृ0 सं0 : 531
3. भारत दुर्दशा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2002, पृ0सं0 : 12

***

fgUnh uotkxj.k d ifjÁ{; e fujkYkk dh dk0;pruk

eu¨t fo'odek*

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की चिंतन धारा यद्यपि पुरातनता एवं नवीनता के दो कूलों के बीच सतत् प्रवाहमान रही है, तथापि यह कहना निरापद नहीं है, कि उनमें प्राचीनता अथवा शाश्वत मूल्यों के प्रति विशेष आग्रह है, बल्कि यह कहना चाहिए कि निराला जी की आत्मा के विराट विस्तार में युग और इतिहास के एक–एक स्पंदन समाये हुये हैं। हिन्दी नवजागरण उन्हीं स्पदनों की कड़ी का महत्वपूर्ण जोड़ है जिससे निराला जी की आकलन करके नहीं देखा जा सकता।

हिन्दी नवजागरण हमारे लिए भारत यूरोप संसर्ग से जन्में उन नवीन विचारों का जिक्र आवश्यक हो जाता है, जिन विचारों ने बंगाल से लेकर हिन्दी प्रान्तों तक के सुधारवादी मनीषियों एवं कवियों को जागृत तथा बेचैन रखा। हिन्दी प्रदेश में नवजागरण की लहर स्वामी दयानंद तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के साथ पहुँची, जबकि बंगाल में राजाराम मोहनराय, परमहंस इत्यादि महापुरुषों के विचार ध्वज बहुत पहले से ही फहरा रहे थे। नवजागरण के तहत नवोदित विचारों के परिप्रेक्ष्य में मुख्य रूप से तीन बातें आती हैं। प्रवृत्ति का उत्थान, स्वतंत्र चिंतन और नारियों के प्रति आदर दृष्टि। इस बात को दिनकर ने बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है– ''सच पूछिये तो प्रवृत्ति का उत्थान, बुद्धि की स्वतंत्रता और नारियों की मर्यादा वृद्धि में तीनों पुनरुत्थानवादी आंदोलन के सबसे बड़े परिणाम हैं।''[1]

सही अर्थों में देखा जाय तो निराला की रचनाओं में ये सभी विचार सर्वत्र विद्यमान हैं। निराला ने भारतीय जीवन की वास्तविकता को अत्यंत ही गहराई से देखा था तथा उसे महसूस किया था। इन्होंने समाज में होने वाले निरंतर परिवर्तन को अपने काव्य–निर्माण में स्थान दिया। यही कारण है कि उनकी वाणी में ओज और मार्मिकता की झलक दिखाई देती है। अंग्रेजों ने देश को केवल आर्थिक और राजनैतिक दमन–चक्र में ही नहीं पीसा, बल्कि धर्म एवं संस्कृति के परिवेश को भी नष्ट करना चाहा। निराला बंगाल के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक नवजागरण से प्रभावित थे। इस समय समाज में स्त्रियों को बड़ी ही हेय दृष्टि से देखा जाता था, उनकी स्थिति अत्यंत ही सोचनीय थी।

निराला के रचनाकाल का समय स्वाधीनता आंदोलन का समय था। इस समय पूरे भारत में जागरण का दौर चल रहा था। संघर्ष की इन्हीं विषम परिस्थितियों के बीच निराला जी की साहित्यिक पृष्ठभूमि हो रही थी। स्वातंत्र्य चेतना की लहर पूरे देश में दौड़ रही थी।

निराला के संवेदनशील मानस पर सामाजिक और धार्मिक अंधविश्वासों की जड़ता और क्रूरता का प्रभाव पड़ा, इन्होंने विदेशी साम्राज्यवाद और रूढ़िवादिता के विरूद्ध नवीन चेतना जागृत करने के लिए अपने साहित्य को माध्यम बनाया। देश में जनजागरण की जो नींव उन्नीसवीं सदी से पड़नी शुरू हुई उसके कारण लोगों के भीतर नवचेतना की भावना जागने लगी थी। नवजागरण से सबसे अधिक प्रभावित निराला जी के विषय में डॉ0 रामविलास शर्मा जी लिखते हैं– ^''निराला जी का साहित्यिक जीवन उस युग में बीता, जिसमें देश के राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन ने अपने उतार–चढ़ाव के सबसे महत्त्वपूर्ण दिन देखे। यह स्वाधीनता आंदोलन बीसवीं सदी की नवीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में विकसित हुआ जिसकी विशेषता थी–रूस की साम्राज्यवादी क्रांति विश्व साम्राज्यवादी घेरे का टूटना।''[2]

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

सामंतवाद के विरूद्ध गद्य साहित्य में जिस प्रगतिवादी विचारधारा का सूत्रपात प्रेमचंद ने किया था, उसी वैचारिक भूमि को निराला गद्य साहित्य से लाते हैं। नये पत्ते, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला इत्यादि रचनाओं में निराला जी ने साहित्यिक, सामाजिक एवं राजनीतिक भूमिका का चित्रण हास्य–व्यंग्य के माध्यम से किया है। निराला के आविर्भाव के समय स्वछंदतावादी काव्य का भी स्फुरण हो रहा था। निराला का व्यक्तित्व ही सर्वाधिक मुक्ति चेतना से परिपूर्ण था।

नवजागरण के क्रम में अतीत की पृष्ठभूमि पर नये–नये विचारों के उगने से साहित्य भूमि में जो नयी हरीतिमा दिखलायी पड़ती है उससे निराला साहित्य का अधिकांश भाग आप्लावित है। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत–भारती' को लें तो इसमें गर्भ में जो भावनायें धूम मचा रही हैं उनका कहीं–न–कहीं, निराला के विचार मिलते हैं। राष्ट्रीयता की जो भावना उभरकर सामने आती हैं वह इस युग के माँग का प्रतिफल है। गुप्त जी राष्ट्रीय स्वाभिमान की सोची हुई भावना को अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास की लोरी गा–गाकर मानव–मन को जगाते हैं। देशवासियों के मन में नयी–नयी प्रेरणायें करते हैं–

ge d©u F¨] D;k g¨ x;s v©j D;k g¨x vHkh
vkv¨ fopkj vkt feYkdj ;s leL;k,¡ lÒhA[3]

पराधीन देश की समस्याओं पर सबके साथ बैठकर विचार करने की अद्‌भुत चाह उसके मन में है। वही निराला प्राचीनकाल से सोए हुए भारतवासियों को अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति जागृत किया–

tkx¨ fQj ,d ckj!
l;kj txkrs g, gkj lc rkj rEgs
v#.k i[k r#.k&fdj.k
[kMh [k¨Ykrh g }kj&
tkx¨ fQj ,d ckjA[4]

देश व्यापी अंधकार में जड़वत् हुए देश के अन्तर्मन को देखकर कवि के भीतर आंदोलन छिड़ जाता है। यही अन्तर्द्वद्व उन्हें दुःख और विक्षोभ से उबारकर संकल्प की दृढ़ जमीन पर खड़ा कर देता है। यही भाव दूसरे मूल रूप में निहित है। इसमें प्रसाद की रचना 'बीती विभावरी जाग री' से बहुत साम्य दिखाई देता है, इसमें नायिका को जगाने का उपक्रम है। निराला जागरण को फिर से फूटने का आह्वान करते हुए कहते हैं–

QV¨ fQj] fQj ls r|e]
#)&d.B lke&xku!
nj g¨ nfjr] t¨ tx
tkxk r".kkrs KkuA[5]

कवि को पूर्ण आशा ही नहीं, बल्कि विश्वास है कि देश पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त होगा, उमंग और आह्लाद से उसका रोम–रोम पुलकित हो जायेगा। अतीत के गौरव यूँ ही इतिहास की नयी झाँकी पुनः देखने को मिल सकेगी।

कवि मानवतावादी जीवन मूल्यों की स्थापना के लिए मानव को मानव से भिन्न न मानकर उनकी श्रेष्ठता का गान करता है। मानववादी जीवन मूल्यों की रक्षा का यही प्रयास कवि के जागरण का लक्ष्य है। इसे कवि ने 'प्रेयसी' कविता में व्यक्त किया है–

fdUrq gk;]
:f<] /ke d fopkj
dYk] eku] 'khYk] Kku
mPp&Ákphj T;¨ ?¨j t¨ F¨ e>s
?¨j Y¨rs ckj&ckj[6]

वास्तव में मानवतावादी जीवन मूल्यों के लिए निराला ने जागरण का आह्वान किया था। निराला की दृष्टि दूरगामी एवं प्रसारकामी थे, वे जहाँ मानवता की रक्षा के लिए–

Òj nsrs g¨
ckj&ckj fÁ;] d#.kk dh fdj.k¨a ls
{kC/k ân; d¨ iYkfdr dj nsrs g¨A
rse fdj.k¨a ls vJq iN Y¨rs g¨
uo ÁÒko thou esa Òj nsrs g¨A[7]

बीसवीं सदी की परिवर्तित विचारधारा तत्कालीन साहित्य में पूर्णता पल्लवित हुई। निराला के जीवन का मुख्य उद्देश्य यही था कि मानवता की स्थापना हो। एक मानव के मन में दूसरे के प्रति दर्द एवं करुणा की भावना सदैव व्याप्त रहे, परन्तु उस समय का समय दूसरे विपरीत था।

निराला ने हमेशा गरीब, दीन, कृषक, भिक्षुक को अपनी कविता का विषय बनाया। 'दान' शीर्षक कविता में जब कवि देखता है कि मानव स्वभाव कितना बदल गया है–

nsk[kk Òh ugÈ m/kj fQjdj
ftl v¨j jgk og fÒ{k brj]
fpYYkk;k fd;k nj nkuo
c¨Ykk esa ^^/kU;] J"B ekuo**A[8]

'बेला' में कवि ने शोषण के दुष्चक्रों पर प्रकाश डाला है। 'बादल राग' कविता में साम्राज्यवादियों और पूँजीपतियों को थर–थर काँपने के लिए विवश कर दिया है–

,s lekV!
,s vVV ij NV VV iMus okY¨&mUekn
Jh fc[kjs] e[k Qs dYkh ds fu"Bj ihMu
fNé&fÒé dj i"k&i"i&ikni&ou&miou]
ots&?kkr ls ,s Áp.MA[9]

निराला ने संकीर्ण तथा रूढ़िबद्ध जीवन में परिवर्तन तथा गति लाने के लिए विप्लवकारी बादल के रूप को प्रस्तुत किया।

नवजागरण का सबसे गहरा प्रभाव निराला की नारियों को देखने की दृष्टि में परिलक्षित होता है। इसके साक्ष्य में उनकी एक नहीं अनेक रचनाएँ पड़ी हुई हैं। इन्होंने नारी को माता के रूप में चित्रित कर उसे दया एवं क्षमा की साकार मूर्ति के रूप में चित्रित किया। डॉ0 दूधनाथ सिंह ने निराला के मातृवंदना स्वरूप की प्रशंसा करते हुए लिखा है– ''निराला की 'भारति जय विजय करें' गीत को राष्ट्रगान बनाने का स्पर्शगीत प्रतीत होता है।''[10] इन्होंने नारी को सम्माननीय एवं पूजनीय दृष्टि से देखा। नारी को व्यक्ति रूपा देवी के रूप में सम्मान दिया। विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को आदिशक्ति के रूप में स्थापित कर देश से अज्ञान को दूर करने की वंदना की–

oj ns] oh.kkokfnfu oj ns!
fÁ; Lorsa=&jo vsr&esa= uo
Òkjr esa Òj nsA[11]

निराला का नारी जाति के उत्थान के लिए संघर्ष बड़ा ही महत्त्वपूर्ण रहा। इनकी लेखनी समाज द्वारा उपेक्षित, तिरस्कृत तथा विधवा नारी की एकाकी पीड़ामय जीवन का मित्र उपस्थित करती है।

निराला ने प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताओं को तोड़ने की बात की। इन्होंने धर्म एवं समाज की रूढ़ियों पर सशक्त प्रहार किये। जन्म कुण्डलियों पर भाग्य अंक पढ़ने की प्रवृत्ति का मजाक उड़ाते हुए उन्होंने लिखा– कर्म को महत्त्व प्रदान किया है

Loj ls g¨rk gS lUnhiu]
curk gS fctYkh dk thou]

c>&c>dj g¨rk g pru
re l t l jt] lonuA[12]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दी नवजागरण के संदर्भ में निराला जी के अवदान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनकी समग्र काल चेतना का मुख्य उद्देश्य सामाजिक स्थिति में बदलाव, राष्ट्र प्रेम और विश्व बंधुत्व की अभिव्यक्ति है। उनके सभी रचनाओं में विविध स्तर पर इन भावों का समावेश हुआ है। अपने युग एवं समाज की वास्तविकता के प्रति वे कभी अचेत नहीं रहे। उन्होंने जनता के मनोभावों एवं युगीन चेतना को सम्यक् रूप से पहचाना तथा उनके प्रति अपने कवि–कर्म का निर्वाह भी किया। निराला जी की रचनाओं में हिन्दी नवजागरण की प्रवृत्तियाँ, चिंताओं आदि का पूर्णरूपेण चित्रण हुआ है।

lUnHk %

1. सिंह, रामधारी, पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ0 6
2. शर्मा, रामविलास, निराला की साहित्य साधना, खण्ड 2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ0 171
3. गुप्त, मैथिलीशरण, भारत भारती (अतीत खण्ड), विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2002, पृ0 11
4. नवल, नंदकिशोर (सं), निराला रचनावली (खण्ड 1), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1983, पृ0 136
5. वहीं, पृ0 253
6. वहीं, पृ0 309
7. वहीं, पृ0 100
8. वहीं, पृ0 291
9. वहीं, पृ0 117
10. सिंह, दूधनाथ, निराला आत्महंता आस्था, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005, पृ0 84
11. वहीं, पृ0 210
12. वहीं, खण्ड 2, पृ0 208

***

;tqoin dk lekt&n'ku

ikjxr [ky[kk*

संसार में हम देखते हैं, कि मनुष्य ही नहीं, अनेक पशु–पक्षी भी समूह बना कर रहते हैं। गायों के गोष्ठ में अनेक गौएँ एक साथ रहती हैं, तो भेड़ों तथा हाथियों के झुण्ड भी प्रायः दिखाई देते हैं। कौवे, कबूतर तथा गिद्धों को भी समूहों में देखा जाता है। मनुष्य स्वभाव से समूह में रहने वाला प्राणी है। वह यथा सम्भव गृह, परिवार तथा समाज में रहना पसन्द करता है। व्यक्ति को अपने विकास के लिए जहाँ उसे कुछ बातों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए वहां यह भी आवश्यक है कि समाज में रहते समय वह सामूहिक नियमों का पालन करे तथा समष्टिगत अनुशासन का ध्यान रखे। व्यक्ति और समाज यदि अपनी अपनी सीमा में रहकर अपना हित साधन करता रहेगा तो वहां कभी संघर्ष तथा शोषण की नौबत नहीं आयेगी। वेद की शिक्षा सामंजस्य की है, विग्रह की नहीं।

यजुर्वेद की धारणा है कि समाज में विविध रुचियों, प्रवृत्तियों, साधनों एवं क्षमताओं वाले लोग होते हैं। सबके लिए एक से कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का विधान नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से समाज के सुचारू सञ्चालन के लिए चार आश्रमों तथा चार वर्णो का निर्धारण किया गया था। वैयक्तिक जीवन को पूर्णता और समग्रता की ओर ले जाने के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों का विधान किया गया, जब कि सभी लोग अपने सामाजिक दायित्वों का भलीभांति निर्वाह करें, उस के लिए गुण, कर्म, स्वभाव तथा योग्यता के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र–इन चार वर्णों की स्थापना हुई। ''यजुर्वेद के 31 वें पुरूषाध्याय में चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।''[1] किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि यह वर्ण–विधान जन्म पर आधारित है यह विशुद्ध श्रम के विभाजन की व्यवस्था है। जो मनुष्य अपनी शक्ति, योग्यता तथा बुद्धि के अनुसार जैसा कार्य करना चाहे उसे उसी कार्य को करने की सुविधा प्रदान करना जरूरी है। इसे एक अर्थ ईश्वरीय व्यवस्था इसलिए कहा जा सकता है, क्योंकि सर्वज्ञ परमात्मा अपने सहज ज्ञान से यह जानता है कि अपनी–अपनी शक्तियों और सामर्थ्य, रूचियों तथा साधनों के कारण मनुष्य भिन्न–भिन्न कार्य व्यवसायों के कारण मनुष्य व्यवसायों को चुनता है। यही वर्ण–विभाजन के मूल में मनोवैज्ञानिक कारण है। पुरूष सूक्त के ग्यारहवें मन्त्र ने यह स्पष्ट कर दिया है। ''ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।''[2] कि समाज का मुखिया ब्राह्मण है जो विद्या, ज्ञान, तप, तितीक्षा आदि गुणों से सम्पन्न होने के कारण समाज के सभी लोगों का नेतृत्व और मार्गदर्शन करने की क्षमता रखता है। ब्राह्मण का पद और गौरव किसी व्यक्ति को इसलिए नहीं मिल जाता कि उसके माता–पिता ब्राह्मण थे, किन्तु उस की योग्यता, नेतृत्व क्षमता तथा सामाजिक हित के लिए उसके समर्पण को देखकर ही उसे ''ब्राह्मण'' का पद दिया जाता है। यही स्थिति क्षत्रिय की है। मात्र सूर्यवंशी चन्द्रवंशी या यदुवंशी होने से ही कोई क्षत्रिय कहलाने का अधिकारी नहीं होता, उसे इसके लिए अपने बल, पराक्रम तथा साहस आदि गुणों का परिचय देना होगा। दीन–दुखियों की अत्याचारियों से रक्षा करना तथा समय आने पर देश और समाज की सुरक्षा के लिए युद्ध में शौर्य का प्रदर्शन क्षत्रिय के लिए आवश्यक माना गया है। राम, कृष्ण, प्रताप, शिवाजी आदि क्षत्रियों के लिए आदर्श हैं।

समाज की आर्थिक उन्नति तथा लौकिक प्रगति के आदर्श को प्राप्त करना वैश्य का प्रमुख कर्त्तव्य है। शास्त्रों ने सामान्यतया कृषि और गोरक्षा को वैश्यों का कर्म बताया है, किन्तु व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने

*शोधच्छात्र, संस्कृतविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005

से पता चलता है कि किसी समाज या राष्ट्र को औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न बनाना, कल कारखानों की वृद्धि करना, वाणिज्य व्यवसाय को समुन्नत करना और जन सामान्य को आर्थिक कठिनाइयों तथा दरिद्रता से मुक्त कराना वैश्य वर्ग का दायित्व तथा कर्त्तव्य है। वैदिक वर्ण व्यवस्था में जिस शूद्र वर्ण का उल्लेख हुआ है, वह समाज का कोई उपेक्षित, तिरस्कृत अथवा शोषित वर्ग नहीं है। वह स्वयं को सेवा के लिए समर्पित करता है। यह तो सम्भव है कि विद्या, ज्ञान, बुद्धि तथा योग्यताओं में वह अन्यों से कम हो परन्तु इस का कारण किसी कुल विशेष में उस का जन्म लेना नहीं है। सम्भव है परिस्थितिवश वह उच्च शिक्षा नहीं ले सका तथापि उस में श्रम तथा सेवा का भाव बढ़ा चढ़ा है और मेहनत तथा सेवा इन दो गुणों के कारण वह समाज को ऐसा कुछ दे जाता है जो कथित उच्च–वर्ण के लोगों के लिए सम्भव नहीं होता। इसलिए शास्त्रकारों ने लिखा है कि ब्राह्मण का सम्मान उस की विद्या और तप से होता है, क्षत्रिय को आदर उसकी वीरता तथा पराक्रम के कारण मिलता है, जल कि वैभव सम्पन्न और उदारमान वैश्य ही समाज में सम्मान पाता है। जहाँ तक शूद्र का सवाल है उस की सेवा तथा उस की आयु उसे समाज में आदर देते हैं। पुरातन इतिहासों में वयोवृद्ध शूद्रों का सम्मान सर्वत्र वर्णित है।

यजुर्वेद कथित यह वर्ण–व्यवस्था समाज के सम्मुख उपस्थित कुछ प्रश्नों और चुनौतियों का सशक्त उत्तर एवं समाधान है। अज्ञान, अन्याय और अभाव–तीन ऐसी स्थितियाँ हैं जो इन्सान को व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर दुर्बल बनाती हैं। इन तीन अभिशापों से निज़ात पाने के लिए प्रथम तीन वर्णों के लोग प्रयत्न और पुरुषार्थ करते हैं। विद्या और ज्ञान का प्रसार कर ब्राह्मण लोग समाज के सभी घटकों को प्रतिभा सम्पन्न बनाते हैं, उनमें कर्त्तव्य–भावना जागृत करते हैं तथा अपने देश को उत्तरदायी नागरिक प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से हमारी संस्कृति में विद्या–प्रदाता ब्राह्मण का सम्मान सर्वोपरि माना जाता है।

सामान्यतया मनुष्य में दया, सदाशयता, करुणा तथा दुर्बलों को संरक्षण देने की भावना रहती है। समाज में ऐसे लोग भी हैं जो उपर्युक्त गुणों का विशेष रूप से संचय करते हैं और दुर्बलों तथा अभाव ग्रस्त लोगों को अत्याचारियों एवं शोषकों से बचाते है। अवसर आने पर ये लोग अपने राष्ट्र की सुरक्षा के लिए सेना का संचालन कर रणक्षेत्र में शत्रुओं को परास्त करते हैं। क्षतों (घाव) से बचाने वाला क्षत्रिय कहलाता है। सच्चे क्षत्रिय में शासन करने के भी गुण होते हैं। अन्याय और अत्याचार से समाज की रक्षा करने वालों को ही 'क्षत्रिय' कहा गया है।

आर्थिक अभावों तथा मनुष्यों की न्यूनतम ज़रूरतों को पूरा न कर पाने की स्थिति आने पर समाज का वैश्य वर्ग अपनी योग्यता तथा मेहनत से समाज को आर्थिक अवस्था को बेहतर बनाता है। देश को समृद्ध बनाता है तथा हमारी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन यही वर्ग उपलब्ध ा कराता है। कह सकते हैं कि समाज के अभाव की स्थिति को दूर करना वैश्य का कार्य है। अंततः शारीरिक श्रम और सेवा भावना द्वारा समाज की सर्वतोमुखी उन्नति में योग देना 'शूद्र' का कर्त्तव्य है। यह तो सत्य है कि कालान्तर में गुण, कर्म पर आश्रित यह व्यवस्था जन्मना जाति के रूप में बदल गई जिसके परिणाम स्वरूप समाज में विषमता, शोषण तथा स्वार्थ की प्रवृत्तियों को बल मिला। मूलतः यजुर्वेद में वर्णित वर्ण–व्यवस्था एक निर्दोष सामाजिक विधान है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति का सामंजस्य, इन दोनों को उन्नति ही राष्ट्र को प्रगतिगामी बनाती है। जैसा कि इस वेद में मन्त्र आया है–

;= cã p {k=p lE;pk pjr% lg%A
r ykd i.;i iK"k ;= nok% lgkfXuukAA[3]

जहाँ विद्या व्यसनी, बौद्धिक शक्ति के धनी ब्राह्मणों तथा राष्ट्र–रक्षा में तत्पर शूरवीर क्षत्रियों मे संतुलन तथा सौमनस्य रहता है, वहाँ पुण्य तथा प्रज्ञा (बुद्धि) का वातावरण बनता है। उस समाज में विद्वान् लोग अग्नि के समान तेजस्वी पुरुषों के साथ निवास करते हैं।

lekt esa ukjh dk lEeku &

वेदों में नारी के सम्मान की सर्वत्र चर्चा मिलती है। उसे यज्ञ में ब्रह्मा के पद की अधिकारिणी माना गया है। ^^L=hfg cãk cHkfoFk**[4] यजुर्वेद में नारी को इड़ा, रन्ते, हव्ये, काम्ये, ज्योति, अदिति, सरस्वती आदि विशेषणों से सम्बोधित कर उसे पूज्या तथा सम्मान का अधिकारी बताया है। राष्ट्रगीत के नाम से प्रसिद्ध यजुर्वेद के बाईसवें अध्याय के बाईसवें मन्त्र में राष्ट्र–निर्माण में नारी के योगदान की कामना की गई है। अठारहवें अध्याय के 38 से 43 वें मन्त्र पर्यन्त का प्रकरण विवाह संस्कार में विनियुक्त हुआ है। वेदों में ऊषा, श्री लक्ष्मी तथा सरस्वती से सम्बन्धित जो मन्त्र आते हैं वे नारी के औदार्य, गरिमा तथा उसकी चारु संस्कृति का ही वर्णन करते है।

iwoZtksa o o)ksa dk lEeku &

वैदिक समाज–व्यवस्था में गुरूजनों वृद्धजनों तथा परिवार के मुखियाओं के सम्मान को वरीयता प्राप्त थी। पूर्वजों और बड़ों का सम्मान वैदिक संस्कृति का मूल स्वर था।

यजुर्वेद में घर और परिवार के बड़ों, बुजुर्गो को स्व–निवास में आमन्त्रित करने तथा भोजनादि के द्वारा उन का सत्कार करने का उल्लेख मिलता है। यज्ञादि के अवसर पर वानप्रस्थ आश्रम धारण कर घर से दूर रहने वाले पूर्वजों को सादर आमन्त्रित किया जाता था। यज्ञ के अवसर पर आकर वे उपस्थित समुदाय को अपने उपदेशों से सन्तुष्ट करते थे। पूर्वजों और पितरों के प्रति किये जाने वाले कर्त्तव्यों का विधान यजुर्वेद में विस्तार से वर्णित हुआ है।

वस्तुतः वैदिक समाज–व्यवस्था सभी वर्गो और वर्णों के सह अस्तित्व तथा सबको साथ लेकर चलने का आदर्श प्रस्तुत करती है। परस्पर के वैर, वैमनस्य तथा दुर्भावना के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। यजुर्वेद का निम्न मन्त्र इसी वर्ण–मैत्री तथा पारस्परिक सद्भावना को प्रकट करता है– रूचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रूचं राजसु नस्कृधि रूचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रूचारूचम्।।[5]

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र में अपने विचार प्रकट करते हुए स्पष्ट किया है कि हमारा चारों वर्णों से प्रेम का भाव रहना उचित है। वर्ण–व्यवस्था प्रत्येक मनुष्य के इच्छित कार्य को अनुकूलता को देख कर की गई। इस में ऊँच–नीच का भाव कथमपि नहीं है।

lanHkZ %

1. यजुर्वेद के 31वें पुरूषाध्याय में चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।
2. यजुर्वेद के पुरूषसूक्त के 31 अध्याय का 11वाँ मन्त्र
3. ऋग् 8/33/19
4. यजु0 19/58 व 69 वाँ मन्त्र
5. यजु0 18/48

***

'k[ky fgn ekykuk egen glu vkj efLye uokRFkku

MkO lehj dqekj ikBd*

भारतीय नवजागरण में मुस्लिम समाज के भीतर जागृति की चर्चा सर सैयद अहमद खाँ (1817–1898) से शुरू होती है और अलीगढ़ तहरीक के जरिये उनकी आधुनिकता, वैज्ञानिकता व ब्रिटिश हुकूमत की पक्षधरता पर सार्थक–निरर्थक बहसें होती हैं। यह चर्चा सर सैयद को केन्द्र में रखकर होती है और अलीगढ़ तहरीक को ही भारतीय मुस्लिम चेतना का मिथ मान लिया जाता है, जबकि भारतीय समाज में मुस्लिम नवोत्थान की दृष्टि से शाह वलीउल्लाह देहलवी (1702–1762) पहले महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। शाह वलीउल्लाह देहलवी का महत्व इसलिये भी है कि देवबंद तहरीक और अलीगढ़ तहरीक दोनों की जड़ें शाह वलीउल्लाह की तहरीक में हैं। शाह वलीउल्लाह की विचार चेतना से तालीमी तरक्की और कौमी खुशहाली का सवाल अलीगढ़ ने चुना तो राष्ट्रीय जागरण व विद्रोह की क्रांतिकारी चेतना का विकास देवबंद तहरीक और जमालुद्दीन अफगानी (1838–1897) ने किया। 19वीं सदी के नवजागरण और अंग्रेजी राज के संदर्भ में सर सैयद अहमद खाँ की विचार चेतना के समानान्तर देवबंदी उलेमा मौलाना मोहममद कासिम नानौतवी, मौलाना रशीद अहमद गंगोही, मौलाना महमूद हसन, उबैदुल्लाह सिंधी तथा मौलाना हुसैन अहमद मदनी की शानदार ताकतवर राष्ट्रवादी परम्परा भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का गौरवशाली अध्याय है। दुःखद यह है कि भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण की वह शानदान ताकतवर परम्परा आज तक उपेक्षित है और विमर्श–वंचित भी। इस परम्परा पर विचार करना इसलिए आवश्यक है कि सर सैयद अहमद खाँ के बहाने पृथक मुस्लिम अस्मिता की जो राजनीतिक निर्मिति बनी या बनाई गई उसका मुकम्मल प्रतिपक्ष देवबंद की बौद्धिक परम्परा में निहित था, जिसका विकास शैखुल हिंद मौलाना महमूद हसन (1851–1920) के विचार चिंतन में दिखलाई पड़ता है।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम में मुस्लिम मनः स्थिति और मुस्लिम नवोत्थान पर विचार करते हुए सर सैयद अहमद खाँ के मुकाबले देवबंद से सम्बद्ध स्वाधीनतचेता उलेमा की परम्परा पर जोर देना और उस परम्परा की कड़ियों को शैखुल हिंद मौलाना महमूद हसन के रूप में भारतीय राष्ट्रीयता की संघर्षयात्रा के रूप में रेखांकित करना सर सैयद के महत्व को कम आंकना नहीं है, बल्कि शेख जमालुद्दीन अफगानी हाजी इमदादुल्लाह मुहाजिर मक्की (1817–1899); मौलाना अब्दुल गनी (1819–1878) मौलाना मोहम्मद याकूब (1831–1884) जैसी अंग्रेजी राज विरोधी महत्वपूर्ण हस्तियों पर नये सिरे से विचार की अपील करना है। विचार संघर्ष की इस परम्परा ने सहारनपुर के एक छोटे से कस्बे देवबंद में दारूल उलूम की नींव रखी। दारूल उलूम की स्थापन की पृष्ठभूमि में 1857 की राज्यक्रांति की गूंज सुनी जा सकती है। याद करिये 1857 के विद्रोह की असफलता के बाद तीव्र औपनिवेशिक दमन के दौर में *असबाबे बगावत–ए–हिंद* लिखने वाले सर सैयद इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे, कि ''मैं उनमें से नहीं हूँ जो मानते हैं कि राजनीतिक मामलों में दिलस्पी लेने से मुसलमानों का भला होगा क्योंकि मेरी सम्मति में उन्हें जिस चीज की जरूरत है, वह शिक्षा है।''[1] वहीं, बदली सियासी दशा से चिंतित पारम्परिक उलेमा के भीतर क्रांति की ज्वाला धधकी और 31 मई 1866 जुमेरात के दिन मस्जिद छत्ता के खुले आंगन में अनार के पेड़ के साये में साधारण तरीके से दारूल उलूम देवबंद की स्थापना हुई।[2] हजरत मौलाना मुल्ला महमूद देवबंदी

*सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी0ए0वी0पी0जी0 कॉलेज, बी0एच0यू0, वाराणसी।

को पहला मुदर्रिस बनाया गया और महमूद हसन नामक बच्चा इस मदरसे का पहला विद्यार्थी बना जो बाद में शैखुल हिंद के नाम से पूरी दुनिया में जाना गया। यह एक छोटा सा मदरसा था, लेकिन भारत में दीनी तालीम और दीनी दावत के एक नये दौर की शुरूआत थी। यह नया दौर था ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध का राष्ट्रीयता के विकास का, जनभागीदारी का और हिन्दू–मुस्लिम सह अस्तित्व का, जिसके प्रस्थान–प्रस्तावक मौलाना मोहम्मद कासिम नानौतवी हैं। दारूल उलूम की स्थापना का घोषित उद्देश्य इस्लामी सिद्धान्त व दर्शन का अध्ययन–अध्यापन था, लेकिन यह भी सच है कि इसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध एक केन्द्र के रूप में स्थापित किया गया था। यह बात स्पष्ट तब हुई जब इस केन्द्र से सम्बद्ध शैखुल हिंद मौलाना महमूद हसन और उनके क्रांतिकारी छात्रों ने रेशमी रूमाल तहरीक के रूप में अपनी विस्तृत राजनीतिक योजना प्रस्तुत की। अंग्रेजी राज के खिलाफ मौलाना कासिम नानौतवी तथा मौलाना रशीद अहमद गंगोही ने सशस्त्र संघर्ष में भाग लिया था। 1857 के विद्रोह में पश्चिमी उत्तर प्रदेश की शामली, थानाभवन और कैराना की महत्वपूर्ण लड़ाईयों में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी इसलिये धार्मिक शिक्षा के साथ–साथ इनके सियासी इरादे भी स्पष्ट थे। सन् 1889 में शैखुल हिंद के सदर मुदर्रिस बनने के बाद इस राजनीतिक चेतना का और विकास हुआ। यह अकारण नहीं है, कि देवबंद ने 1885 में कांग्रेस की स्थापना का खुला समर्थन किया। यह बात ध्यान देने की है, कि देवबंद की परम्परा से सम्बद्ध उलेमा के भीतर यह स्वप्न एकदम साफ था कि भारत की स्वतंत्रता हिन्दू–मुस्लिम एकता के बिना नहीं प्राप्त की जा सकती। इसलिए जब 1888 में सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों को कांग्रेस से न जुड़ने की सलाह दी और अपने समर्थन के लिए देवबंद से अपील की तो देवबंद मुसलमानों को कांग्रेस से न जुड़ने की सलाह दी और अपने समर्थन के लिए देवबंद से अपील की तो देवबंद ने न सिर्फ सर सैयद के मांगे ठुकरा दी, न सिर्फ उनके दृष्टिकोण की आलोचना की बल्कि उनके अभियान की निंदा करते हुए मोहम्मडन एंग्लो ओरियेंटल डिफेंस एसोसियेशन और मोहम्मडन ओरियेंटल कॉलेज के प्राचार्य थियोडोर बेक के खिलाफ धार्मिक फतवा भी दिया।

शैखुल हिंद मौलाना महमूद हसन भारतीय स्वाधीनता संग्राम की दुर्लभ कड़ी हैं, जिनके भीतर सर सैयद की विचार चेतना का तीखा विरोध तथा साझी राष्ट्रीयता की संदर्भ चेतना के विविध पक्ष हैं। वे मुस्लिम मनः स्थिति की राजनीतिक निर्मिति के मुकम्मल प्रतीक हैं। भारतीय इतिहास पर काम करने वाले अंग्रेजीदा इतिहासकारों ने माना है कि अंग्रेजी शिक्षा के आगमन के कारण भारत में राष्ट्रवाद का विकास हुआ। जबकि प्रो0 ए0 आर0 देसाई की स्पष्ट मान्यता है, कि ''भारतीय राष्ट्रवाद आधुनिक शिक्षा का परिणाम नहीं है। अगर भारतीय बुर्जुआ को संस्कृत में लिखे गये वेदों या अरबी में लिखे धर्मशास्त्रों की ही शिक्षा मिली रहती दूसरी सारी विचारधाराओं से अलग तो भी उन्हें वही अपने संघर्ष के सिद्धान्त और नारे मिल जाते।''[3] प्रो0 ए0 आर देसाई की बात का श्रेष्ठ उदाहरण शेखल हिन्द मैलाना महमूद हसन का जीवन–दर्शन और विचार चिंतन हैं। शैखुल हिन्द का जन्म 1951 उत्तर प्रदेश बरेली में हुआ। 1867 में वे दारूल उलूम में प्रवेश लेने वाले पहले छात्र थे। सन् 1874 में शिक्षा पूरी कर मुदर्रिस नियुक्त हुए तथा 1889 में सदर मुदर्रिस बने और उनके प्रभाव से देवबंद के छात्रों में नयी राजनीतिक क्रांतिकारी चेतना का विकास हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई और अपने प्रारंभिक वर्षों में कांग्रेस निवेदन के अर्जी दावे करने वाले राजनीतिक संकल्प भर कर पायी थी, लेकिन 1878 में शैखुल हिन्द ने समरत–उल–तर्बियत नामक संस्था स्थापित की, जिसका उद्देश्य छात्रों में राजनीतिक जागरूकता और विद्रोह चेतना को विस्तार देना था और इस प्रकार दारूल उलूम के छात्र एवं शिक्षक अंग्रेजों को भारत से निकालना अपनी धार्मिक और मौलिक जिम्मेदारी समझते थे। इस संस्था ने इस्लामी धर्म–दर्शन के प्रति अपनी आस्था के साथ दूसरे कौम के साथ एक साझी संस्कृति का आदर्श प्रस्तुत किया। खान अब्दुल गफ्फार खान ने अपनी आत्मकथा मेरा जीवन, मेरा संघर्ष में *नया मैदान नए विचार* शीर्षक अध्याय में लिखा है कि ''उस समय कौम मुल्लाओं और बाबा लोगों के जाल में गिरफ्तार थी और उनके प्रभाव के कारण अन्य किसी का प्रभाव स्वीकार नहीं करती थी। कौमें खाली जादू–मंत्रों से नहीं जागृत होती है। कौमों में चेतना और जागृति लाने के लिए ऐसे व्यक्तियों की

आवश्यकता है जो निःस्वार्थी हों, दयालु हों, ईमानदार हों और ईश्वर के लिए अपनी कौम की सेवा करने को तैयार हों।''[4] इस संदर्भ में खान अब्दुल गफ्फार खान ने आगे शैखुल हिन्द मौलाना महमूद हसन के महत्व पर भी विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि ''हमारी अधिकतर विचार–विमर्श मौलाना महमूदुल हसन साहब और मौलवी उबैदुल्लाह सिंधी के साथ होती थी। हम जब कभी देवबंद जाते तो देवबंद का सीधा टिकट न लेते। एक स्टेशन आगे या पीछे उतरते थे, फिर वहाँ से पैदल या अन्य साधन से छिपकर देवबंद जाते ताकि अंग्रेजों को हमारी जानकारी न हो सके।[5] यह अन्तर है अलीगढ़ की परम्परा और देवबंद की विचार चेतना का एक अंग्रेजी राज को प्रिय थी तो दूसरी आंखों में खटकती हुई। अंग्रेजी राज विरोध की परम्परा को साधे हुए शैखुल हिन्द ने अपने हम मजहब भाइयों से कहा– ''इस्लाम सिर्फ दबादत का नाम नहीं, बल्कि वह तमाम मजहबी तमद्दुनी इखलाकी, सियासी जरूरतों के मुताल्लिक एक कामिल व मुकम्मल निजाम रखता है। जो लोग भी मौजूदा जमाने की कशमकश में हिस्सा लेने के किनाराकशी करते हैं और सिर्फ हुजरों में बैठे रहने को इस्लामी फरायज की अदायगी के लिए काफी समझते हैं वह इस्लाम के पाक व साफ दामन पर बदनुमा धब्बा लगाते हैं।[6] जाहिर है कि मौजूदा जमाने की कशमकश में हिस्सा लेने से किनाराकशी करने वालों पर व्यंग्य करने वाले शैखुल हिन्द मौजूदा जमाने की कशमकश के भागीदारी थे और उसे और अधिक उग्र बनाने की योजना के साथ रेखमी रूमाल तहरीक के सूत्रधार बने। इस पृष्ठभूमि में कुछ उलेमा थे, खासकर देवबंद के उनमे ंप्रमुख थे– शैखुल हिन्द मौलाना महमूद हसन और उनके शिष्य उबैदुल्लाह सिन्धी (1871–1941)। ये दोनों रेशमी रूमाल षड्यंत्र के मुख्ि किरदार थे। अपने अनुयायियों में उपनिवेशवाद विरोधी चेतना जगाने में इन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और ब्रिटिश शासन के खिलाफ आन्दोलन खड़ा करने के लिए न सिर्फ दूर–दूर तक का सफर किया, बल्कि हिन्दुस्तान के बाहर व्यापक क्रांतिकारी मोर्चे का निर्माण भी किया। मौलाना महमूद हसन के नेतृत्व में दारूल उलूम देवबंद के विद्यार्थी कुछ समय के लिए पढ़ाई छोड़कर निकल खड़े हुए उन्होंने इस्लाम के उसूलों का हवाला देकर मुसलमानों को राजनीतिक मामलों में हिन्दुओं के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की बात की। ''प्रथम विश्वयुद्ध के आसपास जब आटोमन साम्राज्य के खिलाफ ईसाई प्रान्तों ने बालकन में युद्ध छेड़ दिया और तुर्की ने ब्रिटेन व मित्र देशों के खिलाफ जर्मनी के साथ दिया तो भारतीय मुसलमान दुविधाग्रस्त थे।''[7] एक ओर तो प्रत्येक व्यक्ति को तुर्की से गहरा लगाव था, दूसरी ओर अलीगढ़ आन्दोलन, जो सर सैयद ने चलाया था, ने ब्रिटेन के प्रति वफादारी का पाठ पढ़ाकर उन्हें सरकार का पक्का समर्थक, बल्कि दास बना दिया था– ऐसे में रेशमी रूमाल तहरीक से सम्बद्ध राजनीतिक सिद्धान्तकारों ने अफगानिस्तान के काबुल में एक अस्थायी सरकार बनाई, जिसके अध्यक्ष राजा महेन्द्र प्रताप प्रधानमंत्री बरकतउल्ला भोपाली, रक्षामंत्री शैखुल हिन्द मौलाना महमूद हसन और गृहमंत्री मौलाना उबैदुल्लाह सिन्ध ी थे। उनका दावा था कि हम हिन्दुस्तान के असली प्रतिनिधि हैं और भारतीय जनता ने ब्रिटेन के विरूद्ध विद्रोह कर दिया है और यदि भारत पर आक्रमण किया जाय तो उसकी सफलता की उज्ज्वल संभावनाएँ हैं।[8] रेशमी रूमाल की योजना के अनुसार उबैदुल्लाह सिन्धी काबुल में थे और कबाइलियों को भारत पर हमला करने के लिए उकसा रहे थे साथ ही भारत के क्रांतिकारी संगठनों से सम्पर्क बनाए हुए थे। शैखुल हिन्द द्वारा भेजे गये गालिबपाशा और अनवरपाशा के कागजात और वसी के क्रांतिकारी संगठनों में बाँध ा दिये गये तो इन कारवाईयों की सूचना मौलाना महमूद हसन को हेजाज में देना आवश्यक समझा गया ताकि उन्हें मालूम हो कि जमीन तैयार है, इसलिए दो पत्र खते गुलजार (बेल–बूटेदार अक्षरों में) रेशमी कपड़े पर काबुल की कार्यवाइयाँ लिखकर मौलाना उबैदुल्लाह सिन्धी ने शेख अब्दुल हक नामक एक नव–मुस्लिम को दिए जिसे शेख अब्दुर्रहीम को सिंध में देना था। रेशमी रूमाल के साथ 10 जुलाई 1916 का लिखा शेख अब्दुर्रहीम के नाम उबैदुल्लाह सिन्धी का एक पत्र और था; जिसमें निर्देश था, कि बराए मेहराबनी जो जिम्मेदारी आपके सुपुर्द की जा रही है उसे किसी मोतबर हाजी के जरिये पाक मदीना में हजरत मौलाना तक हर हाल में पहुँचा दें। यह एक ऐसा काम है जिसके लिए मुस्तकिल सफर (यहाँ तक की हमेशा के लिए हिन्दुस्तान ही क्यों न छोड़ना पड़े) करने में कोई हर्ज नहीं है। अगर वह शख्त काबिलेऐतबार है तो उन्हें जुबानी यह भी कह दें कि हजरत मौलाना को यहाँ तशरीफ लाने की कोशिश

भी नहीं करनी चाहिए। लेकिन यह पत्र अब्दुल हक और खान बहादुर रब नवाज खाँ के मार्फत पंजाब के गवर्नर सर माइकल ओडायर के हाथ लग गये और पूरी योजना विफल हो गई। भारी पैमाने पर गिरफ्तारियाँ हुई, शैखुल हिन्द भी मक्का में गिरफ्तार करके माल्टा जेल भेज दिये गये।[8] सवाल यह है कि आज हिन्दू होने पर गर्व करने वाले या मंदिर–मस्जिद की राजनीति करने वाले क्या यह सोच पायेंगे कि रेशमी रूमाल योजना के सिद्धान्तकारों ने राजा महेन्द्र प्रताप को अध्यक्ष क्यों चुना साम्राज्यवाद के खात्मे के लिए हमेशा के लिए हिन्दुस्तान तक छोड़ने का संकल्प क्यों लिया? उन्हें मौलाना मोहम्मद मियाँ द्वारा लिखित उलमा–ए–हक; उलमा–ए–हिन्द का शानदार माजी तथा आसिरान–ए–माल्टा जैसी पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिये ताकि भारतीय राष्ट्रीयता की शानदार धर्मनिरपेक्ष परम्परा पर नई रोशनी पड़ सके। शैखुल अपने शिष्यों सहित रिहा होकर सन् 1920 में हिन्दुस्तान वापस आये और नये सिरे से नई राजनीतिक राणनीति पर विचार करने लगे।

शैखुल हिन्द मौलाना महमूद हसन का हिन्दुस्तान वापसी का दौर भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का दौर है। जमीयत–अल–उलमा–ए–हिन्द के माध्यम से भारतीय उलेमा राष्ट्रीयता की संघर्षयात्रा में बराबर के भागीदार थे। खिलाफत का प्रश्न भारतीय राजनीति का केन्द्रीय प्रश्न बन गया था। ऐसे में शैखुल हिन्द ने जमीयत–अल–उलमाए–हिन्द के दूसरे अधिवेशन की अध्यक्षता की और मुसलमानों का आह्वान किया किः ''बिरादराने वतन ने तुम्हारी इस मुसीबत में जिस कदर तुम्हारे साथ हमदर्दी की है और कर रहे हैं, वह उनकी इख्लाकी मुरव्वत और इंसानी शराफत की दलील है। इस्लाम ने एहसान का बदला एहसान करार दिया है। मजहबी एहकाम खुदा की अमानत है, उन पर तुम्हारा इख्तियार नहीं है। इसलिए लाजिम है कि हुदूद मजहब के अन्दर रहकर तुम एहसान के बदले में एहसान करो और दोनों कौमें मिलकर एक ऐसे जबरदस्त दुश्मन के मुकाबले के लिए खड़े हो जाओ तो तुम्हारे मजहब तुम्हारी आजादी को पामाल कर रहा है।''[9] असहयोग आन्दोलन के जमाने में जब मुसलमानों के लिए अलग राष्ट्रीय शिक्षण संस्थान की माँग उठी तो 29 अक्टूबर 1920 जुमे के दिन अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी के कैम्पस में हिन्दू–मुस्लिम एक नई ऊर्जा एवं उत्सह के सूर्य का अभिवादन कर रहे थे। हजारों की भीड़ उत्साहित, उत्सुक और बेचैन थी, कि कब मस्जिद में नमाज पढ़ी जाएगी और जामिया मिल्लिया इस्लामिया की बुनियाद पड़ेगी।[10] शैखुल हिन्द ने जामिया की बुनियाद रखी, वह बूढ़े और और सख्त बीमार थे। तब एक अखबार की टिप्पणी थी इस व्यवस्था की आखिरी कड़ी देवबंद का बूढ़ा लाचार मुल्ला था, जिसके चेहरे पर आजादी की चमक थी। यह देवबंद में रिश्तों के जज्बात उभर कर सामने आ रहे थे।[11] ऐसा दृश्य भविष्य में कभी नहीं देखा गया। शैखुल हिन्द सख्त बीमार थे और खुतबा पढ़ने में असमर्थ थे इसलिए उनके शागिर्द मौलाना शब्बीर अहमद उस्मानी ने उनका भाषण पढ़कर सुनाया। उन्होंने कहा कि ''ऐ! नौनिहाल वतन जब मैंने देखा कि मेरे गमख्वार मदरसों और खानकाहों में कम और स्कूल, कॉलेजों में अधिक हैं तो मैंने और मेरे कुछ चाहने वाले मित्रों ने एक कदम अलीगढ़ की ओर बढ़ाया और इस प्रकार हमने भारत के दो ऐतिहासिक संस्थाओं का रिश्ता जोड़ा है।''[12] उन्होंने यह भी कहना आवश्यक समझा कि आप में से जो हजरात मुहक्किक और बाखबर हैं, वे जानते हैं कि मेरे बुजुर्गों ने किसी वक्त भी अजनबी सीखने या दूसरी कौमों के उलूम और फुनून सीखने पर फतवा नहीं दिया।[13] ब्रिटिश साम्राज्यवाद मुस्लिम धर्मचिन्तन पर आधुनिकता और वैज्ञानिकता चस्पा लगाती रहती थी इसलिए गैर इस्लाम उलूम व फुनून के सवाल को शैखुल हिन्द ने धार्मिक परिधि से निकलकर अपना तार्किक आधुनिक दृष्टिकोण रखा। उन्होंने आगे यह भी कहा कि ''इसमें मुझे कोई संदेह नहीं कि बहुत से लोग मेरी इस कार्यपद्धति की आलोचना करें और मुझको मेरे पूर्वजों का विरोधी सिद्ध करें, लेकिन यह वह अच्छी तरह समझते हैं, कि जिस प्रकार मैं अलीगढ़ की तरफ मुड़ा है, उससे कहीं अधिक अलीगढ़ मेरी ओर आया है।''[14] मतलब यह है कि दारूल उलूम में समर–अल–तर्बियत के गठन से लेकर जामिया मिल्लिया इस्लामिया के गठन तक मौलना महमूद हसन भारतीय स्वाधीनता संग्राम की महत्वपूर्ण कड़ी रहे। उनके माध्यम से देवबंद की परम्परा का उज्जवल पक्ष प्रकट हुआ और उनकी प्रेरणा से मौलाना अबुल कलाम आजाद, ख़ान अब्दुल गफ्फार

खान, हुसैन अहमद मदनी तथा उबैदुल्लाह सिन्धी जैसे संयुक्त राष्ट्रीयता पर बल देने वाले मुस्लिम नवबौद्धिक स्वाधीनता संग्राम के महत्वपूर्ण सिपहसालार साबित हुए।

InHkZ %

1. मुस्लिम एजुकेशनल कांफ्रेंस; सर सैयद अहमद खाँ; डॉ शान मोहम्मद, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ 1969; पृ0 151
2. दारूल उलूम देवबंद का इतिहास; मौलाना मुहम्मदुल्लाह कासमी, मकतबा दारूल उलूम, देवबंद 2012 पृ0 19
3. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि; प्रो0 ए0 आर0 ईसाई मैकमिलन प्रकाशन; बम्बई 1880 पृ0 156
4. मेरा जीवन, मेरा संघर्षः खान अब्दुल गफ्फार खान; नई किताब प्राकाशन; दिल्ली – 2013 पृ0 83–84
5. वहीं; पृ0 85–86
6. खुतबये सदारत; जमीयत–अल–उलमाए–हिन्द; 19–20 नवमबर 1920
7. खिलाफत आन्दोलन; काजी मुहम्मद अदील अब्बासी, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली 2011 पृ0 10
8. वहीं; पृ0 22
9. Reshmi rumal Movement, Maulana Mohammad Miyan, Shaikhul Hind Academy, Manak Publication, Delhi - 2012, p-44.
10. सफरनामा, शैखुल हिन्द मौलाना हुसैन अहमद मदनी; मकतबा दारूल उलूम; देवबंद 1984; पृ0 123
11. उद्धृत जामिया मिल्लिया इस्लामिया का सम्पूर्ण इतिहास, डॉ0 अब्दुल वहाब, एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 2010 पृ0 99
12. वहीं; पृ0 100
13. उद्धृत खिलाफत आन्दोलन पृ0 – 31
14. जामिया मिल्लिया इस्लामिया का सम्पूर्ण इतिहास, पृ0 101

***

Hkkjrh; lLÑfr % tSu lkfgR; dk egÙo

vfLerk frokjh*

10वीं से 12वीं शताब्दी के बीच स्थानीय अपभ्रंश भाषाओं से आधुनिक आर्यभाषाओं का उद्भव होता है। साहित्य के इतिहास विवेचन में इसे आदिकाल कहा जाता है, जिसके निर्माण में विद्यापति के अवहट्ट से लेकर जैनाचार्यों के मरू गुर्जर तक का योगदान है। इस काल में बौद्धों, सिद्धों नाथों और चारणों का साहित्य सम्मिलित है। इन रचनाओं की प्रमाणिक हस्तप्रतियाँ, प्रचुर मात्रा में जैन–ज्ञान–भंडारों में उपलब्ध हैं, जिनका पाठशोधन, निर्धारण, भाषावैज्ञानिक अध्ययन और साहित्य रूपों की परम्परा का सम्यक् विश्लेषण करना आज भी शेष है। ये ग्रन्थ अधिकतर जैन–ज्ञान–भंडारों में ही प्राप्त हुए और अधिकांश जैन कवियों के लिखे हुए हैं। स्वभावतः इनमें जैन धर्म की महिमा बताई गई है और उस धर्म के स्वीकृत सिद्धान्तों के आधर पर ही जीवन दर्शन का उपदेश दिया गया है, लेकिन इस कारण मात्र से इन पुस्तकों का महत्व कम नहीं हो जाता है क्योंकि परवर्ती साहित्य रूपों के निर्माण और भारतीय संस्कृति के विकास में इन ग्रन्थों का अध्ययन बहुत सहायक है।

भारतीय संस्कृति के निर्माण में जैन धर्म का अवदान सांस्कृतिक, दार्शनिक, भाषिक, साहित्यिक सभी क्षेत्रों में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ये सारे क्षेत्र अपेक्षाकृत अभी तक कम ही अध्ययन के विषय हो सके हैं। जैन चिन्तन से सम्बन्धित इस साहित्य में जो वैज्ञानिकता, प्रगतिशीलता, सार्वजनीनता, एकात्मकता जातिवर्गहीनता और वैयक्तिक स्वतंत्रता का उद्घोष है– भारतीय संस्कृति के विकास में उसका महत्त्व इसलिए अधिक है, कि जैन साहित्य में अनेक भाषाओं के अनेक विधाओं के, अनेक विषयों के साहित्यिक, सांस्कृतिक और वैचारिक चिंतन की विविध सारणियाँ काल–प्रवाह के साथ निरन्तर संचित होती रही है। दो–ढाई हजार वर्षों के इस संचय में सैकड़ो जैन मुनियों, साधुओं और लेखकों ने हजारों ग्रन्थ लिखे हैं और वे ग्रन्थ इधर–उधर फैले हुए विलुप्त होने की प्रक्रिया में हैं। भावी पीढ़ी का कर्तव्य है कि उन्हें खोजकर, उनका सम्यक् विवेचन विश्लेषण कर समाज के सामने रखा जाये ताकि भारतीय संस्कृति का सम्यक् मूल्यांकन संभव हो सके। जैन साहित्य में सम्बन्धित अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों का महत्त्व धार्मिक मात्र नहीं है, बल्कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जो विकास आज हमारे सामने है, उसमें जैन आचार्यों और जैन मुनियों का महत्वपूर्ण योगदान है। न केवल साहित्य के क्षेत्र में बल्कि, भारतीय दर्शन, वास्तुकला, मूर्तिकला, शिल्प कारीगरी और लिपि विज्ञान के क्षेत्र में भी जैन मुनियों की साहित्य साधना ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। स्वयंभू के 'रिट्टणेमिचरिउ'[1] और पुष्पदंत के 'णयकुमारचरिउ'[2] से लोक भाषाओं में काव्यात्मक महत्त्व का जबरदस्त आत्मविश्वास दिखाई पड़ता है। लोकसुख में ही इन्हें आत्मसुख की अनुभूति होती है। दूसरे कोण से यहाँ ब्राह्मण परम्परा का अस्वीकार भी है और दूसरी परम्परा का संकेत भी, क्योंकि स्वयंभू और पुष्पदंत, व्यास–वाल्मीकि की परम्परा से सन्दर्भ लेते हुए भी उस समूची परम्परा को दूसरा नया संदर्भ प्रदान करने की सजग कोशिश करते हैं।[3] यहाँ यह भी महत्वपूर्ण है कि जैन मुनियों ने जैन धर्म की शास्त्री रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों के विरूद्ध लोक सामान्य के लिए सरल और उदार ढंग से मनुष्यता की दृष्टि से जोइन्दु का 'परमात्म प्रकाश'[4] और मुनि रामसिंह का 'पाहुड़दोहा'[5] अत्यन्त महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। *परमात्म प्रकाश, योगसार* और पाहुड़दोहा इन तीनों को एक साथ रखकर देखने से स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज एक ओर रक्षणशील रूढ़िवादी प्रवृत्ति का पोषण कर रहा था, तो दूसरी ओर रूढ़िवाद विरोधी नवोन्मेषशालिनी शक्तियों के विकास के लिए संघर्षरत भी था। ये जैन मुनि उसी नवोन्मेष की अभिव्यक्ति हैं। वे मानवता की सामन्य भावभूमि की तलाश कर रहे थे और सभी गैर धार्मिक मतों के लिए सहिष्णु भी थे–

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

^^ijeliv ije & im gfj&gj&oHk fo c)A
ije i;kl Hk.kfr ef.k] tk ft.k ngm fol)A**[6]

आज 21 वीं शताब्दी में नये तरह के विकसित वैचारिक कट्टरतावाद, अलगाववाद और अंधराष्ट्रवाद के बीच जैन मुनियों द्वारा विकसित संवाद की प्रक्रिया और प्रवृत्ति की खुली संभावनाओं पर विचार–विमर्श का प्रस्ताव इसलिए जरूरी है, कि उनमें किसी धर्म अथवा सिद्धान्त के प्रति द्वेष का भाव नहीं है। गृहस्थाश्रम तथा आत्मानुभूति समन्वित देह को वे मोक्ष का साधन मानते हैं, केवल शास्त्र ज्ञान को झूठा साबित करते हैं। ध्यान रहे कि साम्प्रदायिकता शास्त्रों से ही बनती है, संकीर्ण मर्यादाएँ और मताग्रही संकीर्णताएँ विभिन्न मत के ग्रन्थों से ही निर्धारित होती हैं और यह एक तरह की प्रतिक्रियावादिता भी है। इसलिए इन जैन मुनियों के द्वारा अक्षर ज्ञान और पुस्तक ज्ञान का विरोध, शास्त्र की संस्कृति के मुकाबले लोक की संस्कृति को स्थापित करने के लिए है। षड्दर्शन का विरोध इन मुनियों ने इसलिए किया कि इससे अभेद में भेद को बढ़ावा मिलता था, जबकि भारतीय संस्कृति का मूल स्वर भेद में अभेद का है। जैन मुनियों के उस ऐतिहासिक अवदान और सांस्कृतिक संवाद प्रक्रिया पर विचार विमर्श की जरूरत इसलिए भी है कि उसे समग्र ऐतिहासिक विकास में देखा जाना अभी शेष है। क्योंकि अभी तक सम्पूर्ण जैन भंडारों का सर्वेक्षण भी नहीं हो सका है, विचार विश्लेषण तो दूर की बात है। इस तरह भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का विशाल एवं प्रमाणिक स्रोत धीरे–धीरे उपेक्षित होता चला जा रहा है। इस उपेक्षा का रचनात्मक प्रतिकार गम्भीर विचार विश्लेषण से ही सम्भव है। इसके लिए जरूरी है कि मूल स्रोत सामग्री को देखा जाये। जैन साहित्य भारतीय संस्कृति की विविधता में एकता का पोषक है और कर्म सिद्धान्त के द्वारा मनुष्य के पुरूषार्थ के विजय उद्घोष की प्रेरणा देता है इसलिये यह सांस्कृतिक रिक्थ मध्यदेशीय मानस की सामाजिक, सांस्कृतिक बनावट को समझने के लिये, उसकी वैचारिक राजनीतिक सारणियों के पड़ताल के लिये नितान्त प्रमाणिक स्रोत है। भारतीय धर्म–दर्शन के इतिहास में जैन संस्कृति को वेद विरोधी संस्कृति माना जाता है लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि जब आर्य इस देश में फैले उससे पहले ही यहाँ वैराग्य, योगाचार्य और तपस्चर्या की साधना प्रचलित हो चुकी थी।

इस पूर्वपीठिका के माध्यम से हमारा प्रस्ताव है कि हम पउमचरिउ की सांस्कृतिक विरासत, अट्ठिमिचरिउ के इतिहासबोध और करकण्डचरिउ के समाजबोध, जसहरचरिउ की लोक कल्याणकारी चेतना सावयधम्मदोहा के नैतिकताबोध और 'भविष्यतकहा' की आख्यान परम्परा से सीखकर राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकीकरण के लिए, सर्वधर्मसमभाव के लिए, धार्मिक संवादधर्मिता के लिए और ऐतिहासिक सांस्कृतिक जागरण के लिए निरन्तर प्रयास करेंगे साथ ही अपने बहुसांस्कृतिक–बहुधार्मिक संस्कृति के बीच जैन साहित्य के महत्व को भी विचार विश्लेषित करने का प्रयास करेंगे। अहिंसा और तप यह दो जैन धर्म की बुनियादी विशेषतायें हैं, लेकिन उन दोनों की परम्परा प्राग्वैदिक है। आज समूची दुनिया हिंसा, तनाव अकाल महत्त्वाकांक्षा और अशान्ति से ऊबकर अहिंसा और विचार के खुलेपन के लिये बहुत उम्मीद से देख रही है। इस उम्मीद में जैन साहित्य का धार्मिक कर्मकाण्ड विरोधी स्वर और संकीर्णताओं से लगातार लड़ते रहने की प्रतिरोधी चेतना हमारी ऐतिहासिक सांस्कृतिक विरासत है, इसलिये इस सांस्कृतिक अवदान को याद रखने की जरूरत है और विचार विश्लेषण की भी। यह सांस्कृतिक अवदान ही भारतीय संस्कृतिक की जातीय विरासत है।

lnHk %

1. अपभ्रंश एवं अवहट्ट : एक अन्तर्यात्रा; प्रो0 शंभुनाथ पाण्डेय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी; 1999, पृ0 244
2. वहीं, पृ0 245
3. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान ; डा0 नामवर सिंह, लोकभारती, इलाहाबाद, 1972; 566
4. जैन साहित्य का इतिहास ; डॉ0 सत्यवद् जैन, राजस्थान ग्रंथागार, जयपुर, 1966; पृ0 34
5. वहीं; 109
6. जोइन्दु; परमात्म प्रकाश; राजस्थान ग्रंथालय, जयपुर, 1961, पृ0 09

***

Hkkjrh; lLÑfr e ukjh dk LFkku

dknfEcuh feJk*

गौरवमयी भारतीय संस्कृति में जब सनातन रुढ़ियों ने प्रवेश किया, तब से समाज में अंतहीन अंधविश्वास और गहन अंधकार व्याप्त हो गया। कभी वास्तविक रुप से पूजी गयी नारियों पर अमानवीय यंत्रणाओं का दौर प्रारंभ हो गया। वर्तमान में नारी जिस क्रूरता का शिकार है, उस संदर्भ में संस्कृति शब्द की चर्चा बेमानी लगती है।

नारी जाति का इतिहास गौरवपूर्ण इतिहास है, जहाँ तेजस्वितापूर्ण चेतना के रुप में नारी को स्थान दिया गया है। परंतु "भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है, यह अतीत की वैभव कथा ही नहीं वर्तमान की करुण गाथा भी है।"[1] मानव जाति की पारिवारिक संरचना के केन्द्र में सुशोभित नारी शक्ति की वर्तमान दशा अत्यंत चिंताजनक है। आज नारी की अस्मिता पर पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण हावी है। "इस नवऔपनिवेशिक काल में संस्कृतिवाद स्त्रियों पर नियंत्रण बनाए रखने का प्राचीनतम माध्यम है।"[2] संस्कृति और शाश्वत मूल्यों का हवाला देकर यह पितृसत्तात्मक समाज नारियों के विकास को प्रतिबंधित करता आया है।

प्रकृति की कोमल कृति नारी प्रारंभ से ही पुरुष की सहयोगिनी रही है। आदियुग से ही नारियाँ पारिवारिक, सामाजिक गतिविधियों में पुरुषों का सहयोग करती आई हैं। नारी और पुरुष ने एक दूसरे के पूरक के रुप में समाज और सभ्यता का विकास किया है। "परब्रह्म ने सृष्टि के निर्माण के लिए एक दूसरे के पूरक दो रुपों की रचना की नर और नारी। इन्हीं पृथक गुणों का मिलन मानव सृष्टि का आधार है। पुरुष कठोरता, सक्रियता, मधुरता एवं सुकुमारता का मूर्त रुप। नारी आदि शक्ति के रुप में पुरुष का अर्द्धांग तथा जीवन का सृजन एवं पोषण करने वाला मातृपक्ष है। जीवन वात्सल्य और ममता के इसी प्रवाह का मुखापेक्षी है। भारतीय संस्कृति में नारी के प्रति यही दृष्टिकोण प्रधान रहा है।"[3] ममता एवं वात्सलय की भूखी मानवता ने स्त्री को आरंभिक काल में श्रेष्ठतम स्थान दिया था।

भारतीय संस्कृति में नारी की स्थिति का अवलोकन करते समय आदिम युग एवं वेदकालीन संस्कृति पर हमारी स्मृतियाँ सहज ही विश्राम लेना चाहती हैं। भारतीय नारी की जिस गरिमामय स्थिति का आभास हमें उन युगों में होता है वैसी स्थिति हमें परवर्ती किसी भी काल में दृष्टिगोचर नहीं होती। आदिम युग में मूल रुप से समाज का विकास मातृसत्तात्मक परिवार के रुप में हुआ। "चतुर्युगी के आरंभ में माता दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, इला से ऐल आदि वंशों का प्रचलन था .... वंश का नाम माता के नाम पर चलता था। इस मातृसत्तात्मक परिवार में स्त्री का शासन प्रमुख था तथा वयोवृद्ध महिला ही परिवार की मुखिया हुआ करती थी। .... स्त्री पुरुष समाज की सामूहिक संपत्ति थी। भोग–विलास में पूर्ण स्वच्छंदता थी.... संतति का नामकरण माता के नाम के साथ कुछ प्रत्यय–प्रत्ययांत जोड़कर किया जाता था। आगे जाकर वृद्ध माता के नाम पर गोत्र या वंश का नाम चल पड़ता था।"[4] इस प्रकार कहा जा सकता है कि आदिम युग की उस संस्कृति में नारीत्व का अधिक सम्मान था और पुरुष ने उसे स्वयं से भी श्रेष्ठ स्थान दिया था।

आरंभिक काल में वर्णों में कोई भेद नहीं था, ब्रह्मा जी से उत्पन्न होने के कारण सारा जगत ही ब्राह्मण था। कालांतर से विभिन्न कर्मों के आधार पर पुरुष प्रधान समाज ने उसमें वर्ण भेद किया। सभ्यता के विकास में न तो वर्ण व्यवस्था थी और न ही स्त्री–पुरुष असमानता। वदेकाल से वर्ण व्यवस्था का प्रारंभ

*शोधछात्रा, हिन्दी विभाग, गुरू घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़।

होता है और स्त्री–पुरुष असमानता का बीज–वपन भी होता है तथापि स्त्रियों को पर्याप्त सम्मान दिया जाता था। डॉ. राजबली पांडेय के शब्दों में "सम्पूर्ण वैदिक काल में स्त्रियों का आदर था। कन्या, स्त्री और माता के रुप में उसकी प्रतिष्ठा थी। कन्या के रुप में वह लालित–पालित होती थी, स्त्री के रुप में वह घर की साम्राज्ञी थी, धार्मिक सामाजिक अधिकार पति के समान थे, माता के रुप में सबका पालन पोषण [5]

वेदकालीन संस्कृति में स्त्रियों की स्थिति आदरणीय थी, उस काल में अनेक विदुषी स्त्रियाँ थी, जो स्वयं ऋषि थी, वे नियमपूर्वक यज्ञ करती थी। वेद में कितने ही मंत्र उनके नाम पर थे। विश्वारा, अपाला, घोषा, आदि प्रसिद्ध विदुषी नारियाँ थी। वैदिक युग के पश्चात् स्त्रियों के बहुत से अधिकार पुरुषों ने ले लिये और स्त्रियों को पुरुष की रक्षणीय संपत्ति माना जाने लगा। धीरे–धीरे वह 'रक्षक' पति बन गया और कई प्रकार की सीमाओं में उसे बांध दिया। यहीं से स्त्रियों की अस्मिता के साथ छल प्रारंभ हो गया। रक्षा के नाम पर बाल–विवाह जैसी कुरीतियाँ पनपने लगीं।

शास्त्रों–सिद्धान्तों के माध्यम से नारी के महिमामंडन में कोई कमी नहीं की गयी, परंतु व्यवहार में उसकी स्वतंत्रता को अनेक प्रकार से प्रतिबंधित किया गया। 'मनुस्मृति' में नारियों की पूजा को सर्वसमृद्धि कारक बताया गया है :–

Þ;= uk;Lr iT;rs jeUrs r= nsork%Aß[6]

तथापि उसे बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक सदा के लिए पुरुषों के अधीन कर दिया गया–

Þfirk j{kfr dkekjs HkrkZ j{kfr ;kSouAs
j{kfUr LFkfoj iq=k u L=h Lokr«;egfrAß[7]

अर्थात् स्त्रियों की बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति और बुढ़ापे में पुत्र के अधीन रहना चाहिए, स्त्री कभी स्वतंत्रता के योग्य नहीं है। सम्पूर्ण मध्यकाल के इतिहास में भारतीय नारियों की स्थिति अंधकार में है। बाल–विवाह से लेकर बहुविवाह तक सती से लेकर जौहर तक सारी सामाजिक कुरीतियों ने स्त्री के अस्तित्व को निगल जाने की हर संभव चेष्टा की है। भक्तिकाल के कवियों ने ढोल गंवार के साथ उसे समकक्षता देकर नारी के महत्व को नकार दिया। हाँ, सूरदास ऐसे कवि हुए जिन्होंने स्त्री के मातृरुप को गरिमा प्रदान की एवं स्त्री के प्रति अपूर्व सौन्दर्य दृष्टि के साथ अपने कवित्व को नया आयाम दिया। इसी युग की मीराबाई जो स्त्री स्वातंत्र्य की प्रबल पक्षधर थी, इन्होंने सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ते हुए सामंतवादी सोच को ठोकर मार एक संतभक्त कवियित्री के रुप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराती हैं। रीतिकाल के कवियों ने स्त्री को पूर्णतः भोग्या बनाकर प्रस्तुत किया और नारी की त्यागमयी मातृमूर्ति जनमानस के जेहन से मिटने लगी। कुछ गिने–चुने अपवादों को छोड़कर बात की जाय तो सम्पूर्ण मध्यकाल से लेकर 18वीं–19वीं सदी में जन–जागरण आते तक भारतीय इतिहास को नारी के लिए अंधकार काल कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय समाज–सुधारकों ने समाज सुधार एवं धर्म सुधार के अनेक कार्यक्रम चलाये इसी दौरान भारतीय स्त्रियों की दयनीय दशा पर सबका ध्यान गया। इन प्रबुद्ध पुनरुत्थानवादियों यथा स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजाराम मोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ज्योतिबा फूले, स्वामी विवेकानन्द के प्रबल प्रयासों से स्त्री शिक्षा ?, सती प्रथा उन्मूलन, विधवा विवाह एवं बालविवाह निरोधक कानून पारित हुए।

राजाराम मोहनराय के सार्थक प्रयत्नों से सती–प्रथा पर पाबंदी तो लगी परंतु पूरे भारत में इसे फैलने में 11 वर्ष की लम्बी अवधि लगी। हमारे देश की सांस्कृति राजधानी में यह कुप्रथा इस रुप में व्याप्त थी कि इसे धर्मोन्माद की संज्ञा दी जाती है। "वारेन हेस्टिंग्स जैसे व्यक्ति ने कहा कि बड़े पैमाने पर होने वाली सती की त्रासदी हिन्दुओं की धर्मोन्मादी और उनकी विभक्त विचारधारा का परिणाम थी।"[8] सती उठीं javascript:clicked ("http://9gag.com/gag/a673jxm&id=43279")। "इसकी प्रतिक्रिया में 128 पंडितों ने एक घोषणापत्र प्रकाशित किया, जिसमें कहा गया राजाराम मोहनराय की दलीलें गलत हैं, उन्हें हिन्दू विचारधारा का

प्रतिनिधि नहीं मानना चाहिए।"[9] एक रुढ़िवादी हिन्दू तर्क यह भी था कि "वे सती होकर इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करें और अपने परिवार को उस ज्ञान का उपहार दें।" एक स्त्री जो पत्नी के अतिरिक्त किसी की माता, बहन, और पुत्री भी है वह स्वयं को नष्ट कर अपने परिवार को किस प्रकार का उपहार दे सकती हैं? श्री राय ने प्रत्युत्तर में कहा था "अनंत रुप से वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक आत्म बलिदानी थी।"[10] और इसे सिद्ध करने के लिए स्त्रियों को आत्महत्या की कतई आवश्यकता नहीं है। तमाम विरोधी प्रतिक्रियाओं के बाद–स्त्रियाँ अपनी मर्जी से सती हो सकती हैं यह बात मानते हुए "लार्ड विलियम बैंटिक 1829 में जब भारत के गवर्नर जनरल बने तो उन्होंने सती निर्मूलन एक्ट पास किया।"[11]

सती प्रथा उन्मूलन एवं स्त्रियों की शिक्षा का आंदोलन स्त्री संघर्ष के इतिहास के दो प्रधान आधार थे। "लड़कियों के लिए विद्यालय सबसे पहले अंग्रेज मिशनरियों द्वारा 1810 में शुरु किए गये।"[12] 1827 तक मिशनिरियों द्वारा हुगली जिले में 12 कन्या पाठशालाएं चलाई जाने लगी। किन्तु "19 वीं सदी के मध्य तक बंगाल खासतौर से कलकत्ता में स्त्रियों की शिक्षा का मुद्दा उदार हिन्दुओं ब्राह्मणों और प्रगतिशील छात्रों के लिए आन्दोलन का विषय बन गया। मिशनरी स्कूलों द्वारा ईसाईयत फैलाने के खतरे से डरकर बंगाल में हिन्दू एवं ब्राह्मण कन्या पाठशालाएं खोली गईं।"[13] यहाँ भी धर्म के नाम पर एक विभाजन रेखा खींची गई और कालांतर से पाठयक्रम को भी अपनी आवश्यकताओं के अनुरुप गढ़ लिया गया। इस प्रकार एक बार फिर पुरुषवादी आवश्यकता की पूर्ति स्त्रियों को नियंत्रित करने में ही थी।

19वीं सदी के मध्य में बम्बई प्रेसिडेंसी में सुधार आंदोलन उभरे। "ज्योतिबा फूले एवं जी. एच. देशमुख ने अछूतोद्धार एवं कन्या शिक्षा के लिए उल्लेखनीय कार्य किये, 1852 तक फूले ने तीन कन्या पाठशालाएं तथा अछूतों के लिए एक स्कूल खोला।"[14] फूले ने अछूतों, खासकर लड़कियों के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया तो उन्हें प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। "पुरातन पंथी ब्राह्मणों के दबाव में फूले के पिता ने उन्हें घर से निकाल दिया और वह अपने ही समुदाय के अनेक लोगों द्वारा बहिष्कृत कर दिये गये।"[15]

विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबंध एवं बाल विवाह को प्रश्रय– ये दो भीषण समस्यायें जिससे पार पाना समाज सुधारकों के लिए सरल नहीं था। "ईश्वर चंद विद्यासागर ने 1850 में विधवा पुनर्विवाह पर लगे प्रतिबंध को समाप्त करने के लिए अभियान चलाया और उन्होंनें बांग्ला में एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें कहा गया विधवा पुनर्विवाह शास्त्र सम्मत है।"[16] 1855 में भारत के गर्वनर जनरल को विधवा पुनर्विवाह के लिए कानून बनाने का मसौदा विधान परिषद् में जे. वी. ग्रांट द्वारा पेश किया गया। "इस कानून के विरोध में उच्च–वर्ग के लगभग साठ हजार हिन्दुओं की तरफ से चालीस से भी अधिक याचिकायें पेश की गई। .... एक याचिका में कहा गया इस प्रकार के 'कानूनी हस्तक्षेप' का कोई फायदा नहीं क्योंकि वह कभी भी जनता की सोच को बदलने में सफल नहीं रहा, बल्कि जितना ज्यादा हस्तक्षेप किया गया उसकी उतना ही प्रबल विरोध किया गया।"[17]

इस प्रकार 1856 में कानून तो पारित हुआ, किन्तु इसके परिणाम बहुत फलदायी हुए। विधवा विवाह को कानूनी मान्यता भले ही प्राप्त हो गयी हो परन्तु आज भी हमारा समाज इसे हृदय से स्वीकार नहीं कर पाया है। इस प्रकार भारतीय पुनरुत्थानवादियों ने स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए जितने भी प्रयास किए उनके विरोध में रुढ़िवादियों का आन्दोलन पूरी ताकत से उनके विरुद्ध खड़ा होता गया। 1884 की एक घटना है– "दादा जी भीखा जी नामक एक व्यक्ति ने अदालत में वैवाहिक अधिकारों के प्रतिष्ठान का दावा दायर कर दिया, इस मामले में दादाजी भीखा जी ने अपनी पत्नी राकमाबायी पर यह आरोप लगाया कि बचपन में विवाह के पश्चात् उसने शिक्षा प्राप्त ली और अब वह उनके साथ रहने को तैयार नहीं है।"[18] इस घटना का अंतिम निर्णय राकमाबायी के खिलाफ ही हुआ। परंतु इस जागरुक महिला ने निर्णय अस्वीकार कर सजा भुगतना श्रेष्ठ समझा। बाद में इन्होंने इग्लैंड जाकर एम.डी. की उपाधि धारण की।

पंडित रमाबाई (1858–1922) ने पूना में आर्य महिला समाज की स्थापना की और शिक्षण के क्षेत्र में महिला निरीक्षकों की नियुक्ति पर बल दिया। भारतीय स्त्रियों के मानसिकता के अनुरुप चिकित्सा के

क्षेत्र में महिलाओं के पदार्पण पर जोर दिया। उनके ये प्रयास लेडी डफरिन द्वारा शुरु किए गये चिकित्सा विज्ञान के रुप में फलित हुए। 1889 ई. में उन्होंने बाल विधवा गृह खोला ईसाईयत की समर्थक होने के कारण उन्हें भी काफी विरोध झेलना पड़ा। विरोधों के बावजूद इन्होंने महिलाओं के सुधार हेतु अनेक कार्य किए।

19वीं सदी के अंतिम चरण में जितने भी सुधारवादी आन्दोलन चलाये गये वे क्षीण होते गये। इसका कारण रुढ़िवादियों द्वारा धर्म–संस्कृति की रक्षा की आड़ में किये गये विद्रोह ही थे। जिसका प्रभाव इतना सशक्त था कि "एनी बेसेंट ने 1890 के प्रारंभिक काल में समाज सुधारकों पर हमला बोलते हुए परंपरागत हिन्दुत्व का ही बचाव किया।"[19]

इन्हीं कारणों से आन्दोलन अपने उद्देश्य प्राप्ति में असफल रहे। इस सदी के लगभग सभी आंदोलन स्त्री की वास्तविक अस्मिता दिलाने में सफल नहीं हो सके।

20वीं सदी में सरला देवी घोषाल ने जो बंगाल में पुनरुत्थानवादी आंदोलन में गहरायी से जुड़ी थी। उन्होनें 1910 में भारत महामंडल की स्थापना की जिसका उद्देश्य स्त्री शिक्षा का प्रसार करना था। इन्होनें स्वयं को भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में अर्पित कर मिसाल कायम की आगे इनसे प्रेरणा लेकर महिलाओं ने राष्ट्रवादी आंदोलन में सक्रिय भूमिका अदा की।

मैडम भीकाजी रुस्तम जी कामा (1816–1936), श्रीमती एनी बेसेंट (1847–1933), श्रीमती सरोजिनी नायडू (1879–1949) आदि विशिष्ट महिलाओं ने अपनी शिक्षा, राष्ट्रवादी आंदोलन में अपनी भूमिका तथा नवीन विचारों से स्त्री जागरुकता के अनेक संकेत दिये।

इसी समय स्त्रियों ने अपनी निजी वास्तविक जीवन की रचना की तथा समकालीन छवियों का निर्माण शुरु कर दिया। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई सदृश वीरांगनाओं ने जिस चेतना को आधार प्रधान किया था। उससे प्रेरणा लेकर "स्त्रीत्व अपने अंतःपुर से बाहर निकल कर भारत–माता की आजादी के लिए होने वाले संघर्ष में पुरुषों के साथ भागीदार बनकर कूद पड़ा।"[20]

अब तक भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में महात्मा गांधी नामक सूर्य का उदय हो चुका था जिन्होंने महिलाओं के विषय में एक बड़ी बात कही– "यदि तुम्हारा भाई या तुम्हारा पति देश विरोधी है तो तुम्हें उससे भी असहयोग करने, उसे तथा अपने को स्वदेश सेवा में लगाने का अधिकार है।"[21]

सन् 1930 के सत्याग्रह आंदेलन में भी महिलाओं ने भाग लिया। कमला देवी चट्टोपाध्याय, राजकुमारी अमृता कौर, अरुणा आसफ अली, लेडी फिरोजबाई आदि ऐसी महिलाएं थी जिन्होंने स्त्रियों के लिए होने वाले संघर्ष के अग्रिम मोर्चे पर थी।

अब हर स्तर की स्त्रियों ने आंदोलन में अपनी उपस्थिति दर्ज कराना प्रारंभ कर दिया। "मेरठ की पार्वती देवी 1920 के नागरिक अवज्ञा आंदोलन में जेल जाने वाली प्रथम महिला थी।"[22]

1928–29 की बम्बई कपड़ा मिल मजदूर हड़ताल के दौरान होने वाले प्रदर्शन में महिलाओं को आगे रखा गया। सन् 1926 में शैक्षणिक सुधार के लिए अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की स्थापना हुयी जिसके प्रयासों से स्त्री श्रम की महत्ता का प्रतिपादन हुआ। बाल विवाह निरोधक कानून पास हुए। अब तक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मुद्दों पर महिलाओं की उपस्थिति एवं अधिकार की बहस रुप धारण कर चुकी थी।

राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारंभ में नारी के मातृरुप की पुनर्स्थापना हुयी, परंतु 20वीं सदी के शुरुआत में नारी ने यह घोषित चेतावनी दे डाली– "याद रखो जो हाथ पालना झुला सकते हैं वही दुनिया पर राज करते हैं।"[23]

महात्मा गांधी के कारण भारतीय नारियाँ अपनी एक नई शक्ति से परिचित हुयी और उन्होंने भारत को आजादी दिलाने में सक्रिय भूमिका निभायी उनके इस सक्रिय सहयोग से देश को आजादी भी मिली परंतु नारी जाति को क्या मिला यह अवश्य ही विचारणीय प्रश्न है। राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की भूमिका के संबंध में सुमन राजे लिखती हैं, "आज की स्मृतिहीनता इतिहास हीनता की ओर जाने वाली यात्रा है। यदि ऐसा न होता तो राष्ट्रीय आंन्दोलन के कई पक्ष नेपथ्य में न रह गये होते।

विश्व का शक्तिशाली राष्ट्र कहलाने को उत्सुक देश को अपनी दृष्टि साफ करनी चाहिए और अपनी परंपराएं शुद्ध। स्वतंत्रता आंदोलन की पृष्ठभूमि में ऐसे कितने ही जन आंदोलन हैं, जो विस्मृति के गर्त में धकेल दिए गये हैं। किसान विद्रोह (1763–1800), आदिवासी किसानों का विद्रोह (1770–1800), नमक के कारीगरों का संग्राम (सन् 1770–1804), चकमा विद्रोह (1776–89) ... आज भारतीय स्वतंत्रता का जो इतिहास नयी पीढ़ी को रटाया जा रहा है, उसमें इन जन आंदोलनों का कोई जिक्र नहीं है। सच तो यह है कि यह प्रवृति इतिहास के भीतर इतिहास को नकारने की है।"[24] कहने का तात्पर्य है कि अपने भीतर की बहुत बड़ी चेतना से परिचित होने के बावजूद नारी जाति की सामाजिक स्थिति को संतोषजनक सकारात्मक संबल नहीं मिल पाया। देश की स्वतंत्रता के पश्चात् भी सम्पूर्ण नारी जाति की स्वतंत्रता के लिए अभी बहुत कुछ किया जाना शेष रह गया था।

lanHkZ %

1. महादेवी समग्र–खण्ड चार, सं.–डॉ. निर्मला जैन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, पृ.सं.–48
2. उपनिवेश में स्त्री, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण–2003, पृ.सं.–80
3. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी भावना, उषा पांडेय, पृ.सं.–13
4. भारतीय साहित्य संस्कृति एवं कला, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ.सं.–92
5. भारतीय इतिहास में नारी, डॉ. सुरेन्द्र चन्द्र शुक्ल एवं अर्चना शुक्ल पृ.सं.–29
6. आधी दुनिया का अस्तित्व, सं.चन्द्रमोहन अग्रवाल, इंडियन पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, पृ.सं.–9
7. वही, पृ.सं.–9
8. स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं.–28
9. वहीं, पृ. सं.–37
10. वहीं, पृ.सं.–38
11. वहीं, पृ.सं.–27
12. वहीं, पृ.सं.–38
13. वहीं, पृ.सं.–39
14. वहीं, पृ.सं.–41
15. स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं.–41
16. वहीं, पृ.सं.–41
17. वहीं, पृ.सं.–48
18. वहीं, पृ.सं.–64
19. वहीं, पृ.सं.–73
20. वहीं, पृ.सं.–128
21. भारतीय इतिहास में नारी, डॉ. सुरेन्द्र चन्द्र शुक्ल एवं अर्चना शुक्ल, पृ.सं.–48
22. स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं.–130
23. वही, पृ.सं.–13
24. सुमन राजे, नया ज्ञानोदय, अप्रैल–2008, पृ.सं.–22

***

lkEiznkf;d nxk vkj ekr dk uxj

Jo.k dqekj xIrk*

जिन्दगी साहस, संघर्ष और हौसलों का नाम है। जहाँ साहस, संघर्ष और हौसला नहीं होता वहाँ जिन्दगी नहीं मौत बसती है। मौत जिससे हर कोई डरता है। मगर जिन्दगी डरने का नाम नहीं साहस का नाम है। किन्तु, जहाँ डर का ही साम्राज्य हो गया हो वहां जिन्दगी की संभावना मुश्किल ही है। अर्थात् वहाँ साहस, संघर्ष और हौसलों का नामों निशान नहीं होगा। वहां सिर्फ डर होगा। अमरकांत कृत 'मौत का नगर' कहानी इसी डर के साम्राज्य की कहानी है। साम्प्रदायिक दंगों के कारण हर कोई डरा हुआ है। सभी इसकी गिरफ्त में हैं। इस डर के अनेक उदाहरण इस कहानी में मौजूद है। जिसका चित्रण अमरकान्त ने बखूवी कला–कौशल से किया है ''कुछ कदम आगे बढ़ने पर वह ठिठक गया। उसके चेहरे पर एक घबराहट सी दिखाई देने लगी और उसने कान खड़े करके चारों ओर देखा। उसको लगा कि बाई ओर के सटे हुए मोहल्ले से एक शोर उठ रहा है और बहुत से लोग 'मारो–मारो' की आवाज करते हुए इधर ही दौड़े आ रहे हैं।''[1] डर का ऐसा चित्रण अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है। डर का यह उदाहरण अमरकान्त की सूक्ष्म और पैनी दृष्टि व मानव मनोविज्ञान पर पकड़ का परिचायक है।

डर को बढ़ाने में परिवेश की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। अमरकांत इस तथ्य से बखूबी परिचित हैं। इसलिए उन्होंने डर के सृजन के लिए परिवेश का ध्यान रखा है। परिवेश सम्बन्धी एक उदाहरण देखिए– '' कितना भयानक सन्नाटा था। उसमें एक छोटी–सी आवाज भीड़ के आक्रमण का आभास देती थी। काश, वह आज न आया होता!''[2] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अमरकांत परिवेश के चित्रण में भी कुशल चितेरे हैं। उनके द्वारा चित्रित परिवेश डर के बढ़ाने वाले हैं।

भारतीय इतिहास साम्प्रदायिक दंगों का इतिहास है। इतिहास का हर पन्ना साम्प्रदायिक दंगों के रंग से रंगा हुआ है। इस देश में जब तब होते रहे साम्प्रदायिक दंगों ने साहित्यकारों को गहरे तक झकझोरा है। इसीलिए लगभग हर भारतीय भाषा के साहित्य में साम्प्रदायिक दंगों पर लिखा जरूर गया है। साम्प्रदायिक दंगों के कारण, इन दंगों की वजह से समाज में व्याप्त अराजकता, ऐसे समय लोगों की होती मुहाल जिन्दगी, लोगों के बीच बढ़ता अविश्वास, आपसी प्रेम व भाई चारे का नाश, मौका परस्त लोगों द्वारा ऐसे समय पर अपना काम बना लेने की प्रवृत्ति और दंगों की आंच पर अपनी राजनीतिक रोटी सेंकने वाले लोगों का सच जैसी अनेक सच्चाइयाँ साम्प्रदायिक दंगों पर लिखे गये साहित्य में भरे पड़े हैं। किन्तु इन दंगों के बाद आम आदमी की क्या स्थिति होती है? उसकी जिन्दगी किन–किन कठिनाइयों से गुजरती है? इसको केन्द्र में रखकर बहुत कम या न के बराबर लिखा गया है। मौत का नगर कहानी एक ऐसी ही कहानी है। जिसमें साम्प्रदायिक दंगों के बाद आम आदमी की स्थिति, उसके जीवन की कठिनाइयाँ, स्वहा हो चुके प्रेम भाव का सच अभिव्यक्त हुई है।दंगों का प्रभाव समाज के हर वर्ग पर होता है लेकिन सबसे ज्यादा प्रभावित गरीब तबका ही होता है। इनमें भी वे लोग जो रोज कमाने खाने वाले होते हैं। क्योंकि दंगों के कारण लोग अपने घरों में दुबक जाते हैं। जिस कारण इन रोज कमाने खाने वालों की रोजी रोटी छिन जाती है। अमरकान्त की यह कहानी दंगों के समय गरीबों पर पड़ने वाले प्रभाव व उनकी दशा–दुर्दशा का यथार्थ परक अंकन करती हैं। ''सब गरीब मारे जाते हैं। रोज कमाने खाने वाला हूँ। तीन दिन से घर में कुछ नहीं बना।''

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

.....अपने तो भूखा रह सकता है आदमी, पर बच्चों को भूखा नहीं देखा जाता, जी। आज न आता तो क्या करता?''[3]

दंगों के समय गरीबों की दुर्दशा पर ऐसी ही टिप्पणी करते हुए रामचन्द्र तिवारी, भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस के आमुख' में लिखते हैं– '' दंगों में हमेशा गरीब ही मारे जाते हैं। अमीर और प्रभावशाली लोग गरीबों के मूल्य पर अपना राजनीतिक खेल खेलते हैं और परस्पर एक–दूसरे के हितों की रक्षा करते हैं।''[4] दंगों के समय स्वाहा हो चुके प्रेम भाव का भी एक उदाहरण देखिए–

'' कोई भी पाक–साफ नहीं हैं, जी। मेरे दो–तीन दोस्त हिन्दू हैं, पर अब वे आँखें नहीं मिलाते। झूठ क्यों कहूँ, मैं भी उनसे नजरें चुराता हूँ।''[5] गरीब और उसकी जीवन दशा अमरकांत के लेखन के केन्द्र में हमेशा रहते हैं। इस कहानी में ही नहीं अमरकान्त ने अपनी अन्य कहानियों में भी गरीबों का जीवन यथार्थ व उनका संघर्ष चित्रित किया है। एक उदाहरण 'दोपहर का भोजन' नामक कहानी से देखिए– ' रोटियों की थाली को भी उसने पास खींच लिया। उसमें केवल एक रोटी बची थी। मोटी, भद्दी और जली उस रोटी को वह जूठी थाली में रखने जा रही थी कि अचानक उसका ध्यान ओसारे में सोए प्रमोद की ओर आकर्षित हो गया। उसने लड़के को कुछ देर तक एक टक देखा, फिर रोटी को दो बराबर टुकड़ों में विभाजित कर दिया एक टुकड़े को तो अलग रख दिया और दूसरे टुकड़े को अपनी जूठी थाली में रख लिया। तदुपरान्त एक लोटा पानी लेकर खाने बैठ गई। उसने पहला ग्रास मुंह में रखा और तब न मालूम कहाँ से उसकी आँखों से टप–टप आंसू चूने लगे।''[6]

कहते हैं जिन्दगी से प्यारी कोई चीज नहीं है। हर इंसान इस अटल सत्य को जानता है कि एक दिन इस नश्वर संसार को अलविदा कहकर चले जाना है। लेकिन फिर भी वह मरते दम तक जीना नहीं छोड़ता। जिन्दगी की आखिरी सांस तक जीवन के लिए संघर्ष करता रहता है और संघर्ष करता हुआ ही इस दुनिया से चला जाता है। इसीलिए कहते हैं कि जिन्दगी संघर्ष का नाम है। 'मौत का नगर' कहानी इसी जीवन संघर्ष की गाथा है। साम्प्रदायिक दंगों की आग में जलता नगर मौत का नगर बन गया है। हर तरफ मौत का आतंक छाया हुआ है। कब और किधर से मौत अपना पंजा बढ़ाकर धर दबोचे कुछ पता नहीं। लेकिन जिन्दगी के लिए संघर्ष करता रामलाल अपने घर से बाहर शहर में, मौत के नगर में निकलता है। उसे इस बात का डर है कि अगर वह काम पर नहीं गया तो उसकी तनख्वाह कट जाएगी और यदि तनख्ववाह कट जाएगी तो जिन्दगी संकटपूर्ण हो जाएगी। इसीलिए वह डर और मौत को धता बताकर घर से निकलता है। ''काश, वह आज न आया होता! पर इसके बिना काम भी कैसे चल सकता था। वह सिविल लाइंस की एक छोटी सी दुकान पर काम करता था और काम पर लगातार न जाने से उसकी तनख्वाह कट रही थी।''[7]

साम्प्रदायिक दंगों में अफवाहों की बड़ी भूमिका होती है। अफवाहें दंगों की आग को भड़का देती हैं। कभी–कभी तो अफवाहें ही दंगों का कारण होती हैं। अमरकांत अफवाहों की इस भूमिका से भली–भांति परिचित हैं। इसीलिए उन्होंने इस कहानी में अफवाहों की इस भूमिका का सकुशल इस्तेमाल किया है। एक उदाहरण देखिए–

कोई खास बात ?'' उन तीनों में से एक ने होठों में ही भुनभुनाकर पूछा। ''स्टेशन के पास एक आदमी को छुरा लगा है।'' दूसरे ने सूचना दी।

'' हिन्दू है?''

'' नहीं, मोहमडन है।''

'' क्या हिम्मतगंज में किसी लड़की की लाश मिली है?''

''हाँ।''

'' मोहमडन है?''

''नहीं, हिन्दू है।''[8]

अफवाहों की ऐसी ही भूमिका की झलक तमस उपन्यास में भी देखने को मिलती है– ''बाहर से आने वाली अफवाहें बहुत बुरा असर पैदा कर रही हैं।''[9]

इन्हीं अफवाहों के कारण दंगा भड़कता है और लोग एक–दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। इस कहानी में अमरकांत ने इस सच को भी प्रस्तुत किया है। '' इसी समय बाई ओर से एक नौजवान दौड़ते हुए आया उसकी उम्र बीस से अधिक न होगी। वह जांघिया और बनियान पहने थे और उसके हाथ में एक छुरा था। पर राम की नजर उस पर पहले ही पड़ गई थी। ... वह नौजवान उसी को ओर दौड़ते हुए आया पर वह बड़ी फुर्ती से पीछे हट गया और नौजवान के आशंकित वार की जद से बच गया।''[10]

अफवाहों के कारण लोगों के बीच अविश्वास बढ़ता जाता है, जिस कारण दंगे और भड़क उठते हैं। लोग एक–दूसरे को शक की नजर से देखने लगते हैं। लोग जिसके साथ वर्षों से प्रेम व भाई चारे के साथ रहा करते हैं दंगों में उन्हें ही अपना दुश्मन मान बैठते हैं। क्योंकि रिश्तों का आधार विश्वास होता है और दंगों में यही विश्वास जलकर भस्म हो जाता है। ''कुछ लोग सहमें–सहमें इधर –उधर चक्कर लगा रहे थे। वे एक दूसरे से बच रहे थे, क्योंकि किसी का कुछ ठिकाना नहीं था। राम स्वयं दूसरों से बच रहा था।''[11] इसी तरह तमस उपन्यास में भी दंगों के समय बढ़ते अविश्वास के प्रभाव को दिखाया गया है– ''वे हमारे डर से असला इकट्ठा कर रहे हैं, और हम उनके डर से असला इकट्ठा कर रहे हैं.....''

^^e|lyekuk dk dkbZ ,rckj ugha gSA cSB tkvkA**
^^o ykx dgrs gS fd fl[kk dk dkbZ ,rckj ugha gSA**[12]

दंगों के समय जब हर तरफ अविश्वास का बादल छाया रहता है तब उसी अविश्वास के बादल से विश्वास बहाली की कोपलें फूटती हैं। धीरे–धीरे ही सही लोग एक दूसरे का विश्वास करना शुरू कर देते हैं और फिर स्थितियाँ सामान्य होती जाती हैं। रिक्शे में जब रामलाल मुसलमान के साथ बैठता है तो दोनों एक दूसरे को शक की निगाह से देखते हैं। लेकिन कुछ देर बाद उनके बीच वार्तालाप होने से उनकी गलतफहमियाँ दूर हो जाती हैं। राम लाल इस मुसलमान के बारे में सोचता है कि जिसको वह हत्यारा समझता था वह तो मेमने की तरह प्यारा है। ''वह कुछ देर पहले इसको हत्यारा समझता था, पर यह मेमने की तरह प्यारा है। मजीद का रिश्तेदार भी ऐसा ही था....''[13] मुसलमान भी रामलाल से आदाब अर्ज कहकर विदा लेता है–''..... अच्छा, आदाब अर्ज..... कभी मुलाकात होगी।''[14]

यहाँ अमरकांत ने बातचीत के महत्व को प्रकट किया है। क्योंकि किसी भी समस्या का समाधान बातचीत के द्वारा ही संभव है। दंगों के समय लोग एक दूसरे को शक की निगाह से देखने लगते हैं और उनमें वार्तालाप समाप्त हो जाता है, जिससे स्थितियाँ और भी विकट हो जाती हैं, किन्तु यदि लोग आपस में बातचीत कर समस्या को सुलझाने का प्रयास करें तो स्थितियां शीघ्र ही सामान्य हो जाती हैं। अमरकान्त ने रामलाल और मुसलमान के माध्यम से इसी तथ्य को प्रस्तुत किया है।

अमरकान्त जनता की एकता में विश्वास रखने वाले कथाकार हैं। उनका मानना है कि जनता एक होकर ही रहना चाहती है, किन्तु कुछ समाज विरोधी लोगों को जनता की यह एकता रास नहीं आती और वे जनता में फूट डालने, हिंसा फैलाने और दंगें भड़काने की कोशिशें करते हैं। लेकिन ऐसे समाज विरोधी लोग अपने मंसूबों में कभी सफल नहीं हो पाते हैं और छिटपुट घटनाओं के बाद जनता पुनः एक हो जाती है। इसीलिए अमरकान्त लिखते हैं–'' मोहल्ला जहाँ खत्म होता था, वहाँ ईंट की एक चहारदिवारी कुछ दूर तक चली गई थी। पर लोगों को अलग करने की कोशिशें सदा के लिए सफल नहीं होती और चहार– दिवारी को बीच में तोड़ तोड़कर कई रास्ते बना लिए गये थे। उधर वाला मोहल्ला मुसलमानों का था। अब आजादी के बाद दोनों मोहल्लों के लोग प्रेम से रहने लगे थे।''[15]

इस प्रकार अमरकान्त की यह कहानी साम्प्रदायिक दंगा और उसके प्रभाव को प्रशस्त रूप से अभिव्यक्त करने वाली कहानी है। अमरकान्त की यह कहानी साम्प्रदायिक दंगों के कारणों की पड़ताल करने के बजाय उसके प्रभाव को रेखांकित करने का प्रयास करती है। इन दंगों का सबसे ज्यादा प्रभाव गरीबों पर ही होता है। दंगों के समय लोग एक दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। लोगों के बीच

संवाद समाप्त हो जाते हैं, लेकिन हर समस्या का हल बातचीत से ही निकलता है। अमरकांत ने इस कहानी के माध्यम से इसी बात को स्पष्ट करने की कोशिश की है।

lanHkZ %

1. अमरकान्त , प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ– 30
2. वहीं,पृ0–34
3. वहीं, पृ0 36
4. भीष्म साहनी, तमस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ0–5
5. अमरकान्त , प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ– 36
6. सं0 रवीन्द्र कालिया, अमरकान्त की सम्पूर्ण कहानियाँ (प्रथम भाग), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2013, पृ–68
7. अमरकान्त , प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ– 34
8. वहीं, पृ0–31
9. भीष्म साहनी, तमस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ0–83
10. अमरकान्त , प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ– 34
11. वहीं, पृ0–35
12. भीष्म साहनी, तमस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ0–103
13. अमरकान्त , प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ– 37
14. वहीं, पृ0 37
15. वहीं, पृ0 31

***

fujkYkk d dk0; e lkekftd&pruk

f'ko dekj ;kno*

''भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का प्रभुत्व जमने से सामंती व्यवस्था को नयी जिंदगी मिली। जमींदार शूद्रों का शोषण करते थे और खुद अंग्रेजों से संरक्षण प्राप्त करने के लिए उनकी चापलूसी। अंग्रेजों के शासन में देशी सामंत और विदेशी पूँजीपति के दोहरे शोषण से भारत की निम्न जातियाँ भयानक रूप से त्रस्त हो उठीं। उनके इस त्रास ने निराला के मर्म को छू लिया था, उनके हृदय की समस्त करुणा इन दीन–जनों की ओर प्रवाहित हो गई थी।''[1]

निराला ऐसी सामाजिक व्यवस्था को धराशायी करने के लिए सक्रिय थे, जो समाज में ऊँच–नीच और जाति–पाँति तथा द्विज–शूद्र की नींव पर टिकी हुई है। इस व्यवस्था के प्रति उनका आक्रोश सहज और स्वाभाविक था, उसमें कहीं भी बनावटीपन नहीं था। ''निराला के चिन्तन की यह विशेषता थी कि उनके लिए सामाजिक क्रान्ति शुरू होती थी इन निम्न जातियों से और राजनीतिक आन्दोलन की सफलता के लिए वे इस सामाजिक क्रान्ति को अनिवार्य मानते थे। निराला के लिए जाति–प्रथा का विनाश और समानता के आधार पर समाज का पुनर्गठन एक राजनीतिक कर्तव्य था।''[2] आज की ग्रामीण–संस्कृति की ही तरह, और कदाचित् ज्यादा उग्र रूप में, निराला के समय ब्राह्मणों में श्रेष्ठता का भाव अत्यधिक था। वे स्वयं को अन्य जातियों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ और कुलीन मानते थे। निराला ने श्रेष्ठता के इस दावे को बहुत अधिक खोखला और बेबुनियाद माना। वे स्वामी दयानन्द के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं– ''पहले पढ़े–लिखे होने के कारण ब्राह्मणों ने श्लोकों की रचना कर–करके अपने लिए बहुत काफी गुंजाइश कर ली थी। उसी के परिणामस्वरूप वे आज तक पुजाते चले आ रहे हैं।''[3] जीवन में निराला को सम्भवतः अपने जाति–भाइयों से ही सर्वाधिक पीड़ा मिली थी। इसीलिए वे इनका उपहास भी सबसे अधिक करते हैं।

;s dkU;dCt dYk&dYkkxkj] [kkdj iÙkYk e dj Nn]
budr dj dU;k vFk [¨n] bl fo"k;&cfYk e fo"k gh QYk
;g nX/k e#LFkYk ugÈ lqtYk[4]

निराला की जाति–पाँति और ऊँच–नीच–विरोधी मनोवृत्ति का पता उनकी 'गर्म पकौड़ी' और 'प्रेम–संगीत' नामक कविताओं को देखने से भी लगता है। एक में कवि 'बाह्मन की पकाई घी की कचौड़ी' का तिरस्कार करता है, तो दूसरी में 'जाति की कहारिन' से प्रेम करता है, जो उसके घर की 'पनहारिन' है। इस तरह, निराला का दृष्टिकोण ऊँच–नीच, छुआछूत की संकीर्ण मान्यताओं को पूरी तरह ध्वस्त कर नए मूल्यों एवं मान्यताओं को प्रतिष्ठित करना था। जाति, धर्म, रूप और वर्णगत विभिन्नता निराला के प्रेम को खण्डित नहीं करती।

n¨u¨ ge fÒé o.k] fÒé tkfr] fÒé :i]
fÒé /ke&Òko] ij dOYk viuko lq] Ák.k¨ l ,d F¨A[5]

निराला की 'कुकुरमुत्ता' कविता में उनका 'सेकुलर' दृष्टिकोण बखूबी उभरा है। वे सामाजिक दृष्टि से अमीर और गरीब दो ही वर्ग मानते हैं। तभी तो नवाब के खिदमतगार एक परिवार के रूप में जीवन–यापन करते हैं और उनमें न किसी प्रकार की जातिगत भावना है न सम्प्रदायगत बोध–

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

[kkulkek] ckopÊ v©j p¨cnkj(flikgh lkb:l] fÒ'rh ?kM:lokj]
rketkuokY¨ d|N n:'kh dgkj] ukb] /k¨ch] r:Ykh] rEc¨Ykh] d|Egkj]
QhYkoku] Å:Voku] xkMhoku ,d [kklk fgUn&efLYke [kkunkuA
,d gh jLlh l: fdLer d¨ c/kk dkVrk Fkk ftUnxh fxjrk&l/kkA[6]

यही नहीं, मालिन की लड़की गोली और नव्वाबजादी बहार की प्रगाढ़ मैत्री दर्शाकर निराला ने ऊँच–नीच और जाति–पाँति की सारी दीवारें ढहाने का प्रयास किया है।

निराला के वर्ण–व्यवस्था–सम्बन्धी विचारों को लेकर कुछ आलोचकों ने उन पर आक्षेप किए हैं और यह दिखाने की चेष्टा की है कि जातिगत संकीर्णता तथा द्विज–संस्कृति की उच्चता या श्रेष्ठता में उनका विश्वास था। परन्तु, वास्तविकता भिन्न है। वर्ण–व्यवस्था को उन्होंने चिरन्तन माना है, जो जाति पर आधारित न होकर कर्म पर आधारित है और इससे किसी को विरोध भी नहीं हो सकता। ''निराला वर्ण–व्यवस्था की उपयोगिता अथवा व्यर्थता इतिहास के सन्दर्भ में देखते थे। उनका विचार था, किसी समय यह वर्ण–व्यवस्था आवश्यक थी और इस व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणों ने सांस्कृतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया था। किन्तु यह शताब्दियों से टूट रही थी और बीसवीं सदी में उसे पूरी तरह निर्मूल किए बिना सामाजिक प्रगति सम्भव न थी।''[7] यही नहीं, वर्ण–व्यवस्था के विरुद्ध निराला का एक प्रिय तर्क यह था कि पराधीन देश के नागरिकों में न ब्राह्मण होते हैं, न क्षत्रिय; दास होने के कारण वे सब समान रूप से शूद्र हो जाते हैं।[8]

वस्तुतः, निराला बड़े दूरदर्शी थे और उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक थी। वे सम्पूर्ण हिन्दू–समाज का उत्थान चाहते थे। हिन्दू–समाज की अधोस्थिति के संदर्भ में उनकी खिन्नता उनके लेखों से स्पष्ट रूप से उद्घाटित होती है। हिन्दू–जाति में फैली गंदगी और रूढ़िबद्धता का निर्मूलन करने के लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। ''आजकल हिन्दू–जाति के जीवन में जिस तरह की गंदगी भर गई है, उसको देखते सुधारकों का यह कहना अनेक स्थलों में सत्य है कि समाज की प्राचीन नालियों से होकर वह गंदगी बह नहीं सकती।''[9] निम्न जातियों के प्रति निराला की सहानुभूति उनके इस कथन से स्पष्ट है कि शूद्र–शक्तियों से यथार्थ भारतीयता की किरणें फूटेंगी। वे ही भविष्य के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं, और ब्राह्मण क्षत्रिय आदि दृप्त जातियाँ शूद्र।[10]

निराला के समय सामाजिक बंधन आज की तुलना में कहीं ज्यादा कठोर थे। अन्तरजातीय विवाहों को प्रायः मान्यता नहीं दी जाती थी और ऐसे परिवारों का हुक्का पानी बंद (सामाजिक बहिष्कार) कर दिया जाता था। तथापि, नये जागरण के कारण समाज करवटें बदलने लगा था। निराला ने इस सामाजिक परिवर्तन का तहेदिल से स्वागत किया– ''वर्तमान सामाजिक परिस्थिति पूर्ण मात्रा में उदार न होने पर भी विवाह आदि में जो उल्लंघन कहीं–कहीं देखने को मिलते हैं, वे भविष्य के ही शुद्ध चिह्न प्रकट कर रहे हैं।''[11]

निराला ने वर्ण–व्यवस्था की युगानुरूप व्याख्या की है। नयी व्यवस्था में जन्मगत जाति और वर्ण को प्रमुखता न होगी, बल्कि गुण और कर्म के आधार पर ही व्यक्ति का परिचय प्राप्त हो सकेगा। जाति की सारी परिकल्पना समाप्त हो जाएगी। उनके अनुसार, ''राजनीतिक तथा सामाजिक प्रवर्तनों से जो सच्चे मनुष्य निकलेंगे, वे ही यथार्थ नेताओं की तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की सृष्टि अपने गुण कर्मानुसार करेंगे और उस स्वतंत्र भारत में इस वर्ण–व्यवस्था से केवल परिचय ही प्राप्त होगा, ऊँच–नीच का निर्णय नहीं।''[12] ''उन्होंने ऊँच–नीच के भेदभाव को मिटाने का काम राजनीतिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया, राष्ट्रीय आन्दोलन की दृढ़ता के लिए उसे आवश्यक माना। दलितजनों के प्रति गहरी सहानुभूति प्रकट करते हुए उन्होंने मैत्री और भाईचारे के आधार पर उन्हें अपने बराबर आसन दिया।''[13]

अपने कथा–साहित्य में भी निराला ने जाति–प्रथा के खिलाफ जेहाद छेड़ा है। 'सुकुल की बीवी' में हिन्दू और मुसलमान में तथा 'लिली' में ब्राह्मण और लोध जाति में वैवाहिक सम्बन्ध का उल्लेख मिलता है। 'काले कारनामे' में भी जातिगत बंधनों के तोड़ने का प्रयास है। 'चतुरी चमार' में निराला की व्यापक मानवीय दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से उद्घाटित हुआ है। अपने पात्र रामकृष्ण का चतुरी के लड़के अर्जुन के प्रति सद्व्यवहार न देखकर वे उन्हें आड़े हाथों लेते हैं। इसी तरह, 'कुल्ली भाट' के चरित्र

को निराला ने केवल इसीलिए एक ऊँचाई प्रदान की है, क्योंकि इसमें मानवीयता है। कुल्ली हरिजनों के लिए स्कूल चलाते हैं, अतः वे निराला की सहानुभूति के पाष हैं।

निराला के नए सामाजिक मूल्यों को हम उनकी नारी–भावना में भी देख सकते हैं। निराला ने सदियों से उपेक्षित नारी को विराटता और औदात्य प्रदान किया है। जिस तरह शूद्रों को समान अवसर और समान सामाजिक दर्जा प्रदान करने के लिए निराला संघर्षरत रहे, उसी तरह नारी को भी वे पुरुष के समान एवं समकक्ष स्थापित करने का आजीवन प्रयास करते रहे। वस्तुतः, उनका नारी–दृष्टिकोण बड़ा ही स्वस्थ रहा है। वे नारी के पतन के लिए पुरुष के अहं और उसके श्रेष्ठता–भाव को ही दोषी ठहराते हैं। स्त्रियों की स्वाधीनता को छीनने के लिए पुरुष ही दोषी है। निराला के अनुसार पुरुष अपने दृष्टिकोण में बड़ा संकुचित है, क्योंकि ''हम सबकी स्त्रियों की तरफ देखें, हंसी–मजाक करें, पर हमारी स्त्री दिन–रात हमारे ही ध्यान में डूबी रहे।''[14]

निराला का विचार है कि नारी कभी कोमलता की प्रतीक रही होगी, परन्तु आज की आवश्यकता को देखते हुए उसे पुरुष के समान ही जीवन–क्षेत्र में उतरना चाहिए। उनमें कोमल और कठोर दोनों भावों का समान रूप से विकास होना चाहिए। निराला के शब्दों में, ''अब दोनों के लिए एक ही धर्म होना चाहिए। पुरुष के अभाव में स्त्री हाथ समेट कर निश्चेष्ट बैठी न रहे। उपार्जन से लेकर संतान–पालन, गृह–कार्य आदि वह संभाल सके, ऐसा रूप, ऐसी शिक्षा उसे मिलनी चाहिए। पहले दोनों के भाव और कार्य अलग–अलग थे, अब दोनों के भाव और कार्यों का एक ही में साम्य होना आवश्यक है। इस तरह गार्हस्थ्य धर्म में स्वतंत्रता बढ़ेगी।''[15]

निराला स्त्रियों के साथ व्यवहार में पुरुष–वर्ग की रूढ़िबद्धता और शोषण–प्रवृत्ति के सख्त खिलाफ थे। वे चाहते थे कि समाज में स्त्रियों को वही मान्यता मिले, जो पुरुषों को मिलती है। वे किसी प्रकार अपने को हीन न मानें। निराला की यह चिन्ता उनके इस कथन से साफ झलकती है– ''प्राचीन शीर्णता ने नवीन भारत की शक्ति को मृत्यु की ही तरह घेर रखा है। घर की छोटी–सी सीमा में बंधी हुई स्त्रियाँ आज अपने अधिकार, अपना गौरव, देश तथा समाज के प्रति अपना कर्तव्य, सब कुछ भूली हुई हैं। उनके साथ जो पाशविक अत्याचार किए जाते हैं उनका कोई प्रतिकार नहीं होता। वे चुपचाप आँसुओं के घूँट पीकर रह जाती हैं। उनका जीवन एक अभिशप्त का जीवन बन रहा है।''[16]

स्त्रियाँ अपने निर्वासन से बाहर आएँ और सामाजिक दायित्वों को बिना किसी भय या आशंका के निभाएँ, इसके लिए निराला ने उचित शिक्षा–दीक्षा अनिवार्य माना। इस विषय पर खेद प्रकट किया कि ग्रामीण क्षेत्रों में इस तरह की कोई सुविधाएँ नहीं हैं। निराला का व्यवहारिक सुझाव था– ''हर एक गाँव से प्रतिदिन जितनी भीख निकलती है, यदि उतना अन्न रोज एकत्र कर लिया जाय, तो गाँव में ही एक छोटी–सी पाठशाला खोल दी जा सकती है। एक शिक्षक की गुजर उससे हो जाएगी। अविद्या का जो यह प्रबल मोल फैला हुआ है, यह न रह जाएगा। बालिकाओं के लिखने–पढ़ने का गाँव में ही प्रबन्ध हो सकता है।''[17]

नारी–जाति की स्वतंत्रता छीनने और उसे घर की चहारदीवारी में कैद करने के निराला विरोधी थे। वे चाहते थे कि स्षियाँ पूरी तरह मुक्त हों और उन पर किसी प्रकार का अनुचित नियंत्रण न हो। उचित शिक्षा के माध्यम से उनमें सही विवेक पैदा किया जाय। बदली हुई परिस्थिति के अनुरूप नारी के रूप में परिवर्तन आना जरूरी है। ''अब घर के कोने में समाज तथा धर्म की साधना नहीं हो सकती। जमाने ने रुख बदल दिया है। हमारे देश की लड़कियों पर बड़े–बड़े उत्तरदायित्व आ पड़े हैं। उन्हें वायु की तरह मुक्त रखने में ही हमारा कल्याण है। तभी वे जाति, धर्म तथा समाज के लिए कुछ कर सकेंगी।''[18]

निराला ने पर्दा–प्रथा का भी घोर विरोध किया है। वे कहते हैं– ''आज तक जितने अत्याचार, बलात्कार आदि हुए हैं, वे सब पर्दानशीन स्त्रियों पर हुए हैं। पर्दे के भीतर जितनी तीव्रता से दृष्टि प्रवेश करना चाहती है, खुले मुख पर उतनी तीव्रता से दृष्टि आक्रमण नहीं करती। पाशविक प्रवृत्तियाँ अंधकार में ही प्रबल वेग धारण करती है। प्रकाश को देखकर वे दब जाती हैं, उनका साहस नहीं होता। इसलिए स्त्रियों को हर बात में प्रकाश के सम्मुखीन करना चाहिए।''[19] ''हमारे देश के लोग इस समय आधे हाथों

से काम करते हैं। उनके आधे हाथ निष्क्रिय हैं। जब स्त्रियों के भी हाथ काम में लग जाएंगे, कार्य की सफलता तभी प्राप्त होगी। अभी जो काम स्त्रियाँ करती हैं, वह काम नहीं, वे संस्कारों का प्रवर्तन है।''[20]

भारतीय नारी कहीं भी गुमराह न होने पाए, अपने आदर्शों से च्युत न हो, निराला को इस बात का बराबर ध्यान रहा है। मानसिक दृष्टि से उसका विकास हो, शिक्षा–दीक्षा अच्छी मिले, जिससे वह अपने घर और बाहर की जिम्मेदारियों को साहसपूर्ण ढंग से वहन कर सके, परन्तु पश्चिम की नकल न करे, इस ओर निराला ने आगाह किया है। पश्चिम की भोंड़ी नकल करने वाली महिलाओं को फटकारते हुए वे कहते हैं– ''वे इतनी बहिर्मुख तथा दूसरे राष्ट्रों की ऐश्वर्यवती महिलाओं के रूप–रंग, हाव–भाव, केश–वेश आदि की तरफ बढ़ी हुई हैं कि उन्हें अपनी आत्मा की ज्योति की तरफ देखने को अवकाश ही नहीं मिलता।''[21]

निराला के काव्य को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि वे अपने कवि–जीवन के प्रारम्भ से ही नारी के चित्रण में सचेष्ट रहे हैं। उदाहरण के लिए परिमल की विधवा और बहू कविताएँ उल्लेखनीय हैं। भारत में विधवा का सामाजिक स्तर बड़ा निम्न होता है और प्रायः वह अत्यंत असहाय, करुण स्थिति में होती है। प्रायः लोग उसे लांछित ही करते हैं। निराला ने विधवा का अत्यंत उदात्त चित्र खींचा है। उसे न तो कोई धैर्य देने वाला है और न उसके दुःखभार को बंटाने वाला है। तथापि, वह दीप–शिखा–सी शान्त है और अपने इष्टदेव के मंदिर में पूजा–सी है–

> og b"Vno d efUnj dh itk&lh og nhi&f'k[kk&lh 'kkUr] Òko e Ykhu]
> og Øj dkYk&rk.Mo dh Lefr j[kk&lh og VV r# dh NVh Ykrk&lh nhu&
> nfYkr Òkjr dh gh fo/kok gA[22]

इस कविता से पाठकों के मन में विधवा के प्रति करुणा और श्रद्धा का भाव जागृत होता है। करुणा का भाव उसकी दयनीय दशा को देखकर जागृत होता है, जबकि श्रद्धा उसके तपश्चरिता रूप के कारण पैदा होती है। उसका चित्र साधनारत, त्यागमूर्ति नारी का प्रतिनिधित्व करता है। विधवा के विषय में युग–युग से चली आती कुत्सित धारणा को निराला ने निर्मूल कर दिया है। भारतीय विधवा लांछन की प्रतीक, अमंगल की मूल, अपशकुन की उद्‌गम, कलंक की कलमुंही और दुश्चरित्रता की पुंज समझी जाती थी। 'इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी' प्रतिष्ठित करके निराला जी ने उसे श्रद्धा की अधिकारिणी बनाया।[23]

'बहू' कविता में भी निराला ने नारी का बड़ा ही उदात्त चित्र खींचा है। वह अपने पति के प्रति समर्पित और निष्काम है। यद्यपि वह अप्रतिम सौन्दर्य की स्वामिनी है, तथापि उसमें उच्छृंखला या उद्दामता का संस्पर्श तक नहीं। उसमें स्त्रियोचित लज्जा और संकोच है, किसी प्रकार का वासनाजन्य आवेग दिखाई नहीं पड़ता। उसमें अपने सौन्दर्य का दर्प नहीं, बल्कि सहजता है। इसीलिए नव–बसन्त की कोमल लता होने के बावजूद, वह अवनत है–

> l©Un;&lj¨oj dh og ,d rjx] fdUr ugÈ pPYk Áokg& mÌke ox&
> lidfpr ,d YkfTtr xhr g og fÁ; lehj d lxA
> uo&olUr dh fdlYk;&d¨eYk Ykrk] fdlh foVi d vkJ; e edfYkrk
> fdUr vourkA[24]

बहू का यह चित्र दाम्पत्य–जीवन का भरा–पूरा तथा अखण्डित चिष है। एक आलोचक के शब्दों में निराला 'बहू कविता में सौन्दर्य छवि या रूपवगर्विता का स्वरूप ही प्रस्तुत नहीं करते, उसका शील, सौकुमार्य और उज्ज्वल भावनामय हृदय भी चित्रित करते हैं। उसका पतिव्रत धर्म भी अंकित है। वासना का आवेग प्रेम को कलुषित नहीं कर रहा है। वह निम्नमुखी स्निग्ध मुस्कान से निष्काम प्रेम का अर्थ व्यक्त करती है।[25] इस तरह, निराला की बहू विलास–कामिनी, वासना– तृषित नहीं है, वरन् प्रेम की सुविधा और शान्ति–सुख की धार बहाने वाली है।[26]

परन्तु, 'बहू कविता से यह अभिप्राय न लगाना चाहिए कि निराला नारी के केवल एकपक्षीय समर्पण के ही हिमायती हैं। वे नारी को मुक्त रखने के प्रबल समर्थक हैं। वे नहीं चाहते कि नारी, पुरुष

की दासी रहे। नारी–मुक्ति और नारी–जागरण के निराला के काव्य में एकाधिक चित्र मिलते हैं। जिस तरह निराला कविता की मुक्ति की बात करते हैं, उसी तरह नारी–मुक्ति की। वे परम्परागत अवरोधों को मिटाकर पार्वती–रूपी नारी को स्वाधीन करना चाहते हैं, क्योंकि सत्य, शिव और सुन्दर की स्थापना इसके बिना असम्भव है–

r¨M¨] r¨M¨] r¨M¨ dkjk iRFkj dh] fudYkh fQj] xxk&tYk&/kkjkA
xg&xg dh ikoirhA iuk lR;&lUnj&f'ko d¨ lokjrh mj&mj dh cuh vkjrhA[27]

निराला की नारी–भावना का सार्थक उद्घाटन 'तोड़ती पत्थर' कविता के उल्लेख के बिना नहीं हो सकता। अपने कलेवर में छोटी होने के बावजूद यह कविता महाकाव्यात्मक है। आलोचक रमेश कुंतल मेघ का यह कथन कि आधुनिकता की विशाल फसल को समेटे हुए यह कविता महाकाव्यात्मक हो सकती [28] सही है– ''इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ने वाली का चित्र उतना ही उदात्त है, जितना 'परिमल' की 'विधवा' लेकिन वहाँ वह व्यंग्य और तीव्र शर–संधान नहीं है, जो 'तोड़ती पत्थर' में है।''[29] इस कविता में नारी के प्रति निराला की सहज संवेदना एवं सहानुभूति प्रकट हुई है। उसके श्रम एवं संघर्ष को उदात्त पीठिका प्रदान की गई है। यहाँ 'पत्थर' रूढ़िग्रस्त सामाजिकता का प्रतीक है, जिसमें श्रम करने वाले उपेक्षित निराश्रित हैं। श्रमिक के हाथ में हथौड़ा केवल पत्थर नहीं तोड़ रहा है, बल्कि उस अगतिक विषमताग्रस्त व्यवस्था को भी तोड़ रहा है, जिसके प्रतीक बड़े–बड़े महल और अट्टालिकाएँ हैं।[30]

निराला के लिए नारी श्रद्धा की वस्तु रही है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, उसके श्रृंगार और लौकिक प्रेम के सारे चित्र स्वकीया के हैं, कहीं भी परकीया के नहीं। साथ ही, उनमें पारिवारिक वातावरण का चित्रण है और कहीं भी स्खलन और मर्यादा का हनन नहीं है। श्रृंगार की अधिकांश कविताओं का दार्शनिक पर्यवसान करके निराला ने ऐसी कविताओं को एक ऊँचा धरातल प्रदान किया है। नारी, पुरुष को सदैव सही मार्ग की ओर प्रेरित करती रही है और स्वयं जागृत रहकर उसे गुमराह होने से बचाती रही है–

:i d }kj ij e¨g dh ek/kjh
fdru gh ckj ih efPNr g, g¨] fÁ;] tkxrh e jgh]
xg ckg] ckg e Òjdj lÒkYkk rEgA[31]

निराला के श्रृंगार–चित्रों की उदात्तता को देखकर ही आचार्य वाजपेयी ने कहा है– ''निराला जी का श्रृंगार सर्वत्र संयमित है, काव्य में प्रत्येक प्रकार का श्रृंगार वर्णन करते हुए भी निराला जी की व्यक्तित्व कहीं भी शारीरिक अथवा मानसिक दौर्बल्य से आक्रान्त नहीं दीख पड़ता। आधुनिक हिन्दी के किसी भी कवि के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती।''[32]

नारी को निराला ने सदैव उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। वह निराला के लिए काम–कामिनी न होकर सहज स्वामिनी है–

dke dkfeuh dÒh ugÊ re] lgt Lokfeuh lnk jg¨ re]
Lox&nkfeuh unh cg¨ re] vu;u u;u&u;u dh g¨ reA[33]

कुल मिलाकर, निराला की नारी सहज–सामान्य और यथार्थ नारी है। गंगाप्रसाद पाण्डेय के मतानुसार, निराला का नारी–बोध करुणा पर आश्रित है, जबकि पंत के लिए नारी रहस्य की वस्तु है। पंत ने नारी–रूप को केवल उसकी कमनीयता के कामिनी रूप में ही देखा है, किन्तु निराला का नारी–दर्शन अधिक सूक्ष्म और स्वस्थ है।[34] निराला के यहाँ नारी का अत्यन्त भव्य, विराट् एवं उदात्त रूप है। वह भारतीय संस्कृति की संवाहिका है। एक आलोचक का यह कहना बिल्कुल सही है कि संस्कृति के सूत्र नारी के हाथों में देखकर निराला निश्चिंत हो गए हैं, क्योंकि वही अपने चैतन्य से पुरुष की जड़ता को चुनौती दे सकती है।[35]

'चोटी की पकड़' उपन्यास में भी निराला ने राजा–महाराजाओं की शोषण–वृत्ति की निन्दा की है। निराला के शब्दों में, यह इमारत, जमींदारी, हीरे–मोती, जवाहरात, चमक–दमक, रूप–रंग–कुल

बनावटी। इनकी असली सूरत कुछ और है। यह स्वर्ग दिखता हुआ दृश्य नरक है। ये राजे–महाराजे राक्षस।'[36] निराला के कथा–साहित्य में क्रान्तिकारियों का व्यापक रूप से चित्रण मिलता है। इन क्रान्तिकारियों का कार्यक्षेत्र गाँव है। निराला की क्रान्ति की सार्थकता है किसानों की मुक्ति में। अंग्रेजी राज और जमींदारी शासन के दोहरे उत्पीड़न से जो किसान को मुक्त करे, वही सच्चा किसान है।[37] निराला के उपन्यासों में किसानों को संगठित करने के दृश्य प्रायः उपस्थित रहते हैं। उदाहरण के लिए, 'अप्सरा' में चन्दन और 'अल्का' में विजय किसानों को संगठित करने का कार्य करते हैं। 'चतुरी चमार' के चतुरी गरीब और शोषित किसान हैं, उन्हें जमींदार के सिपाही को साल में एक जोड़ा जूता मुफ्त में देना पड़ता है। परन्तु, ऐसा करने वाले वे अकेले नहीं हैं। पंचम और भगत नामक चमार भी यही करते हैं। चतुरी में अपने अधिकारों के प्रति जागृति आती है और वह मुकदमा लड़ता है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' के बिल्लेसुर भी निर्धन, परन्तु मशक्कती किसान हैं। बकरी–पालन के माध्यम से जीविकोपार्जन करते हैं और अपना ब्याह रचते हैं।

किसानों के शोषण और उन पर निरंतर कसते हुए दमन–चक्र का वर्णन निराला ने 'सुधा' के अंकों में भी किया है। रामविलास शर्मा के अनुसार– ''निराला ने अपना ध्यान केन्द्रित किया समाज के उस वर्ग पर जिसे दासता से सबसे अधिक कष्ट था, भारत के उन किसानों पर जो सोलहों आने विवश थे। इनमें भी जो सबसे दलित, निर्धन, भूमिहीन, जमींदार की बेगार करने वाले किसान थे, उनके प्रति निराला की सहानुभूति सबसे ज्यादा थी।

निराला के काव्य–साहित्य पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट पता चलता है कि किसानों के प्रति उनकी सहानुभूति और संवेदना प्रारम्भिक काल से ही हो रही है और इसमें निरन्तर प्रौढ़ता आई है। किसान–संवेदना का पता उनकी 'बादल–राग' कविता से स्पष्ट रूप से चल जाता है। आर्थिक मारों से पीड़ित किसान का शरीर पूरी तरह जर्जर हो गया है। बादल से वह परित्राण की आशा करता है। बादल यहाँ क्रान्ति और विप्लव का प्रतीक है। सामंतों और ताल्लुकेदारों ने किसान का बुरी तरह शोषण किया है। उसका सम्पूर्ण स्वत्व समाप्त हो गया है। अब उसका एक–माष सम्बल बादल (क्रान्ति वीर) है, जो शोषण और अन्याय से राहत दिला सकता है–

th.k ckgj] g 'kh.k 'kjhj] r> cYkkrk Ñ"kd v/khj ,s folYko d ohj!
pl fYk;k g mldk lkj] gkM&ek"k gh g vk/kkj] ,s thou d ikjkokjA[38]

निराला ने आर्थिक दृष्टि से त्रस्त किसान का बड़ा यथार्थ चित्रण कई कविताओं में किया है। महंगाई बढ़ रही है। भूखे–नंगे किसान जवाहरलाल–जैसे नेता से राहत की आस लगाए बैठे हैं, परन्तु उनका आगमन नहीं हुआ। अतः किसान की वेदना और टीस में अत्यधिक तीक्ष्णता आ गई है–

egxkbZ dh ck< c< vkbZ] xkSB dh NVh xk<h dekbZ]
Òj["&uxs [kM 'kjek,] u vk, ohj tokgjYkkYkA
dl ge cp ik,s fugRF"] cgrs x, gekjs tRF"]
jkg nsk[krs g Òjek;s] u vk;s tokgjYkkYkA[39]

जब देशी नेता ही मदद से कतरा जाएँ, तो जनता पर जुल्मों की मार और बढ़ने लगती है। फिर कहाँ निरीह और बेसहारा जनता और कहाँ पूरी तरह शक्ति–सम्पन्न अंग्रेजी शासन। निराला ने किसानों और मजदूरों को तथा गाँव की भोलीभाली गरीब जनता को एक करके देखा है। उन सबकी तकलीफें और कष्ट एक हैं। सभी समान रूप से पूँजीपतियों और सामंतों द्वारा शोषित हैं। सभी साम्राज्यवादी शक्तियों के जुल्मों के शिकार हैं। इन सबका वर्ग एक ही है। ऐसे किसान–मजदूरों के अगर 'वेश–रूखे' और 'अधर–सूखे' हों तो कोई आश्चर्य नहीं–

o'k&#["] v/kj&l["] iV&Ò["] vkt vk;sA
ghu&thou] nhu&fprou] {kh.k vkYkEcu cuk;sA[40]

परन्तु, ऐसी जनता में अपार शक्ति भी छिपी हुई है। अगर ये शोषित जन अपने संगठित रूप में आ जाएँ तो बड़े–बड़े मुकुट लुण्ठित हो जाते हैं–

tx x;h turk] g, Ykf.Br ed V] thou lgk;A[41]

निराला अपनी कविताओं में आर्थिक प्रश्नों को बार–बार उठाते हैं और इसके लिए कई सन्दर्भ खोजते हैं। आर्थिक असमानता के कारण ही समाज का एक वर्ग भिक्षुक–वृत्ति के लिए मजबूर हो जाता है। आर्थिक और सामाजिक कारणों की वजह से ही 'कानी' का विवाह करना एक बहुत बड़ी समस्या है। अर्थाभाव के कारण ही मजदूरिनी पत्थर तोड़ती है। इस तरह, समाज के श्रमिक वर्ग और किसान–वर्ग की आर्थिक–सामाजिक समस्याओं में निकट का साम्य है। समाज के दीन–हीन और उपेक्षित वर्ग के प्रति निराला की सहानुभूति और संवेदना का पता उनके 'परिमल' काव्य–संग्रह से ही लगने लगता है। वस्तुतः, उपेक्षित के उन्नयन का जो प्रयास निराला के काव्य में उपलब्ध होता है, वह निराला के सुविचारित संकल्प की देन है। निराला ने ब्रह्म–प्राप्ति की तुलना में इस संसार को प्राप्त करना ज्यादा श्रेयस्कर माना है। वे इस मानवीय और भौतिक जगत को इसकी सम्पूर्णता में देखना और चित्रित करना चाहते हैं, भले ही उनका अधिवास (ब्रह्म–प्राप्ति का लक्ष्य) छूट जाए। उनमें करुणा और संवेदना शेष है, अतः संसार से मुख मोड़ने के लिए वे कदापि तैयार नहीं। निराला का इस सम्बन्ध में 'मैं' शैली अपनाने का दावा बिल्कुल सही है, क्योंकि अपने समकालीन रचनाकारों की तुलना में वे कहीं ज्यादा मानववादी हैं–

eu ^e* viuk;h] n[kk n%[kh ,d fut Òkb]
n%[k dh Nk;k iMh ân; e ej] >V meM onuk vk;hA[42]

आर्थिक असमानता और निर्धनता की पराकाष्ठा के दर्शन हमें 'भिक्षुक' कविता में होते हैं। चित्र बड़ा ही 'ग्राफिक' और मानवीय संवेदना को तरल बनाने वाला है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पूँजीवादी उपभोक्ता संस्कृति में मानव की नियति क्या है। फटी–पुरानी झोली लेकर भीख माँगने वाले भिक्षुक को देख किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के हृदय के दो टुकड़े हो सकते हैं, विशेषकर उस स्थिति में जब भिक्षुक अकेला न होकर दो मासूम बच्चों के साथ हो–

lkFk n¨ cPp Òh g lnk gkFk QYkk;] ck; l o eYkr g, iV d¨ pYkr]
v©j nkfguk n;k&nf"V iku dh v¨j c<k;A
Òk[k l l[k v¨B tc tkr nkrk&ÒkX;&fo/kkrk l D;k ikr\
?kV vkl v¨ d ihdj jg tkrA
pkV jg tBh iÙkYk o lÒh lMd ij [kM g,]
v©j >iV Y¨u d¨ mul dÙ¨ Òh g vM g,A[43]

भिक्षुक के सम्बन्ध में निराला ने एक और कविता लिखी है, जिसमें भी उसकी दयनीय स्थिति और सामाजिक उपेक्षा का चित्रण किया गया है–

Òh[k ekxrk g vc jkg ij] eÎh Òj gÏh dk ;g ujA

निराला ने 'दीन' कविता में दीन–दुःखी व्यक्ति की असहायता का चित्रण किया है। उसे जीवन में निरंकुश उत्पीड़नों को सहन करना पड़ता है। हृदय भग्न हो जाता है और सहायता की आशा क्षीण हो जाती है, फिर भी सारी कठिनाइयों को वह कर्मवीर झेल जाता है–

lg tkr g¨ mRihMu dh ØhMk lnk fujd'k uXu]
ân; rEgkjk ncYk g¨rk ÒXu]
vfUre vk'kk d dku¨ e LifUnr ge&lcd Ák.k¨ e
viu Mj dh rlr 0;Fkk,]
dg tkr g¨ v©j txr dh v¨j rkd dj
n%[k] ân; dk {k¨Ò R;kx dj]
lg tkr g¨A[44]

दान का कितना कुत्सित रूप समाज में प्रचलित है, इसका निदर्शन निराला ने 'दान' कविता में किया है। यहाँ राम–भक्त ब्राह्मण द्वारा एक कंकाल–शेष भिक्षु मानव की उपेक्षा करते हुए बंदरों को

पुए खिलाते हैं। इस भिक्षु के शरीर में केवल प्राण शेष हैं। इस कविता में समाज में प्रचलित कुत्सित पूँजीवाद का चित्र साफ उभरता है। यह मृत्यु–प्राय नर कितना दुर्बल और शरीर से क्षीण है, इसका चित्र अत्यंत हृदय–विदारक है–

,d v¨j iFk dk] Ñ'kdk; dkdkYk'¨"k uj eR;&Ák;]
cBk l'kjhj nU; ncYk fÒ{kk d¨ mBh nf"V fu'pYk
vfr {kh.k d.B g] rho 'okl thrk T;¨ thou ls mnkl A[45]

अमीर और गरीब के बीच बढ़ता हुआ अंतराल निराला की संवेदना को निरन्तर कचोटता रहा है। पैसे और सम्पन्नता के कारण शोषक व्यक्ति समाज के निचले और गरीब तबके के सामने अपने वैभव का प्रदर्शन करता है, अपना रोब जमाता है, इस तथ्य को भी निराला ने अपनी कविता में नजरअंदाज नहीं किया है। ऐसे व्यक्तियों को सचेत करता हुआ कवि कहता है–

N¨M n¨] thou ;¨ u eYk¨A ,B vdM mld iFk ls re
jFk ij ;¨ u pYk¨
feYkk rEg] lp g vikj /ku] ik;k Ñ'k mlu dlk ruA
D;k re fueYk ogh vikou\ l¨p¨ Òh] lÒYk¨A[46]

उपेक्षित और दीन–हीन के प्रति निराला ने 'तुलसीदास' में भी अपनी सहानुभूति व्यक्त की है। शूद्रों को समाज में पूरी तरह उपेक्षित समझा जाता है। वे विदेशी शासन के जुल्मों से सर्वाधिक प्रभावित हैं। किसी तरह जीवनयापन करना ही उनका उद्देश्य है। जिस तरह रण के अश्व लहलहाती फसलों को बड़ी निर्ममतापूर्वक रौंदते चले जाते हैं, उसी तरह उनका शोषण बिना किसी कोर–कसर के किया जा रहा है।

lnÒ %

1. डॉ0 रामविलास शर्मा– निराला की साहित्य साधना–2, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण 1972, आवृत्ति 2011, पृ0 29
2. वहीं, पृ0 29
3. निराला–प्रबंध–प्रतिमा, भारती भण्डार, इलाहाबाद 1981, पृ0 38
4. निराला रचनावली–1, (सं0) नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ संस्करण 2009, पृ0 221
5. निराला, अनामिका, पृ0 8
6. निराला रचनावली–2, (सं0) नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ संस्करण 2009, पृ0 55
7. डॉ0 रामविलास शर्मा– निराला की साहित्य–साधना–2, पृ0 31
8. वहीं, पृ0 32
9. निराला– प्रबंध–प्रतिमा, भारती भण्डार, इलाहाबाद 1981, पृ0 171
10. वहीं, पृ0 172
11. वहीं, पृ0 180
12. वहीं, पृ0 255
13. डॉ0 रामविलास शर्मा– निराला की साहित्य–साधना–2, पृ0 34
14. निराला– प्रबंध–प्रतिमा, भारती भंडार, इलाहाबाद 1981, पृ0 98
15. वहीं, पृ0 89
16. वहीं, पृ0 90
17. वहीं, पृ0 90
18. वहीं, पृ0 91
19. वहीं, पृ0 91
20. वहीं, पृ0 91–92
21. वहीं, पृ0 111
22. निराला रचनावली, भाग–1, (सं0) नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ संस्करण 2009, पृ0 72
23. डॉ0 जयनाथ नलिन– काव्यपुरुष निराला, आलोक प्रकाशन, कुरुक्षेत्र 1970, पृ0 221
24. निराला रचनावली, भाग–1, (सं0) नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ संस्करण 2009, पृ0 95
25. डॉ0 संतोष कुमार तिवारी– छायावादी काव्य की प्रगतिशील चेतना, पृ0 127

26. डॉ0 जयनाथ 'नलिन'– काव्यपुरुष निराला, पृ0 221
27. निराला रचनावली, भाग–1, (सं0) नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ संस्करण 2009, पृ0 360
28. डॉ0 रमेश कुंतल मेघ– क्योंकि समय एक शब्द है, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 420
29. डॉ0 धनंजय वर्मा– निराला–काव्य : पुनर्मूल्यांकन, पृ0 147
30. डॉ0 विजयबहादुर सिंह– वृहत्त्रयी, मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लि0, दिल्ली 1975, पृ0 64
31. निराला रचनावली, भाग–1, (सं0) नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ संस्करण 2009, पृ0 328–329
32. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी– कवि निराला, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पहला पेपर बैक संस्करण 2015, पृ0 30
33. निराला– अर्चना, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1979, पृ0 18
34. गंगाप्रसाद पाण्डेय– महाप्राण निराला, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1968, पृ0 45
35. रामरतन भटनागर– निराला और नवजागरण, साथी प्रकाशन, सागर 1965, पृ0 346
36. निराला– चोटी की पकड़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1984, पृ0 51
37. डॉ0 रामविलास शर्मा– निराला की साहित्य–साधना–2, पृ0 22
38. निराला रचनावली–1, पृ0 136
39. निराला– राग–विराग, सम्पादक– रामविलास शर्मा, लोक भारती प्रकाशन, संस्करण 2012, पृ0 123
40. वहीं, पृ0 135
41. वहीं, पृ0 135
42. वहीं, पृ0 62
43. निराला रचनावली, भाग–1, (सं0) नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ संस्करण 2009, पृ0 77
44. वहीं, पृ0 136
45. निराला–अनामिका
46. निराला–गीतिका

***

21oh lnh dh iEe[k dof;f=;k dh fgUnh dfork e efgyk l'kfDrdj.k

'ork vxoky*
MkO enu tk'kh**

सदियों से पुरुषसत्तात्मक समाज में स्त्रियों के साथ शोषण, अपमान, तिरस्कार किया जाता रहा है, जिस कारण दुःख, पीड़ा, घुटन, बेबसी सहते हुए दोयम दर्जे को प्राप्त स्त्रियाँ जिसके लिए यदि निम्न पंक्तियाँ कहें तो कुछ अनुचित न होगा –

^^vkj fo/kkrk] fourh d:] i# ib;k ckjEckj
vxy tue ekg fcfV;k u dhtk] pkg ujd e nhtk MkjA**[1]

बदलते समय के साथ–साथ नारी स्वयं की स्थिति को सुदृढ़ करने में प्रयत्नरत हुई और परिणामस्वरूप वह स्वयं को हर प्रकार से सक्षम बनाने में सफल होने लगी। 'सक्षम' शब्द कठिन लगता है, इस शब्द का अर्थ विस्तृत एवं विविध हो सकता है। शारीरिक, मानसिक और आर्थिक क्षमता को पहचान कर उस मार्ग पर क्रमण करना ही शायद सक्षमीकरण की प्रक्रिया हो सकती है।''[2]

साहित्य में भी स्त्री अपने होने का एहसास दिलाती हुई, इस क्षेत्र में भी पुरुष–प्रधान मानसिकता को चुनौती देने लगी और अपने विचारों को व्यक्त करने लगी जिसने साहित्य में 'स्त्री–विमर्श' को स्थान दिया। 'स्त्री–विमर्श' के चलते 'स्त्री–सशक्तिकरण' का नारा लगाया गया। स्त्री सशक्तिकरण से पहले 'सशक्तिकरण' से क्या आशय है ? समझना आवश्यक है। साधारणतः सशक्तिकरण का अर्थ होता है 'शक्तिहीन को शक्ति से युक्त करना।''[3] महिलाओं के सन्दर्भ में सशक्तिकरण का अर्थ है – 'पुरुष के बराबर अधिकार, स्त्री के चयन, वरण और नकारने की स्वतंत्रता।''[4]

स्त्री–सशक्तिकरण की आवश्यकता समाज के पूर्णरूपेण विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह एक ऐसा आन्दोलन है, जो समाज में व्याप्त कुरीतियों, अनैतिकता को समाप्त करने में तो सहायक है ही साथ ही महिलाओं पर हो रहे सामाजिक शोषण को समाप्त कर उनकी सामाजिक हैसियत को भी सुदृढ़ करने में सहायक है।

'शक्ति कोई वस्तु नहीं है जिसका आदान–प्रदान किया जा सकता है। शक्ति वस्तुतः एक आंतरिक ऊर्जा है जिसे प्राप्त किया जा सकता है। इसे बाहर से थोपा नहीं जा सकता। पुनः यह एक प्रक्रिया है, जिसे उत्तरोत्तर रूप में ग्रहण किया जा सकता है। साथ यह कोई एक परिघटना नहीं है, बल्कि एक संबद्ध श्रृंखला है इसीलिए सशक्तिकरण की सार्थकता के लिए आवश्यक है इसे मानव–जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वीकार करना। इस दृष्टिकोण में महिला सशक्तिकरण के विभिन्न आयाम हैं –

1. आर्थिक सशक्तिकरण
2. सामाजिक सशक्तिकरण
3. राजनैतिक सशक्तिकरण
4. धार्मिक सशक्तिकरण[5]

1- vkfFkd l'kfDrdj.k % महिलाओं का आर्थिक रूप से सुदृढ़ होना, महिला सशक्तिकरण की पहली शर्त है। पुरुषों का महिलाओं पर वर्चस्व होने में महिलाओं के आर्थिक आश्रय की प्रमुख भूमिका होती है, इसलिए आर्थिक रूप से महिलाओं को सबल बनाने की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
**असि0प्रो0, हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

'सशक्तिकरण की सबसे बड़ी शर्त है – चेतना, स्वावलम्बन और निज की पहचान यानी स्वाभिमान अर्थात् आत्मसम्मान।[6] परन्तु शिक्षा के अभाव में यह संभव नहीं इसलिए उन्हें शिक्षा एवं तकनीकी कुशलता में दक्ष होना अनिवार्य है जिससे अधिक परिश्रम वाले कार्यों में उनकी भागीदारी सुनिश्चित हो सके।

2- lkekftd l'kfDrdj.k % महिलाओं की दोयम दर्जे की हैसियत को निर्धारित करने में परिवार एवं अन्य सामाजिक प्रथाओं की भूमिका सर्वोपरि रही है। पितृसत्तावादी मूल्यों के विकास एवं संरक्षण में समाज की ही भूमिका महत्वपूर्ण होती है। स्त्रियों की पराधीनता की कथा यहीं से प्रारंभ होती है। इसलिए महिलाओं का सामाजिक सशक्तिकरण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, ताकि समाज में उनकी गरिमा बहाल हो।[7]

3- jktuhfrd l'kfDrdj.k % भारत में राजनीति, परिवर्तन का महत्वपूर्ण माध्यम है। राजनीति में महिलाओं की भागीदारी महिला सशक्तिकरण में अहम भूमिका निभा सकती है और ऐसे वातावरण को स्थापित करने में सहायक हो सकती है, जहाँ महिलाओं के बुनियादी सवालों पर विमर्श किया जा सकता है और सिर्फ विमर्श ही नहीं अपितु समाधान भी निकाला जा सकेगा।

4- /kkfeZd l'kfDrdj.k % धर्म ने महिलाओं की गौण सामाजिक भूमिका में अपना योगदान दिया है। धार्मिक कर्मकांडों एवं धार्मिक नैतिकताओं ने उन्हें इस कदर हाशिये पर पहुँचा दिया है कि वर्तमान में अनिवार्यता है कि महिला धर्म के बाहरी स्वरूप एवं कर्मकांड के आडंबर की वास्तविकता को समझे। उसे चुनौती दे एवं धर्म के आंतरिक मर्म को अंगीकार करे।[8]

सन् 2001 महिला सशक्तिकरण वर्ष घोषित किया गया और इसी के साथ साहित्य में भी विशेषतः हिन्दी कविता–जगत् में कवयित्रियों ने जोर–शोर से अपनी विचार–शक्ति का परिचय दिया। आज इन कवयित्रियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से कविता–जगत् को नया आयाम दिया है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में अस्तित्व खोती नारी को नई अभिव्यक्ति दी है, यह स्त्री पहले से कहीं अधिक स्वाभिमानी और आत्मनिर्भर दिखाई देती है जो अपनी बात को साफ–साफ कहने में विश्वास करती है।

कात्यायनी, नीलेश रघुवंशी, सविता सिंह, वर्तिका नंदा, निर्मला पुतुल, मृदुल जोशी, सुशीला टाकभौरे 21वीं सदी की ऐसी ही कवयित्रियाँ हैं जिन्होंने समाज में रूढ़, अस्तित्व खोती स्त्री को नये अर्थों के साथ परिभाषित किया है।

कात्यायनी की 'इस स्त्री से डरो' ऐसी ही एक बेहतरीन कविता है।

^blh L=h ls Mjks
mlls iNks
fiatjs ds ckjs esa iNks
og crkrh gS
uhys vuar foLrkj esa
mMus ds
jksekap ds ckjs esA**[9]

इस कविता में कात्यायनी ने नारी की उस मनःस्थिति को दर्शाया है जिसमें वह दुःखी है और हँस रही है, कैद में रहते हुए भी आज़ादी के गीत गा रही है, बंधन में है और मुक्ति के सपने देखती है, यातना सहते हुए भी प्रेम के गीत गा रही है। कहने का तात्पर्य है कि आज स्त्री अपनी शक्ति को पहचानने लगी है।

वहीं मृदुल जोशी, वर्तमान समाज में स्त्री–भ्रूण हत्या जैसे ज्वलंत विषय पर अपनी लेखनी चलाती समाज की सोच बदलने का प्रयत्न करती हैं –

^dj ldrh gS ekA esa lc dqN
tks jks'kuh&lk pedhykA jxksa&lk pVdhyk gks
ij vkus rks nsA Mj erA ek] e>s vkus nsA*[10]

नीलेश रघुवंशी, स्त्री की शक्ति और उसके तेज के लिए कहती हैं कि उसे किसी एक साँचे में बंद कर पाना या किसी एक रूप में व्यक्त कर पाना मुमकिन नहीं है क्योंकि –

^rse dHkh lqjt gk@dHkh pkn @ dHkh /kjrh@dHkh vkdk'k @
ck/kuk ef'dy g rEg 'kCnk e @ ikuh e ugh c/krh tl vkxA[11]

प्राचीनकाल से ही धर्म द्वारा दलितों को सभी शुभ कार्यों से दूर रखा जाता रहा है। सुशीला टाकभौरे ऐसी ही कवयित्री हैं; जिनकी कविताएँ शोषित दलित समाज को नई राह दिखाती हैं, कुछ कर–गुजरने के लिए प्रेरित करती हैं। उनकी कलम ऐसे हथियार के रूप में प्रयुक्त होती है कि समाज में क्रांति आ जाये। सुशीला टाकभौरे, शिक्षा को दलित समाज की उन्नति का सर्वोत्तम साधन मानते हुए कहती हैं –

^le>u yx g vc ; Hkh@Økfr dh gj ckr dk
t:jr g ck:n d <j dk @e'kky fn[kku dhA[12]

वहीं सुशीला टाकभौरे यह भी जानती हैं कि इस समाज में दलित स्त्री की स्थिति क्या है ? उन्होंने इस सामाजिक विषमता के विरोध में समाज को सचेत किया है।

^cnyuk gkxk ukle> irh{kk dk
l?k"k'khy Økfrdkjh vknkyu e
vU;Fkk ih,p-Mh- ikIr dkyt dh ik/;kfidk
tkfr d uke ij
vkt Hkh dgykrh jgxh
flQ >kMokyhA*[13]

उन्हीं की निम्न पंक्तियाँ स्पष्ट करती हैं कि आज की स्त्री जाग चुकी है। आज यह दलित स्त्री जुल्मों व अन्यायों के ख़िलाफ खड़ी है।

^vkt [k'kh dh ckr ;gh g @ 'kkf"kr ukjh tkx pdh g
dkV lHkh c/ku dk og @ ixfr dk iFk tku pdh gA[14]

इस प्रकार दलित समाज की शोषित नारी भी आज अपने स्वप्नों को साकार करने के लिए प्रयत्नरत है।

वहीं आदिवासी परिवार से संबंध रखने वाली निर्मला पुतुल भी स्त्रियों की स्थिति को लेकर सजग है। इनकी कविताओं में आक्रोश साफ झलकता है और वहीं वह इन स्त्रियों को बदलते समय के साथ चलने को प्रेरित करती कहती हैं –

^tekuk cny jgk g @ cny jgh g nfu;k
ge Hkh [kn dk cny @ le; rth l cny jgk gA[15]

आज के संक्रमणकालीन समाज में जहाँ प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन हो रहे हैं वहीं स्त्रियों द्वारा अपनी नियति को बदलने पर भी जोर दिया जा रहा है। अब वह बात–बात पर रोने वालों में से नहीं है, बल्कि इसके विपरीत अपने व्यक्तित्व को आकार देती, अपने उपस्थित होने को भी दर्ज करवाती हैं।

सविता सिंह लिखती हैं –

e> og L=h iln g tk dgrh g viuh ckr lkQ&lkQ
cf>>d ftruk dgrk g cl mruk
fuHkhd tk djrh g viu dke
ugh Mjrh lkprh gb vkRe&fuHkjrk ij viu
gVkrh ugh o vkf[kjh in
vkRek ftUg cpk; j[kuk pkgrh g ng d fy,A[16]

महिला सशक्तिकरण के दौर में जब स्त्री–शिक्षा, स्वतंत्रता की बात जोरों–शोरों से की जा रही है, ऐसे में स्त्रियों में स्वावलम्बन और आत्मनिर्भरता की भावना भी जागृत हुई है।

सविता सिंह प्राचीन से चली आ रही रूढ़िवाद परंपरा का विरोध अपने अंदाज में करती है –

^eS fdlh dh vkjr ugha

vkj eSjk dkbZ ijes'oj ughaA[17]

उक्त पंक्तियों में सविता सिंह वर्तमान नारियों का प्रतिनिधित्व करती हुई उस प्राचीन अवधारणा के प्रति अपने विचारों से समाज को अवगत कराना चाहती हैं, कि वह आज केवल किसी की पत्नी ही नहीं है और उनका कोई परमेश्वर नहीं है। वह स्वयं में सक्षम है।

वर्तिका नंदा, मीडिया के क्षेत्र की जानी–मानी हस्ती तो हैं ही, साथ ही कुशल कवयित्री भी। समाज में आत्मनिर्भर होती स्त्रियों के लिए वर्तिका कहती हैं कि अब केवल भावुकता के साथ ही नहीं बल्कि, बदलते समय के साथ महिलाएँ स्वयं गृहस्थी चलाने में सक्षम हैं। वह कहती हैं –

^vc dfork thus dk dke 'k# @dfork flykbZ dh e'khu esa jgxh

vkj e'khu ls pyxh xgLFkh @blls gh dgrs gS] efgyk l'kfDrdj.kA*[18]

बदलते युग के साथ–साथ स्त्री–जीवन पर हो रहे परिवर्तनों, नये जीवन–दर्शनों को खोजने की ललक व मानव–मूल्यों तथा नैतिक मान्यताओं के प्रति जागृति को इन कवयित्रियों की कविताओं में अभिव्यक्ति मिली है।

21वीं सदी की इन कवयित्रियों की कविताओं के संबंध में महादेवी वर्मा जी की ये पंक्तियां बिल्कुल सटीक बैठती हैं –

^gesa u fdlh dh t; pkfg, @ u fdlh dh ijkt;

u fdlh ij iHkqrk pkfg,@ u fdlh ij iHkqRo @

dsoy viuk LFkku pkfg, o LorU=rk pkfg,A*[19]

fu"d"kZ %

निष्कर्षतः कहना उचित होगा कि 21वीं सदी की कवयित्रियों के लेखन में महिलाओं की स्थिति, विचारधारा और इनके समाज में अस्तित्व और उत्तरदायित्व को जो अभिव्यक्ति मिली है, स्त्री–सशक्तिकरण का ज्वलंत प्रमाण है।

lanHkZ %

1. क्षमा शर्मा : स्त्रीत्ववादी विमर्श : समय और साहित्य, पृ0 56
2. डॉ0 ललिता एन. राठोड़ : आधुनिकता : स्त्री–विमर्श, पृ0 22
3. डॉ0 अंजना : भारत में दलित महिलाओं का सशक्तिकरण आंदोलन (1920–2000), पृ0 13
4. रमणिका गुप्ता : स्त्री–विमर्श (कलम और कुदाल के बहाने), पृ0 55–56
5. डॉ0 अंजना : भारत में दलित महिलाओं का सशक्तिकरण आंदोलन (1920–2000), पृ0 14–15
6. रमणिका गुप्ता : स्त्री–विमर्श (कलम और कुदाल के बहाने), पृ0 14
7. डॉ0 अंजना : भारत में दलित महिलाओं का सशक्तिकरण आंदोलन (1920–2000), पृ0 14
8. डॉ0 अंजना : भारत में दलित महिलाओं का सशक्तिकरण आंदोलन (1920–2000), पृ0 15
9. कात्यायनी : कवि ने कहा, चुनी हुई कविताएँ, पृ0 15
10. मृदुल जोशी : इन दिनों, पृ0 64
11. नीलेश रघुवंशी : घर–निकासी, पृ0 94
12. सुशीला टाकभौरे : हमारे हिस्से का सूरज, पृ0 20
13. सुशीला टाकभौरे : हमारे हिस्से का सूरज, पृ0 12
14. सुशीला टाकभौरे : हमारे हिस्से का सूरज, पृ0 27
15. निर्मला पुतुल : अपने घर की तलाश में, पृ0 74
16. सविता सिंह : मुझे वह स्त्री पसंद है (कविता) वसुधा अंक, पृ0 144
17. सविता सिंह : पचास कविताएं नयी सदी के लिए चयन, पृ0 22–23
18. वर्तिका नंदा : रानियाँ सब जानती हैं : पृ0 98
19. महादेवी वर्मा : श्रृंखला की कड़ियाँ : पृ0 16

***

jkxnjckjh e lkekftd fol xfr;¨ dk ;FkkFk

l"kek*

lkekftd ;FkkFk %

¼d½- ikfjokfjd lc/k rFkk ;©u&otuk,¡

'राग दरबारी' राजनीतिक जीवन का चित्र ही नहीं प्रस्तुत करता, बल्कि स्वातंत्र्योत्तर समाज में परिवर्तित होते जीवन–मूल्यों, संबंधों के विघटन आदि की गाथा को अत्यंत यथार्थ रूप में प्रभावशाली ढंग से व्यंजित करता है। डॉ0 नंदलाल कल्ला के शब्दों में ''गाँवों की समूची संवेदनात्मक अनुभूति और वैचारिक मानसिकता, सामाजिक संबंध और मूल्यबोध की संक्रमणात्मक अनुभूति की परिवर्तित और गतिशील अभिव्यक्ति इस कृति में संपूर्ण रूप से उपलब्ध है। ग्रामीण जीवन की समस्त विसंगतियों, प्राचीन–नवीन मूल्यों का तनाव, विषमता के बेमेल स्वर की स्वीकारोक्ति की गूँज 'राग दरबारी' में कदम–कदम पर प्रतिध्वनित होती है।''[1]

परिवार मानव–जीवन की मूलभूत इकाई है, लेकिन स्वतंत्रता के उपरांत पारिवारिक मूल्यों में विखंडन हुआ है और दरार आई है। अब पिता–पुत्र, पति–पत्नी के संबंधों में सहजता उतनी नहीं रही, जितनी असहजता जीवन में प्रवेश कर गई है। बद्री और छोटे पहलवान अपने पिता की ही पिटाई करते हैं। गालियाँ तो इनके अधरों पर निरंतर क्रीड़ा करती रहती हैं। कुसहरप्रसाद अपने पिता गंगा प्रसाद को लाठियों से मारते थे और सुसहरप्रसाद ने अपने पुत्र छोटे पहलवान को अपने हाथ का लकवा दूर करने के लिए एक लाठी थमा दी और छोटे ने अपने पिता की खोपड़ी को इंसुलेटर समझकर एक ढेला फेंका और इस प्रकार पिता–पुत्र के मध्य मारपीट का सनातनी संबंध स्थापित हो गया।[2]

बद्री पहलवान भी अपने पिता को कुछ भी मुँह तोड़ बात सार्वजनिक ढंग से कह सकते हैं। ''तुम कहते हो मैं बेला से फँस गया हूँ। तुम हमारे बाप हो, तुमको कैसे समझाया जाय। फँसना–फँसाना चिड़ीमार का काम है। तुम्हारे खानदान में तुम्हारे बाबा अजुध्यापरसाद जैसे रघुबरा की महतारी से फँसे थे। इसे कहते हैं फँसना।''[3] वे अपने पिता को बिना किसी संबोधन के ही पुकारते थे। ''बचपन में वे उन्हें बापू कहते थे, पर जवान होने पर कुश्तीबाजी की शुरूआत होते ही उन्होंने यह बचकानी हरकत छोड़ दी थी।''[4]

इधर रुप्पन भी अपने पिता वैद्यजी की नाराजगी से ज्यादा चिंतित नहीं है, बल्कि दो टूक उत्तर देता हुआ रंगनाथ से कहता है– ''पिताजी क्या खाकर नाराज होंगे। उनसे कहो, मुझसे सीधे बात तो कर लें। उनकी शादी चौदह साल की उमर में हुई थी। पहली अम्मा मर गई तो सत्रह साल की उम्र में दूसरी शादी की। साल भर भी अकेले नहीं रहते बना। यह तो किया कायदे और बेकायदे कितना किया, सुनोगे वह भी.....।''[5]

गयादीन की बेटी बेला सिनेमा शैली में पत्र–लेखन करती है, जिसमें फिल्मी गीतों के प्रयोग से उसकी कामवासना उभरती है। वह कुंवारी रहकर वैवाहिक स्थिति भोगती है। इस ग्राम बाला में इतना अदम्य साहस है कि रात के अंधेरे में वह स्वयं छतों को पार कर रुप्पन के पास जाती है, लेकिन गलती से वहाँ रुप्पन के स्थान पर रंगनाथ सोया हुआ था, लेकिन उसकी कामवासना उस पर इतनी हावी है, इतनी प्रबल है कि उसे रुप्पन और रंगनाथ के आकार–प्रकार और डील–डौल का आभास तक

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

नहीं होता। रंगनाथ के ''कौन? कौन?'' बोलने पर उसे अपनी गलती का अनुभव होता है। रुप्पन और बेला के इस प्रेम–व्यापार में बाद में बद्री पहलवान भी सम्मिलित हो जाते हैं।

राधेलाल जाति से ब्राह्मण है, लेकिन चौकीदार की बीवी को अपनी पत्नी बनाकर गाँव ले आते हैं, लेकिन उनकी पत्नी सबकी प्रेयसी थी। सनीचर कहता है, ''न जाने वह व्यक्ति इस कुतिया को कहाँ से घसीट लाया है, जब निकलती है, कोई–न–कोई इसे छेड़ ही देता है।'' अन्यत्र लेखक लिखता है कि ''लोग उससे मजाक कर सकते थे और हमेशा यह समझकर चल सकते थे कि उसे मजाक अच्छा लगता है? यह शिवपालगंज के नौजवानों का सौभाग्य था कि कुतिया ने कभी उनको निराश नहीं किया।''[6]

छोटे पहलवान के पिता बुजुर्ग होते हुए भी अपने घर पर पानी भरने वाली कहारिन पर बुरी दृष्टि रखते हैं– ''तुम जानते नहीं, यह बुड्ढा बड़ा कुलच्छनी है। इसके मारे कहारिन ने घर में पानी भरना बंद कर दिया है। और भी बताऊँ।''[7] सरपंच भी उसके इसी कामभाव को संकेतित करता है– ''इस उमर में तुम्हें इश्कबाजी सूझती है?..... तुम बड़े महात्मा हो। सभी जानते हैं।''[8]

इस प्रकार सर्वत्र यौन–विकृति की सड़ांध व्याप्त है। इसका व्यापार शिवपालगंज के जंगलों में स्वच्छंद रूप से होता है– ''नजदीक के गाँवों में जो प्रेम संबंध आत्मा के स्तर पर कायम होते हैं उनकी व्याख्या इस जंगल में शरीर के स्तर पर होती है।''[9]

¼[k½- vkijkf/kd ÁofÙk;k¡ ¼

पारिवारिक विघटन और यौन–विकृतियों का परिणाम आपराधिक प्रवृत्तियों के रूप में सामने आता है। पारिवारिक मूल्यों, संस्कारों की अवहेलना व्यक्ति में अनादर्श का भाव भरती है, जिसका स्पष्ट चित्र गाँव का मेला प्रस्तुत करता है। कार्तिक पूर्णिमा के मेले में सनीचर संपूर्ण नैतिकता को ताक पर रख देता है– ''उसने सैकड़ों बुड्ढों को दायें–बायें फेंका, कई औरतों के कंधों पर प्रेम से हाथ रखा, उनकी छातियों के आकार–प्रकार का हाल–चाल लिया और यह सब ऐसी निस्संगता से किया जैसे भीड़ के निकलने के लिए ऐसा करना धर्म में लिखा हो।''[10] इसी प्रकार, जोगनाथ भी ''भीड़ के रेले में घुसकर नौजवान लड़कियों को धक्का देने के काम में ही व्यस्त रहना चाहता है।''

आर्थिक विपन्नता और पारिवारिक बिखराव, तनाव आदि ने आपराधिक प्रवृत्तियों को तो विकसित किया ही, मानवता का मूल्य भी घटा दिया लेकिन शिवपालगंज की घनी अमराइयों में जुआ खेलने में व्यस्त जुआरियों को मानव–मूल्यों की सर्वाधिक चिंता रहती है। हारने वाला कहता है– ''यही तुहारी इंसानियत है? जीतते ही तुम्हारा पेशाब उतर आता है?'' विजयी भी इसी शब्द का प्रयोग करते हुए कहता है– ''क्या इसी का नाम इंसानियत है? एक दांव हारने में ही पिलपिला गये।'' उपन्यासकार उसे नैतिकता की भाँति चुस्ती और चालाकी का एक लक्षण मानता है।[11]

गाँव में वेश्यावृत्ति भी होती है, जो कि एक प्रकार का आपराधिक कृत्य ही है। रंगनाथ को फँसाने के दलाल के ढंग को लेखक ने सुंदर रूप में उभारा है, लेकिन रुप्पन के आ जाने से सारा खेल बिगड़ गया– ''इस साली रंडी को बचपन से देख रहा हूँ। बरसों से नाक में छल्ला लटकाए घूम रही है और वह उसके ठुमरी दादरा का नगाड़ा पीटता है, भैंस जैसी आवाज है और बड़ी उस्ताद बनती है। इलाके की सबसे सड़ियल पतुरिया है। कोई उसे कौड़ी को भी नहीं पूछता।''[12]

दुकानदार से सामान लेकर मूल्य न चुकाना, झगड़ा करना और अपनी धौंस जमाना इस शिवपालगंज में आम बात है।[13] भूतहा पीपल के आगे वाली सड़क पर लूटमार अक्सर होती रहती है। पिछले साल इसी स्थान पर एक व्यक्ति की कटी लाश मिली थी। चरस पीना, शराबघर में झगड़ा करना, लड़कों के साथ दुष्कर्म करना आदि घटनाएँ इस गाँव में सहज हैं और लोगों के लिए ये रोजमर्रा की बाते हैं।[14]

¼x½- f'k{kk lLFkku v©j f'k{kk dk Lo:i ¼

'राग दरबारी' में शिक्षा संस्थानों और वर्तमान शिक्षा–प्रणाली की विसंगतियों की व्यापक रूप में अभिव्यक्ति हुई है। वास्तव में, किसी भी राष्ट्र की शिक्षा व्यवस्था में वहाँ की राष्ट्रीय चेतना की आत्मा का वास होता है। इन शिक्षा–संस्थानों में ही भावी नेतृत्व विकसित होता है लेकिन स्वातंत्र्योत्तर भारत

में शिक्षा के स्तर पर ग्रामीण और नगरीय परिवेश का भेद रहा। शैक्षणिक सुविधाओं का जितना विकास नगरों में हुआ, उतना गाँवों में नहीं हुआ। लगभग 50 वर्ष बीतने के बाद भी गाँवों में पाठशालाओं की स्थिति यथावत है। परिणामतः आवश्यक भवन और अन्य सुविधाओं के अभाव में हमारी शिक्षा–पद्धति से विद्यार्थी वर्ग का भी अपूर्ण ज्ञानार्जन हो रहा है। शिवपालगंज का 'छंगामल इंटर कॉलिज' इसी क्रूर यथार्थ का प्रतीक है। विकास के तमाम नारों और भौतिक उन्नति के बावजूद इस कॉलिज में पढ़ने वाले छात्र 'सिर्फ इमारत के आधार पर कह सकते थे कि हम शांति निकेतन से भी आगे हैं, हम असली भारतीय हैं; हम नहीं जानते कि बिजली क्या है; नल का पानी क्या है; ..... हमने विलायती तालीम तक देशी परंपरा में पायी है इसीलिए हमें देखो, हम आज भी उतने ही प्राकृत हैं।''[15] रुप्पन भी इस पर टिप्पणी करता है, ''इस देश की शिक्षा–पद्धति बिल्कुल बेकार है।.... तुम इस कॉलिज का हाल नहीं जानते। लुच्चों और शोहदों का अड्डा है। मास्टर पढ़ाना–लिखाना छोड़कर सिर्फ पॉलिटिक्स भिड़ाते हैं।''[16] स्वतंत्र भारत में आज भी अध्ययन–अध्यापन ऐसे ही खुले आसमान में, पेड़ों के नीचे छोटी–छोटी झोपड़ियों अथवा खंडहर बने मकानों में होता है।

यही हाल शिक्षा–पद्धति का है, उसका न तो आज तक कोई सुनिश्चित मानदण्ड बन सका है और न उसमें प्रयोग के स्तर पर किए गए परिवर्तन क्रांतिकारी सिद्ध हो सके हैं। प्रयोग और त्रुटिपूर्ण सुझावों की भीड़ में ''वर्तमान शिक्षा–पद्धति रास्ते में पड़ी हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है।''[17] सभी जानते हैं कि पिष्टपेषण और पुनरावृत्ति से शिक्षा–प्रणाली, अनुपयुक्त और नकारा होती जा रही है, लेकिन उसमें अपेक्षित सुधार गुटबाजी, राजनीति और छल–प्रपंच के कारण सफल नहीं हो पा रहा। जीवन को अपेक्षित स्तर की ओर उन्मुख करने में असमर्थ इस शिक्षा–प्रणाली का दुष्परिणाम वर्तमान शिक्षित युवावर्ग की पलायनवादी मनोवृत्ति में लक्षित किया जा सकता है। उपन्यासकार ने प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयीय शिक्षा के स्तर की कमियों को यथार्थपरक स्तर पर उभारा है।

¼?k½- cf) thoh oxZ dh fLFkfr %

उपन्यासकार ने समाज की बदलती मनोवृत्ति को भी व्यंग्यात्मक धरातल पर उकेरा है, विशेषतः बुद्धिजीवी वर्ग की मानसिकता और स्थिति को। ''हमने अपनी बहुत–सी सांस्कृतिक परंपराओं को फिर से खोदकर निकाला है। तभी हम हवाई जहाज से यूरोप जाते हैं, पर यात्रा का प्रोग्राम ज्योतिषी से बनवाते हैं, फारेन एक्सचेंज और इनकमटैक्स की दिक्कतें दूर करने के लिए बाबाओं का आशीर्वाद लेते हैं, स्काच ह्विस्की पीकर भगंदर पालते हैं और इलाज के लिए योगाश्रमों में जाकर सांस फुलाते हैं, पेट सिकोड़ते हैं। उसी तरह विलायती तालीम में पाया हुआ जनतंत्र स्वीकार करते हैं।''[18]

यद्यपि हमने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है तथापि मानसिक रूप से भारतीय अभी भी गुलाम हैं, परतंत्र हैं। स्वदेशी भाषा, ज्ञान, संस्कृति, संस्कार के स्थान पर विदेशी भाषा, ज्ञान, संस्कृति और संस्कार के आश्रित होते जा रहे हैं। विदेशी भूमि में प्रवास का आकर्षण इतना अधिक प्रबल है कि विद्वानों को समस्या के निवारणार्थ ''अमरीका में कीमती कागजों पर छपी हुई किताबों के बेशकीमती सिद्धांत व्यर्थ लगते हैं और उनका हल निकालने के लिए उन्हें घबराकर फिर अमरीका की ओर भागना पड़ता है।''[19]

''पुरानी पीढ़ी का यह विश्वास था कि हम बुद्धिमान हैं और हमारे बुद्धिमान हो चुकने के बाद दुनिया से बुद्धि का तत्त्व खत्म हो गया है और नई पीढ़ी के लिए उसका एक कतरा भी नहीं बचा है। वहीं पर नई पीढ़ी की यह आस्था थी कि पुरानी पीढ़ी जड़ थी, थोड़े से खुश हो जाती थी और अपने और अपने समाज के प्रति ईमानदार न थी, जबकि हम चेतन हैं, किसी भी हालत में खुश नहीं होते हैं और अपने प्रति ईमानदार हैं और समाज के प्रति कुछ नहीं हैं, क्योंकि समाज कुछ नहीं है।''[20]

इस बुद्धिजीवी में 'कुछ करने की बात' तो है, लेकिन 'क्या करना चाहिए' इसका उन्हें पता नहीं है।[21] इसी दिशाहीनता, कुंठा, तनाव और निराशा ने उनमें 'क्राइसिस और कांशस' की बीमारी पैदा कर दी है, साथ ही उन्हें 'क्राइसिस आफ फेथ' का रोग भी लग गया है। लेखक के अनुसार, ''इस बीमारी में मरीज मानसिक तनाव और निराशावाद के हल्ले में लंबे–लंबे वक्तव्य देता है, जोर–जोर से बहस करता है, बुद्धिजीवी होने के कारण अपने को बीमार और बीमार होने के कारण अपने को बुद्धिजीवी

साबित करता है और अंत में इस बीमारी का अंत काफी हाउस की बहसों में, शराब की बोतलों में, आवारा औरतों की बाँहों में, सरकारी नौकरी में और कभी–कभी आत्महत्या में होता है। ''शिवपालगंज में गंजहों के बीच रहते हुए रंगनाथ को भी यही अनुभूत होता है। उसे सही मौकों पर चुप हो जाने और गलत जगह पर जोश दिखाने की आदत पड़ने लगती है।[22]

¼3½- ;qokox dh ekufldrk %

समाज का विकास युवावर्ग से होता है। लेकिन आज स्थिति यह हो गई है कि युवावर्ग दिशाहीन और पथभ्रष्ट होकर खोखले नारों के भ्रमजाल में भटक रहा है।

मेले में छोटे पहलवान, सनीचर और जोगनाथ झगड़ा करते हैं। सनीचर और जोगनाथ लड़कियों–स्त्रियों से छेड़–छाड़ करते हैं और लोग विवशता में सहन करते हैं। इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प भी नहीं है। भीड़ से ध्वनि आती है– 'ऐसा झगड़ा इस मेले में हर साल होता है, झगड़ा करने वाले बस यही गंजहे हैं, बड़े लुच्चे हैं। पर इनके मुँह कौन लगे? और सच पूछो तो हर एक गाँव का यही हाल है। जितने नये लौंडे हैं सब.....''[23]

इम्तहाल में नकल करना, अध्यापकों का सिर फोड़ना, उन्हें पीटना, शिकायत करने पर दुबारा पीटना आज के नवयुवकों का धर्म बन गया है। शहरीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति का असर ग्रामीण युवा पर दिनोंदिन देखा जा सकता है, फलस्वरूप वे निकम्मे और जाहिल होते जा रहे हैं– ''वे फटे–पुराने पर रंगीन पतलूनों–पायजानों के सहारे अपने दुबली–पतली टांगों को ढककर और सीने पर गोश्त हो या न हो, सीने के अंदर सायरा बानू के साथ सोने का अरमान भरकर, गली–कूचों में पान की पीक फैलाते हुए निरुद्देश्य घूमा करते थे। उनमें से बहुत–से कभी–कभी खेतों–कारखानों और जेलों का चक्कर भी लगा आते थे।''[24]

कामुकता और वासना निरंतर युवावर्ग को पीड़ित कर रही है। चाहे बेला हो या कोई और लड़की, उसे देखते ही रुप्पन और रंगनाथ की पाश्वी शक्तियाँ जागृत हो उठती हैं और उन्हें लेकर वे कल्पना–जगत में विचरण करने लगते हैं। वेश्या लड़की को देखकर रंगनाथ चाहता है कि वह उसकी ओर देखे और मुस्कराये। अंग्रेजी में दक्ष शहरी कन्याओं को देखकर रुप्पन बाबू के मन में आता है कि वह दोनों को दबोचकर कहीं भाग जाये।''[25]

¼p½- f'koikYkxat d lekt dh ekufldrk %

डॉ0 चंद्रकांत वांडिवडेकर के शब्दों में, 'राग दरबारी' जैसे उपन्यास व्यक्ति की मानसिकता के चित्रण में उतना रस नहीं लेते, जितना सामूहिक मन के उद्घाटन में।' अन्यत्र वे लिखते हैं कि ''जीवन के चित्रण से कटकर मनुष्य के अंतर्मन की अंधेरी झांकियाँ दिखाने में लेखक भले ही रुचि न दिखाता हो; परिवेश की मार से कुंठित व्यक्तियों का बौनापन दिखाने में और शिवपालगंज की सामूहिक मानसिकता को उजागर करने में लेखक ने सफलता पाई है।''[26]

शिवपालगंज के लोगों की बोलचाल के खास ढब, विशिष्ट गाली–गलौज वाली शब्दावली अथवा मुहावरा, स्वभाव की धूर्तता, मक्कारी, आत्मा की 'कोअर' में वर्तमान एक प्रकार का रुखापन, चिड़चिड़ाहट, वाचालता, वाकपटुता, विलक्षण आत्मकेंद्रितता और आत्मतुष्टता, निर्लज्जता, नियम–विरूद्ध चलना, सतत–सत्ताबाजी आदि इन सबसे उनका गंजहापन मूर्त हो उठा है। ''तुम गधे हो,'' गंजहापन का महत्त्वपूर्ण तर्क है जो सभी चरित्रों में व्याप्त है।[27] यह गंजहापन अकस्मात नहीं उत्पन्न हो गया बल्कि ऐतिहासिक अवस्था है, जिसे प्रेमचंद अपने युग में नहीं पकड़ पाए। यहाँ आकर 'मनुष्यतावाद' के तमाम तर्क, इन्नोसेंस विकास के तमाम संकल्प और सपनों का परमानेंट 'राजतिलक' हो जाता है।[28] यह गंजहापन सार्वजनिक है, ठोस है, यह बात पंक्ति–पंक्ति में स्पष्ट है।[29] वह अकड़ी हुई भाषा सभी गंजहों के पास है।

हर गंजहा अपने में खोया हुआ है, अपने में ही मग्न है, उसकी रुचि धोबीपाट में, कोटपीस, लैश में, जुआ में, भंग–पान में, भरत–मिलाप में अनुदान राशि डकारने में अधिक रमती है।[30] उसकी दृष्टि में हर दूसरा आदमी हरामी है। उनके सामने समाज, राष्ट्र, गाँव का कोई महत्त्व नहीं, अपने से इतर इन सबके प्रति कोई आस्था नहीं। गुटबंदी में, दाँव–पेंच में गंजहों की बुद्धि लगी हुई है। तभी तो

पठान बाबा कहते हैं– ''शिवपालगंज बिल्कुल फटीचर जगह है, जब लोग बोलते हैं तो लगता है, चारों तरफ मुर्गे ही मुर्गे हैं, पर खरीदने चलो तो सब दरबे में घुस जाते हैं।''[31]

शिवपालगंज के वातावरण से रंगनाथ को नफरत होती है तथा वह शहर जाने की बात करता है तो रुप्पन का जवाब वास्तविक सत्य को प्रकट कर देता है– ''कहाँ जाओगे दादा? वहाँ भी इसी तरह के हरामी मिलेंगे।'' लेकिन यही शिवपालगंज रुप्पन की इच्छा पूरी न होने पर रुप्पन को ''कूड़ा, नाबदान नाली'' प्रतीत होता है।[32] जहाँ किसी को अपने सगे बाप का भरोसा नहीं है और बकौल सनीचर, ''कोई कटी उंगली पर भी मूतनेवाला नहीं है।''[33]

¼N½- f'koiikYkxat dh fof'k"V :iNfo] jgu&lgu rFkk o'kÒ"kk ¼

शुक्ल जी ने शिवपालगंज के विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न स्थानों के स्नैप शाट खींचे हैं। 'राग दरबारी' इस प्रकार चित्रों का एक एल्बम है, जिसमें लेखक की सूक्ष्म दृष्टि से न तो सड़क का दृश्य छूटा है[34] और न ही सामुदायिक केन्द्र का;[35] न छंगामल इण्टर कॉलिज का दृश्य छूटा है[36] और न वैद्य जी की बैठक की रूपरेखा; न थाने का स्वरूप विस्मृत हुआ है और न रुप्पन का कक्ष; न अदालत का दृश्य छूटा है और न शराबघर का;[37] न पुलिया की स्थिति छूटी है न बाजार की; न हलवाई की दुकान छूटी है न बस अड्डे का गंदगी भरा स्वरूप;[38] न गाँधी चबूतरा छूटा है और न टीले का वर्णन; न मेले जाती स्त्रियाँ और बच्चे बच सके हैं और न मेला; न नाई की जीर्ण–शीर्ण दुकान का दृश्य छूटा है[39] और न पाखना करती स्त्रियाँ; न घास खीलते इक्केवान छूटे हैं[40] और न गाँव के लड़के[41], वहाँ की गंदगी और बाजारों का जीवन। उपन्यासकार एक के बाद एक पाठक के सम्मुख इस प्रकार स्थानों के चित्र प्रस्तुत करता है कि पाठक स्वयं को शिवपालगंज में पाता है और शिवपालगंज एक बार भी उसके नेत्रों से विस्मृत नहीं होता, ओझल नहीं होता। वह रंगनाथ की भाँति स्वयं भी उपन्यास का एक अंग अनुभव करने लगता है।

¼t½- tkfr&oSeuL; vkSj oxZ; 'k"k.k ¼

जातीय–वैमनस्य और वर्गीय शोषण को भी प्रामाणिक अभिव्यक्ति 'राग दरबारी' में मिली है। इसमें जातीय वैमनस्य उतने तीखे रूप में तो नहीं है जैसा 'मैला आँचल' में है, तथापि उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति इसमें अवश्य है। उपन्यासकार जाति को मिटाने या समाप्त करने का पक्षधर है– ''जाति से उसका नाम छीनकर उसे किसी आदमी का नाम बना देने से जाति के पास कुछ नहीं रह जाता। वह अपने आप खत्म हो जाती है।''[42]

गाँव में अनेक वर्ग हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। लेकिन स्वतंत्रता के उपरांत उनमें वैमनस्य का स्वरूप कुछ बदला अवश्य है। गाँव में 'चमरही' मुहल्ला है, जिसमें चमार रहते थे। इसी प्रकार दूसरे अछूतों के अलग–अलग मुहल्ले थे। इस चमरही के बीच से वैद्य जी या उनके परिवार के किसी व्यक्ति का निकलना एक घटना के रूप में शुमार किया जाता था, लेकिन जमींदारी टूटने पर अब उन्हें 'गार्ड ऑफ आर्नर' नहीं दिया जाता। इसीलिए वैद्यजी ने उधर से निकलना बंद कर दिया था। अब कोई उठकर खड़ा नहीं होता, हुक्का–पानी जमीन पर नहीं रखता और न कोई महाराज अब आशीर्वाद लुटाते हैं। यद्यपि रुप्पन को 'पाँय लागी महाराज'' की ध्वनि चौंकाती अवश्य है। रुप्पन भी खड़े व्यक्ति चुरई को देखकर कहते हैं– ''बैठा रह चुरइया, पुराने दिन लद गये।'' अब तो चुरइया रुप्पन से पूछ सकता है– ''आज इधर कैसे भूल पड़े रुप्पन बाबू?'' अब महाराज नहीं, नाम लेकर व्यक्ति को पुकारा जाता है।[43]

यदि हित–साधन हो तो गाँव में जाति का कोई अर्थ नहीं है, कोई महत्त्व नहीं है, भले ही वह कालिकाप्रसाद हो या वैद्यजी या बद्री पहलवान। कालिकाप्रसाद का कथन देखिए– ''जाति–पाँति बिल्कुल बेकार की चीज है और हम बांभन और चमार एक हैं।'' क्योंकि उसे पता है चमड़ा कमाने का अनुदान मिलने वाला है। वह अनुदान खा जाता है और चमार देखते रह जाते हैं। उनका शोषण सिर्फ एक भाषणबाजी से हो जाता है।[44]

जब बद्री पहलवान बेला से शादी की बात छोटे पहलवान से कहते हैं तो वह भी चकरा जाता है कि ऐसा मेल तो कभी देखा–सुना नहीं। वह कहता भी है– ''गुरु, तुम बांभन, वह बनिया,

सोच–समझकर बोलो। बैद महाराज ऐंठ गये तो पूरी इस्कीम मसक जायेगी।''[45] रुप्पन भी ब्राह्मण होते हुए बेला का ही चिंतन करते हैं।

वैद्यजी इसमें भी राजनीति खेलते हैं। वे अंतर्जातीय विवाह का स्वरूप देकर वाहवाही भी लूटना चाहते हैं और अंदर ही अंदर इस विवाह के न होने की कामना करते हैं। रुप्पन के व्यवहार पर क्षुब्ध वैद्यजी कहते हैं– ''गाँधी जी अंतरजातीय विवाहों के पक्ष में थे। मैं भी हूँ। बद्री और बेला का विवाह सब प्रकार से आदर्श माना जायेगा।''[46] लेकिन गयादीन उनकी बात नहीं मानते और वैद्यजी का जातिवाद– समन्वय का सिद्धांत धरा रह जाता है। बद्री के सामने वे जाति के पक्षधर बन जाते हैं और अपना ढोंगी आवरण उतार फेंकते हैं– ''हम ब्राह्मण हैं, वह वैश्य है। पर यह केवल जाति की बात नहीं है, सिद्धांत की बात है। ऐसे आचरणवाली लड़की को...।''[47]

InÒ ¼

1. डॉ0 नंदलाल कल्ला, व्यंग्यात्मक उपन्यास तथा राग दरबारी, पृ0 263
2. डॉ0 नंदलाल कल्ला, व्यंग्यात्मक उपन्यास तथा राग दरबारी, पृ0 92
3. वहीं, पृ0 253
4. वहीं, पृ0 283
5. वहीं, पृ0 126
6. राग दरबारी, पृ0 68–69
7. वहीं, पृ0 94
8. वहीं, पृ0 132
9. वहीं, पृ0 107
10. राग दरबारी, पृ0 118
11. वहीं, पृ0 81
12. वहीं, पृ0 126
13. राग दरबारी, पृ0 119, 122
14. वहीं, पृ0 231–232, 258, 279–281
15. वहीं, पृ0 16
16. राग दरबारी, पृ0 29
17. वहीं, पृ0 10
18. राग दरबारी, पृ0 76
19. राग दरबारी, पृ0 50, 86
20. वहीं, पृ0 49
21. वहीं, पृ0 238
22. राग दरबारी, पृ0 302
23. वहीं, पृ0 28
24. राग दरबारी, पृ0 123
25. वहीं, पृ0 232
26. डॉ0 चंद्रकांत वांडिवडेकर, उपन्यास : स्थिति और गति, पृ0 290, 385
27. राग दरबारी, पृ0 290
28. तद्भव, मार्च 1999, अंक–1, वर्ष–1, पृ0 161
29. तद्भव, मार्च 1999, अंक–1, पृ0 167
30. राग दरबारी, पृ0 173, 233–234
31. वहीं, पृ0 280
32. राग दरबारी, पृ0 251
33. वहीं, पृ0 144
34. राग दरबारी, पृ0 5
35. वहीं, पृ0 16
36. वहीं, पृ0 16
37. वहीं, पृ0 278–279, 240, 175
38. वहीं, पृ0 304–305
39. वहीं, पृ0 181
40. वहीं, पृ0 196, 187, 208
41. वहीं, पृ0 187, 228
42. राग दरबारी, पृ0 22
43. वहीं, पृ0 259–260
44. राग दरबारी, पृ0 146
45. वहीं, पृ0 236
46. वहीं, पृ0 250
47. वहीं, पृ0 253

***

^mi lgkj^% d".k dFkk d dyoj e ledkyhu lnHk

jkfgr oek*

'उपसंहार' वर्ष 2014 में प्रकाशित काशीनाथ सिंह द्वारा लिखा गया उपन्यास है। यह उपन्यास 'कुरूक्षेत्र' (दिनकर, 1946) और 'अंधायुग' (धर्मवीर भारती, 1954) की तरह एक बार पुनः महाभारत युद्ध और उसके बाद के विभिन्न सामाजिक व राजनीतिक संदर्भों व मनःस्थितियों को अपने ढंग से समकालीन संदर्भों में उजागर करता है। साथ ही उत्तर महाभारत की कृष्णकथा के माध्यम से यह उपन्यास आज के समय में विश्व के विभिन्न हिस्सों में हो रहे युद्ध और लोकतन्त्र व मावनाधिकार के नाम पर हो रहे नर–संहार की प्रासंगिकता पर भी प्रश्न चिन्ह लगाता है।

जहाँ 'कुरूक्षेत्र' युधिष्ठिर के माध्यम से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की मनःस्थितियों को, 'अंधायुग' शीतयुद्ध के समय की मनःस्थितियों के साथ–साथ आस्था व अनास्था जैसे प्रश्नों को उजागर करता है; वहीं 'उपसंहार' युद्ध व तर्कहीन नरसंहार को तो कटघरे में खड़ा करता ही है, साथ ही युद्ध के बाद स्थापित राज्य के दिन–ब–दिन होते जा रहे पराभव को, द्वारिका और हस्तिनापुर के माध्यम से, एक नये कलेवर में बयाँ करता है। इस प्रकार 'उपसंहार', कुरूक्षेत्र और अंधायुग से आगे की बात करते हुए उसे विस्तार देता है। यहाँ एक बात यह भी महत्वपूर्ण है कि 'कुरूक्षेत्र' काव्य विधा है, 'अंधयुग' नाटक, तो 'उपसंहार' उपन्यास। किन्तु साहित्य की ये तीनों विधाएं अलग–अलग समय में अपने–अपने ढंग से युद्ध, नरसंहार व शस्त्रीकरण की होड़ को प्रश्नांकित करती हैं, क्योंकि युद्ध और शस्त्रीकरण मानव जाति को समय–समय पर बुरी तरह प्रभावित करते आये हैं। इसीलिए साहित्य की इन तीनों विधाओं के चिन्तन के केन्द्र में मानव और उसका अस्तित्व है। यह बात तब और भी महत्वपूर्ण व प्रासंगिक हो जाता है, जबकि पूँजीतन्त्र के वर्तमान समय में मानव का अस्तित्व कहीं अधिक गौण हुआ है तथा पूँजी की प्रधानता बढ़ी है।

फिलहाल, प्रश्न उठता है कि आज इस प्रकार के युद्ध या नरसंहार क्यों होते हैं या होते रहे हैं? क्या ऐसे युद्ध और नरसंहार केवल और केवल अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए मुख्यतः अमेरिका और पश्चिमी देशों द्वारा नहीं किये जाते रहे हैं? इसी प्रकार के प्रश्नों पर व्यंग्य की मुद्रा में कथाकार उदय प्रकाश लिखते हैं, कि ''अमेरिका और पश्चिम ही नहीं बल्कि लोकतन्त्र की समूची ग्लोबल बिरादरी की यह नेक अंतर्राष्ट्रीय जिम्मेदारी बनती है कि इन मुस्लिम देशों को जबरदस्ती पोलियो के ड्राप की तरह लोकतांत्रिकता, सभ्यता और आधुनिकता की घूँट पिलाई जाए। इसके लिए फौजी आक्रमण, बमबारी, तख्तापलट से लगाकर नागरिकों की हत्या और उन देशों पर कब्जा जमाने के साथ–साथ वहाँ किसी ऐसी कठपुतली सरकार की स्थापना तक का डॉक्टरी कर्तव्य शामिल है।''[1]

'उपसंहार' उपन्यास ऐसे नर–संहार के पीछे के कारणों की पड़ताल कुछ इस प्रकार करता है–''अगर अठारह अक्षौहिणी वीर योद्धाओं के संहार से/ऐसा ही एक राज्य हासिल होना ही था तो उन्होंने क्यों करवाया?/क्या आर्यावर्त में अपने 'वर्चस्व' के लिए?/क्या यह साबित करने के लिए / कि वे विष्णु के अवतार हैं, जो न जानते हो जान लें/ मथुरा से लेकर द्वारका तक वे केवल संहार और वध ही करते रहे/ क्या अवतार इसीलिए होता है?''[2] देखा जा सकता है कि यहाँ यह उपन्यास विष्णु के कृष्ण अवतार को प्रश्नों के घेरे में खड़ा करता है। इस उपन्यास के कृष्ण कहते भी हैं कि ''मुझे हर हाल में युद्ध जीतना ही था– चाहे धर्म भंग हो चाहे नियम टूटे। हार जाता तो कौन–सा मुँह दिखाना

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, का0 हि0 वि0 वि0, वाराणसी ।

दुनिया को?''[3] प्रकारांतर से 'उपसंहार' की उपर्युक्त पंक्तियाँ किसी भी प्रकार के 'वर्चस्व' को स्थापित करने के लिए किये गये और किये जा रहे जन–धन की हानि व संहार के पीछे छिपे कारणों को बेनकाब करती हैं और वह कारण यह है हर हाल में अपना वर्चस्व स्थापित करना, जिसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को भी ताक पर रख दिया जाता रहा है, फिर चाहे वह औपनिवेशिक साम्राज्यवादी वर्चस्व रहा हो या फिर आज का पूँजी केन्द्रित नया साम्राज्यवादी वर्चस्व। इस प्रभुता या वर्चस्व को स्थापित करने के लिए ये साम्राज्यवादी शक्तियाँ नियमों आदि में अवसर के अनुसार बदलाव भी करती रही हैं। इस संदर्भ में 'अंधायुग' (धर्मवीर भारती) की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं–'जिसे तुम कहते हो प्रभु/उसने जब चाहा/मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया।'

'यह महाभारत वृथा, निष्फल हुआ', 'कुरूक्षेत्र' (दिनकर) की यह पंक्ति धर्म और न्याय के नाम पर लड़े गये युद्धों व किये गये नरसंहार को व्यर्थ और तर्कहीन सिद्ध करती है, क्योंकि जिस धर्म व न्याय की स्थापना के लिए ऐसे युद्ध हुए वे स्थापित कहाँ हो पाये? ठीक ऐसा ही स्वर 'उपसंहार' की इन पक्तियों से ध्वनित होता है कि ''निरर्थक मारे गये वे और जिस तरह मारे गये वह युद्ध नहीं हत्या थी। वह एक ऐसा नरसंहार था जिसके पीछे कोई तर्क नहीं था।''[4] वर्तमान संदर्भ में देखा जाय तो 'उपसंहार' की ये पक्तियाँ अफगानिस्तान, ईराक, लीबिया, सीरिया एवं विभिन्न अफ्रीकी देशों में लोकतन्त्र की स्थापना के नाम पर किये गये नरसंहार को तर्कहीन तथा बड़े पैमाने पर की गई या कराई गई हत्या सिद्ध करती है। भारतीय संदर्भ में कुछ ऐसा ही बर्ताव आदिवासियों के साथ नक्सलवाद व सभ्यता की मुख्य धारा में शामिल करने के नाम पर किया जाता रहा है। जबकि इन आदिवासियों की भी अपनी भाषा, सभ्यता व संस्कृति है, इस पर कभी ध्यान ही नहीं दिया गया।

इस उपन्यास में महाभारत के युद्ध के बाद जिस राज्य की स्थापना होती है और उसकी जिस स्थिति का वर्णन इसमें किया गया है तथा बलराम व कृष्ण के संवादों के माध्यम से जो बातें निकलकर आती हैं, वे भारतीय राजनीति के वर्तमान चेहरे को बेनकाब करती हैं। उपन्यास में सत्ता (सरकार) के निकम्मेपन को उजागर करते हुए बलराम कहते हैं कि ''तुमने किस घामड़ और निकम्मे आदमी के लिए लाखों के खून बहाए किशन?''[5] बलराम इन शब्दों का प्रयोग इस लिए करते हैं क्योंकि जब–जब राज्य पर कोई विपत्ति आती है तो राजा युधिष्ठिर को तीर्थटन और यात्रा भ्रमण सूझता है। ये बातें कहीं न कहीं एक राजा (सरकार) द्वारा अपनी जिम्मेदारियों से मुँह चुराने की ओर ही संकेत करती हैं, जो प्रकारांतर से आम जनता की समस्याओं के प्रति अपने जिम्मेदारी से मुक्त, सभाओं और विदेश यात्राओं में व्यस्त सत्ता, सरकार व राजनीति के वर्तमान स्वरूप की ओर भी इशारा करती है।

युधिष्ठिर के इसी निकम्मेपन से क्रोधित होकर 'उपसंहार' के भीम, जिनका क्रोध उचित भी है कहते हैं कि ''राज्य में महामारी फैल रही है, लोग मर रहे हैं। गाँव के गाँव अपना राज्य छोड़कर दूसरे राज्य में भाग रहे हैं। यह आपके लिए (तीर्थाटन का) सुयोग है?''[6] जबकि इस प्रकार की विपत्ति, अकाल और महामारी आदि के प्रभाव को कम किया जा सकता है, हाँ इसके लिए सरकार की राजनीतिक इच्छाशक्ति का होना आवश्यक है। यह 'उपसंहार' में सहदेव के कथनों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है–''नहीं, लोगों को मरने से रोका जा सकता है। आपका काम है कि आप अच्छा से अच्छा वैद्य भिजवाइए, औषधि भिजवाइए, साफ–सफाई का बन्दोबस्त कीजिए, उनके बीच जाइए, उन्हें भरोसा दीजिए, अपने बीच राजा को देखकर उनका मनोबल बढ़ेगा। यही राजधर्म है।''[7] यहाँ देखा जा सकता है कि ये पंक्तियाँ आज के राजनेताओं का जनता से सम्पर्क के अभाव की ओर संकेत करती हैं। राजनेताओं का जनता से इस दूरी के कारण ही 'अंधायुग' में प्रहरी कहते हैं– 'शासन करेंगे क्या?/ जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की।'

आज के राजनेता आम जनता की शिकायतों की ओर शायद ही ध्यान देते हैं। यदि किसी प्रकार जनता की शिकायत सरकार तक पहुँच भी जाती है तो वर्तमान भारतीय राजनीति और उसके माध्यम से बनने वाली सरकार की भाषणबयानी वाली चिरपरिचित प्रवृत्ति कुछ इस रूप में खुलकर सामने आती है कि ''धैर्य धारण करें, ऐसा मेरे ही राज्य में नहीं, पूरे आर्यावर्त में हो रहा है।''[8] ऐसे में

जनकवि नागार्जुन की यह पंक्ति याद आती हैं–'चटा गये धीरज का इमरित, सुना गये बातें उधार में।' यहाँ 'ऐसा मेरे ही राज्य में नहीं पूरे आर्यावर्त में हो रहा है'–पंक्ति से एक बात यह भी व्यंजित होता है कि एक राज्य व सरकार का भ्रष्ट व निकम्मा होना, जैसे दूसरे राज्य या सरकार के लिए भ्रष्टाचार व निकम्मेपन का प्रमाणपत्र हो। इसीलिए तो सरकारें भले ही बदलती रही हो, लेकिन जनता की समस्याएं वैसी की वैसी बनी रहती हैं।

इतना ही नहीं राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए छल, कपट व झूठ का सहारा लेना आज की राजनीति में आम बात हो गई है और मजे की बात यह है कि ''जिसे तुम छल, कपट, झूठ, अधर्म कहते हो/ वे रणनीति के ही अंग हैं।''[9] साथ ही यह उपन्यास आज की सुविधाभोगी व अवसरवादी राजनीति की ओर भी संकेत करता है। महाराज उग्रसेन का यह कथन इस संदर्भ में उद्धृत किया जा सकता है कि ''क्या यह गलत है कि तू मेरा अमात्य था, फिर उस कंस का अमात्य हुआ, जिसने मुझे कारागार में डाला था? कंस मारा गया तो द्वारका में द्वारकाधीश का अमात्य हुआ ? यह अवसरवाद नहीं तो क्या है कि नरेश आते–जाते रहे और तू अमात्य का अमात्य ही बना रहा ?''[10]

काशीनाथ सिंह अपने इस उपन्यास के माध्यम से प्रशासनिक तन्त्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार को भी उजागर करते हैं। आज के समय में व्यापक पैमाने पर व्याप्त भ्रष्टाचार का एक भाई भूमण्डलीकरण भी है। कहीं न कहीं इसी भूमण्डलीकरण के कारण भारतीय समाज में पूँजी की केन्द्रीयता बढ़ी है। भूमण्डलीकरण व पूँजी के आपसी गठजोड़ ने बाजार आधारित उपभोग मूलक संस्कृति व कभी न खत्म होने वाली लालची प्रवृत्ति को जन्म दिया है। यही पूँजी केन्द्रीयता, उपभोगमूलक संस्कृति व बढ़ी हुई लालची प्रवृत्ति भ्रष्टाचार के मूल कारण हैं। इस पृष्ठभूमि में जिनसे भारतीय समाज व राजनीति के लिए कुछ सकारात्मक दिशा में कार्य करने की आशा की जा रही थी, ''वे गोधन, पशुधन, और अन्नधन लूटने में व्यस्त हैं।''[11] यहाँ कहा जा सकता है कि गोधन, पशुधन, अन्नधन में जुड़ा 'धन' शब्द इनका 'माल' (प्रोडक्ट) या पूँजी में तब्दील होने की स्थिति को भी स्पष्ट करता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसा कि मानव 'संसाधन' में और उसकी सेवा 'उत्पाद' में तब्दील होती चली गयी। यह सारा कुछ बाजारवाद का ही किया कराया है, क्योंकि ''हर चीज की पवित्रता को, आनन्द को, सात्विकता और शुद्धता को नष्ट कर उसे बाजारू और बिकाऊ बना देना बाजारवाद है। स्वस्थ जीवन–मूल्यों को नष्ट करना बाजारवाद है। हर तरफ भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी से अयोग्य व्यक्तियों का ऊँची जगहों पर पहुँचते जाना और योग्य तथा ईमानदार व्यक्ति को उसके न्यायपूर्ण अधिकार से वंचित करना बाजारवाद है।''[12]

इसी प्रकार कृष्ण से मिलने आने वालों से द्वारपालों द्वारा उनकी सामर्थ्य के अनुसार पण (ताँबे का सिक्का) वसूल करना तथा राजकीय वेतन पर मुफ्त सेवा के लिए नियुक्त नाविकों द्वारा किराया माँगना प्रशासनिक तंत्र तथा सरकारी दफ्तरों में व्याप्त भ्रष्टाचार को ही उजागर करता है।

'उपसंहार' में कृष्ण द्वारका को एक जातिविहीन गणराज्य बनाने का प्रयास करते हैं। वे लगे रहे 'एक ऐसा गणराज्य बनाने में जो दूसरे राज्यों के आगे मिसाल हो। जहाँ एक राजा नहीं, राज्य का हर नागरिक राजा हो। जो भी राज्य का निर्णय हो, हर नागरिक का निर्णय हो।' इस प्रकार शासन मुक्त राज्य व समाज परिकल्पना प्रकारांतर से गांधी द्वारा कल्पित समाज की ओर इशारा करती है। किन्तु द्वारका में जिस अराजकता को और नई पीढ़ियों में जिस नैतिक पतन को यह उपन्यास उजागर करता है, वह भारतीय समाज में बढ़ रहे अराजकता व नैतिक पतन को ही संकेतित कर रहा है। हत्या, अपहरण एवं बलात्कार आदि की घटनाएँ आज आम बात हो गई हैं। जबकि ''हमारे संस्कार ऐसे नहीं थे। हम संबंधों की गरिमा जानते थे, यह भी जानते थे कि क्या उचित है और क्या अनुचित? ये बातें खत्म हो रही हैं अब। ऐसा क्यों है–हमें यही सोचना है।''[13]

अराजकता के इस वातावरण में नैतिकता, मूल्य, अनुशासन, प्रेम, सौहार्द्र जिसके लिए भारतीय समाज की ख्याति रही है, वे आज संकट के दौर से गुजर रहे हैं। मौजूदा माहौल में आज की पीढ़ी अधिक स्वेच्छाचारी, अधिक उद्दंड, अधिक मनमानी और नशाखोर होती जी रही है। इन समकालीन प्रश्नों को 'उपसंहार' उपन्यास में बखूबी वर्णित किया गया है।

यहाँ एक विचारणीय बात यह है कि 'उपसंहार' के कृष्ण युद्धभूमि में गीता का उपदेश देने वाले कृष्ण से भिन्न नजर आते हैं। 'फल की चिन्ता के बिना कर्म करने' का जो उपदेश उन्होंने दिया था, उसे यहाँ नये सिरे से परिभाषित करते हैं– ''उसी में मैंने कहा था कि तुम्हारा अधिकार सिर्फ कर्म करने में है, फल में नहीं। वह आधी बात थी, पूरी बात नहीं। पूरी बात यह है कि फल कर्म में ही निहित रहता है, भले दिखाई न दे।''[14] इस उपन्यास की एक बड़ी विशेषता है, इसमें वर्णित कृष्ण का चरित्र। यहाँ कृष्ण के चरित्र में ईश्वर की अपेक्षा मनुष्यत्व के अंश ज्यादा है और वे विभिन्न सामाजिक व पारिवारिक संबंधों की भूमिका निभाने हुए नजर आते हैं। अतः यहाँ कृष्ण का चरित्र आधुनिक भावबोध को लिए विकसित होता है।

'उपसंहार' उपन्यास में आज के ऐसे साधुओं बाबाओं व धर्म के ठेकेदारों पर भी व्यंग्य किया गया है, जो कहने मात्र के लिए साधु या बाबा हैं और जिसमें साधुता के गुण का सर्वथा अभाव है। यह उपन्यास में कृष्ण के कथनों में दिखाई देता है–''यहीं चूक हुई तुमसे। वे हँसी–मजाक नहीं जानते। खुशी–उल्लास नहीं जानते। मुस्कराना–हँसना नहीं जानते। वे कमंडल में शाप और मृत्यु लिये घूमते रहते हैं। ऋषि हैं, सिर्फ रोष करना जानते हैं''[15] और ''ये जिसकी दान–दक्षिणा और सेवा–सत्कार से प्रसन्न हों, उसे नारायण बना दें और जिससे असन्तुष्ट हों, उसे असुर और राक्षस।''[16]

इस उपन्यास में एक तथ्य ''यह भी विचारणीय है कि महत्वाकांक्षाओं के महाभारत में जहाँ आर्यावर्त में ब्राह्मण, महिलाएँ और बच्चों को छोंड़ कर कुछ भी नहीं बचा रह पाया, द्वारका भी विनाश की आग से अछूती नहीं रह सकी और अंत में खुद भी नष्ट हो गयी। इस उपन्यास का रूपक शायद आज के संदर्भ में भी यही इंगित करने का प्रयास करता लग रहा है, हालाँकि इसे सिद्ध होना अभी भविष्य के गर्भ में है।''[17]

अंत में, कहा जा सकता है कि 'उपसंहार' उपन्यास आज के समय के युद्ध, नर–संहार और राजनीतिक छल–कपट के एक रोचक महाभारत की ओर संकेत करता है, जहाँ मौजूदा यथार्थ का ऐसा विकट कुरूक्षेत्र है, जिसमें हर सपना लहूलुहान हो रहा है और हर आदर्श की हत्या हो रही है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि यह उपन्यास समकालीन संदर्भों को उजागर करने में सफल रहा है।

lanHkZ %

1. 'नई सदी का पंचतंत्र', उदय प्रकाश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2008, पृ0–57
2. 'उपसंहार', काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,2014 पृ0–52
3. वहीं, पृ0–107
4. वहीं, पृ0–52
5. वहीं, पृ0–57
6. वहीं, पृ0–58
7. वहीं, पृ0–58
8. वहीं, पृ0–51
9. वहीं, पृ0–67
10. वहीं, पृ0–119
11. वहीं, पृ0–51
12. 'एक कहानीकार की नोटबुक', स्वयं प्रकाश, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण–2010, पृ0–13
13. 'उपसंहार', काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,2014 पृ0–86
14. वहीं, पृ0–107
15. वहीं, पृ0–101
16. वहीं, पृ0–30
17. तद्भव (त्रैमासिक), सं0–अखिलेश, अप्रैल–2014, पृ0–218

***

cky fodkl ,o ifjokj % ,d lekt'kkL=h; v/;;u

MkO lhrkjke flg*

बालक में विश्वास, जिज्ञासा, आत्म–नियन्त्रण, सम्पर्क क्षमता, सांमजस्य, सहयोग, उत्तरदायित्व, पक्षपात, तिरस्कार आदि प्रारम्भ में परिवार से ही सिखाया जाता है। परिवार के सदस्यों का जैसा व्यवहार या आचरण होता है, बालक भी बहुत कुछ उसी प्रकार का व्यवहार सीखता है। बालक को परिवार से वंचित रखकर जो अध्ययन हुए हैं, उनसे यह तथ्य प्रकाश में आया है, कि बालक के विकास पर प्रारम्भिक पारिवारिक अनुभवों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जन्म के बाद बालक का पहला वातावरण परिवार ही है। इसी कारण बाल विकास पर परिवार का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

बाल विकास शब्द बाल एवं विकास दो शब्दों का समुच्चय है। बालक का अर्थ गर्भाधान से युवावस्था की आयु तक को समझा जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ एवं यूनिसेफ के अनुसार बच्चों से तात्पर्य 18 वर्ष से कम आयु के प्रत्येक मनुष्य से है, बशर्ते बच्चे पर लागू होने वाले कानून के तहत बच्चा उस .....[1] विकास का तात्पर्य वृद्धि की प्रक्रिया से है, जिसका प्रारम्भ गर्भाधान से होकर प्राणी के जीवन पर्यन्त किसी न किसी रूप में चलता रहता है। प्राणी के जीवन प्रसार में शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं के स्वरूप में क्रमिक परिवर्तन होते हैं। यही परिवर्तन विकास कहलाते हैं। बाल विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया परिवार के समाजीकरण से प्रारम्भ होती है।

एक सामान्य परिवार वह है जो संरचनात्मक रूप से सम्पूर्ण है अर्थात् जहां माता–पिता दोनों जीवित हैं, कार्यात्मक रूप से पर्याप्त है अर्थात् जहां प्रत्येक सदस्य अपनी अपेक्षित भूमिकाएं निभाता है, जिस कारण झगड़े कम हो जाते हैं, आर्थिक रूप से सुरक्षित है अर्थात् जिससे सदस्यों की महत्वपूर्ण आवश्यकताएं पूरी हो जाती है और नैतिक रूप से सशक्त है अर्थात् जहां प्रत्येक सदस्य संस्कृति के नैतिक मूल्यों का अनुसरण करता है।[2]

भारतीय संस्कृति की गतिशीलता ने परिवार के प्रतिमानों में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं। पिता–पुत्र सम्बन्ध, स्त्री–पुरूष सम्बन्ध में तो परिवर्तन हुए ही हैं साथ ही साथ स्त्रियों और पुरूषों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति में भी परिवर्तन हुए हैं। पारिवारिक मूल्यों में परिवर्तन के कारण अब परिवार का संगठन और वातावरण आदि सब कुछ पहले से अधिक भिन्न हो गया है।

एब जी0 निकेली (1967), जी0एफ0 ब्राडी (1969) ने अपने अध्ययन में देखा कि परिवार के सम्बन्धों में यदि एक बार ह्रास प्रारम्भ हो जाता है तो पारिवारिक सम्बन्ध बिगड़ते चले जाते हैं। बालकों में अपने संरक्षकों, अभिभावकों और परिवारीजनों के व्यवहार को सही ढंग से समझने की क्षमता नहीं होती है। वह अक्सर अपने से बड़ों के व्यवहार को अपने अज्ञान के कारण गलत अर्थ लगाते हैं।[3] मनोवैज्ञानिक इर्विन काफमैन (1959:15) सिडनी बर्मन (1964:142) और आगस्ट आईद्दौर्न (1969:16) बाल विकास में बचपन के अनुभवों, भावात्मक वंचनाओं, बच्चे के पालने की प्रक्रियाओं जो व्यक्तित्व के निर्माण को प्रभावित करते हैं, को महत्व देते हैं।[4]

mís'; & प्रस्तुत शोध अध्ययन का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है –

1. परिवर्तित पारिवारिक संरचना से बाल विकास पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।

*एसोसियेट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, परास्नातक समाजशास्त्र विभाग, गनपत सहाय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सुलतानपुर (उ0प्र0) (सम्बद्ध डॉ0 राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद (उ0प्र0) ।

2. बाल विकास में पारिवारिक मनोरंजन की भूमिका का अध्ययन करना।
3. बाल विकास में पारिवारिक नियन्त्रण किस प्रकार सम्बन्धित है।
4– परिवार की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि से बाल विकास के सह सम्बन्ध को ज्ञात करना।

midYiuk &

अध्ययन के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए हमने अध्ययन विषय से सम्बन्धित निम्नलिखित उपकल्पनाओं को निर्मित किया है –

1. परिवर्तित पारिवारिक संरचना से बाल विकास प्रभावित हो रहा है।
2. पारिवारिक मनोरंजन साधन का बाल विकास पर कोई प्रभाव नही पड़ता है।
3. पारिवारिक नियन्त्रण का बाल विकास पर प्रभाव पड़ता है।
4. परिवार की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि से बाल विकास प्रभावित नहीं होता है।

v/;;u i)fr &

प्रस्तुत अध्ययन सुलतानपुर जनपद के शहरी क्षेत्र में रहने वाले 100 ऐसे परिवारों का चयन किया गया है, जहाँ परिवार के माता–पिता बच्चों द्वारा उत्पन्न की जाने वाली समस्याओं का उल्लेख किया है। इन परिवारों के बच्चों का चयन सोद्देश्य निदर्शन प्रविधि के आधार पर दैव स्तरित समानुपातिक निदर्शन प्रणाली का अनुसरण किया गया है। बालक एवं बालिकाओं की संख्या समान है। अध्ययन की प्रकृति अन्वेषणात्मक और विवरणात्मक दोनों ही है। साक्षात्कार–अनुसूची एवं सहभागी अवलोकन प्रविधियों का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अधिकांश बालक किशोरावस्था के हैं, जिसमें बालक–बालिकाओं की संख्या समान है।

अध्ययन किये गये अधिकांश 89.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के माता–पिता की आयु 40 वर्ष या इससे कम आयु समूह के हैं। सर्वाधिक 68.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं का परिवार उच्च जाति का है, 25. 0 प्रतिशत मध्यम जाति जबकि 07.0 प्रतिशत निम्न जाति के हैं। अधिकांश 92.0 प्रतिशत उत्तरदाता हिन्दू धर्म के हैं। अधिकतर 65.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के माता–पिता हाईस्कूल तक की शिक्षा प्राप्त किये हुए हैं। अधिकतर 42.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं का परिवार मध्यम आय वर्ग (मासिक आय रू0 10,000/= तक) के हैं। अधिकांश उत्तरदाताओं के परिवार का व्यवसाय निजी संस्थानों के कर्मी, छोटी या सामान्य दुकान, मिस्त्री आदि कार्य करते हैं।

ifjokj dh vUr% fØ;kRed 0;oLFkk & आधुनिक परिवार एकाकी परिवार है। इस प्रकार के परिवार में पति, पत्नी और बच्चे ही सम्मिलित होते हैं। जे0एन0एस0 बोसार्ड एवं ई0एस0 बाल, 1966 ने अन्तः क्रियात्मक व्यवस्था को ज्ञात करने का एक सूत्र दिया है, जो इस प्रकार है –

$$x = \frac{y^2 - y}{2}$$ (इस सूत्र में X = पारस्परिक सम्बन्धों की संख्या तथा y =

परिवार में सदस्यों की संख्या है)

परिवार में यदि पति और पत्नी केवल दो ही सदस्य हैं तो पारस्परिक सम्बन्धों की संख्या केवल एक होगी। यदि परिवार में एक शिशु हो तो उपर्युक्त सूत्र के अनुसार अन्तः क्रियात्मक व्यवस्थाओं की संख्या तीन हो जायेगी। यदि दो बच्चे हों तो 6, तीन बच्चे होने पर 10 तथा चार बच्चे होने पर अन्तः क्रियात्मक व्यवस्थाओं की संख्या 15 होगी। जितनी अन्तः क्रियात्मक व्यवस्थाओं की संख्या बढ़ेगी, मनमुटाव के बढ़ने की सम्भावना भी उतनी ही बढ़ जाती है।[5] इससे परिवार का संवेगात्मक वातावरण बदल जाता है और अन्त में पारिवारिक सम्बन्ध भी बिगड़ जाते हैं। इसी सन्दर्भ में उत्तरदाताओं के परिवार के आकार का अध्ययन किया गया।

rkfydk l[;k&1

mRrjnkrkvk d ifjokj d vkdkj dk fooj.k

ifjokj d lnL;k dh l[;k	l[;k	ifr'kr
चार	33	33.0
पाँच–छः	56	56.0
छः से ऊपर	11	11.0
योग	100	100.0

तालिका संख्या–1 के विवेचन से विदित होता है कि सर्वाधिक 56.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार में सदस्यों की संख्या पाँच–छः है, 33.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार में सदस्यों की संख्या चार है, जबकि 11.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार में सदस्यों की संख्या छः से ऊपर है। इससे स्पष्ट है कि अधिकांश परिवारों में सदस्यों की संख्या अधिक है, जिससे परिवार में मनमुटाव, रूचियाँ आकाक्षाएँ और आवश्यकताओं में भिन्नता रहने के कारण परिवार का संवेगात्मक वातावरण बदल जाता है।

ifjokj e HknHkko dh fLFkfr &

एन0 बेले, 1960 ने अपने अध्ययन में देखा कि माँ अपने बेटे का बेटियों की अपेक्षा अधिक पक्ष लेती है तथा पिता अपनी बेटी का बेटों की अपेक्षा अधिक पक्ष लेता है।[6] बाल अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय का अनुच्छेद–2 के अनुसार प्रत्येक देश यह सुनिश्चित करेगा कि बच्चे के माता–पिता या अन्य सदस्यों के द्वारा वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक विचारधार, जन्म, हैसियत या अन्य आधारों पर बच्चों के साथ किसी प्रकार का भेदभाव या दण्ड न झेलना पड़े।[7] लेकिन भारत में अधिकांश परिवारों में बालक बालिकाओं के साथ अनेक आधारों पर भेद किया जाता है। फलस्वरूप बालक उद्दण्ड तथा बालिकायें मानसिक दासियाँ बन जाती है। परिवार में बच्चों से भेदभाव सम्बन्धित निम्नलिखित आँकड़े प्राप्त हुए।

rkfydk l[;k&2

mRrjnkrkvk d ifjokj e HknHkko dh fLFkfr dk fooj.k

परिवार में भेदभाव की स्थिति	संख्या	प्रतिशत
हाँ	57	57.0
नहीं	43	43.0
योग	100	100.0

तालिका संख्या–2 के अवलोकन से ज्ञात होता है कि अधिकतर 57.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवारों में भेदभाव होता है, जबकि 43.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार में भेदभाव नहीं होता है। अध्ययन में बच्चों से रैपर्ट सम्बन्ध स्थापित करने पर बताया कि लिंग, आयु, रंग, लम्बाई, वजन, नाटा या मोटा होना, परीक्षा में अंक आदि के आधार पर भेदभाव होता है तथा उनके नाम से न पुकार कर उपनाम या विकृत नाम से पुकार कर भेदभाव किया जाता है। महिला और बाल विकास मंत्रालय के द्वारा सर्वेक्षण में भेदभाव से तंग आकर 48.4 प्रतिशत लड़कियों ने अपने को लड़के होने की बात कही।[8] इससे स्पष्ट है कि अधिकांश परिवारों में बच्चों के साथ भेदभाव एवं विकृत नाम से पुकारने के कारण, बाल विकास प्रभावित होता है।

माता–पिता और बालकों के सम्बन्ध बहुत कुछ माता–पिता की अभिवृत्तियों से प्रभावित और निर्धारित होते हैं। जब बालकों को अपने परिवार की अनुकूल अभिवृत्ति प्राप्त होती है, तो बच्चों के आनन्द, मित्रता, सहयोग और संरचनात्मक जैसे गुणों का विकास होता है। जब बालकों को अपने परिवार की अनुकूल अभिवृत्ति प्राप्त नहीं होती है, तब उनमें ऐसे लक्षण उत्पन्न होते हैं जिससे कि बालक के पारिवारिक सम्बन्धों के बिगड़ने की सम्भावना अधिक होती है। बाल अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय के अनुच्छेद–9 के अनुसार बच्चों को अपने माता–पिता व अन्य सदस्यों के साथ प्यार से रहने

का अधिकार प्राप्त है। इस सम्बन्ध में बच्चों से परिवार के आपसी सम्बन्ध का अध्ययन किया गया, जिसका विवरण निम्नलिखित है :–

rkfydk l[;k&3

ifjokj d vkilh lEcU/k dk fooj.k

परिवार के आपसी सम्बन्ध	संख्या	प्रतिशत
मधुर	26	26.0
तनाव या संघर्षपूर्ण	41	41.0
उदासीन	04	04.0
सभी	29	29.0
योग	100	100.0

तालिका संख्या 3 के विवेचन से विदित होता है कि सर्वाधिक 41.0 प्रतिशत बच्चों के परिवार में माता–पिता के बीच प्रायः तनाव बना रहा है, 29.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार के आपसी सम्बन्ध मधुर, तनाव एवं उदासीन सभी बना रहता है, 26.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार में मधुर सम्बन्ध है, जबकि 4.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार में आपसी सम्बन्ध उदासीन है।

इससे स्पष्ट है कि अधिकांश उत्तरदाताओं के परिवार के पारिवारिक सम्बन्ध तनावपूर्ण हैं। अब्राहम सेन (1960;43) ने पाया कि पारिवारिक तनाव विरोध और घृणा से उत्पन्न होता है। तनाव से भरे वातावरण में बच्चा सुरक्षित और सन्तुष्ट महसूस नहीं करता। लम्बे समय से चलता तनाव परिवार की समरसता को कम कर देता है और माता–पिता के सन्तोषजनक शिशु पालन और पारिवारिक समस्या निवारण के लिए प्रेरक वातावरण प्रदान करने की क्षमता को प्रभावित करता है।[9] वे परिवार जहाँ तनाव और विरोध व्याप्त होते हैं, भविष्य के बाल विकास को प्रभावित करते हैं।

परिवार के तनाव के कारणों के अध्ययन से प्राप्त आंकड़ो से ज्ञात होता है कि सर्वाधिक 74.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार माता–पिता के दुर्व्यसन एवं अनैतिक आदतों के कारण परिवार में तनाव व्याप्त रहता है। इस तनाव के कारण प्रायः माता–पिता में भावात्मक अस्थिरता और व्यवहारिक बाधाएँ उत्पन्न हो जाती है।

HkkokRed opuk vFkok ikfjokfjd vLohdfr&

परिवार में बच्चों की अस्वीकृति अथवा उपेक्षित होने पर उन्हें प्रेम और स्नेह और इसके साथ–साथ समर्थन नहीं मिलता है। परिवार में देख–रेख नहीं होने पर बच्चे अक्सर परिवार के बाहर के लोगों से प्रभावित होते हैं। माता–पिता और बच्चे की एक–दूसरे की अस्वीकृति सकारात्मक सम्बन्ध पर सुस्पष्ट रूप से प्रभाव डालती है। जैन्किस (1957:528–37) ने पाया कि माता–पिता की अस्वीकृति का बच्चे की अन्तरात्मा के विकास पर सीधा प्रभाव पड़ता है। उन्होनें पाया कि समुचित, अन्तरात्मा का अभाव और उसके साथ अस्वीकृत किये जाने से उत्पन्न विरोध की भावनाएँ आक्रमणशीलता की आरे ले जाती है।[10] इस सन्दर्भ में बच्चों से माता–पिता द्वारा उनके साथ भावनात्मक सम्बन्ध एवं उनके व्यवहार की स्वीकृति का अध्ययन किया गया। अध्ययन से प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि सर्वाधिक 52.0 प्रतिशत परिवारों में बच्चे अपने माता–पिता के व्यवहार से भावात्मक वंचना महसूस करते हैं, और उनके कार्यों को परिवार द्वारा स्वीकृति नहीं मिलती है।

इससे स्पष्ट है कि भावनात्मक वंचना या पारिवारिक अस्वीकृति से बालकों का व्यक्तित्व प्रभावित हो रहा है। इससे उपकल्पना संख्या एक प्रमाणित होती है।

eukjatu d lk/ku ,o vodk'k miyC/krk dh fLFkfr&

बाल अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय के अनुच्छेद–31 के अनुसार समझौते में शामिल देश आराम करने, खेलने, अपने उम्र के अनुरूप मनोरंजन करने, सांस्कृतिक जीवन और कलाओं में मुक्त रूप से भाग लेने के बाल अधिकार को मान्यता देते हैं। लेकिन इसके विपरीत भारत में अधिकांश बच्चों के मनोरंजन और अवकाश पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इस सन्दर्भ में अध्ययन के आँकड़े निम्नलिखित हैं –

rkfydk l[;k&4

mRrjnkrkvk d ifjokjk }kjk eukjtu d lk/ku dk fooj.k

मनोरंजन के साधन की उपलब्धता	संख्या	प्रतिशत
हाँ	63	63.0
नहीं	37	37.0
योग	100	100.0

तालिका संख्या–4 के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अधिकांश 63.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार में मनोरंजन के साधन उपलब्ध है, जबकि 37.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के परिवार में मनोरंजन के साधन उपलब्ध नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि अधिकांश परिवारों में बच्चों के लिए मनोरंजन के साधन उपलब्ध हैं।

परिवार का बच्चों के मनोरंजन पर नियन्त्रण न होने से बच्चों में सिनेमा, टी0वी0 आदि के प्रभाव से उनमें हिंसक मनोवृत्ति के साथ–साथ काम वासनाओं की प्रवृत्ति बढ़ती है, जिससे उनका व्यक्तित्व प्रभावित होता है। अध्ययन के इसी क्रम में उत्तरदाताओं से यह जानने का प्रयास किया गया कि मनोरंजन के साधन उपलब्ध होने के बाद, परिवार के सदस्य आपके साथ मनोरंजन करते हैं या किसी भी प्रकार का पारिवारिक नियन्त्रण होता है। अध्ययन में अधिकांश 90.0 प्रतिशत बच्चों ने बताया कि मनोरंजन करते समय परिवार के सदस्य साथ नहीं रहते या परिवार का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहता है।

बच्चों से रैपर्ट सम्बन्ध स्थापित कर यह जानने का प्रयास किया गया कि बच्चे किस प्रकार के मनोरंजन को प्रमुखता से देखते/करते हैं। अधिकांश बच्चों ने बताया कि हिंसापूर्ण एवं रोमांटिक फिल्में, कार्टून आदि अधिक मात्रा में देखने का प्रयत्न करते हैं। इसके साथ ही अधिकांश बच्चों ने यह भी स्वीकार किया कि इन दृश्यों के प्रभाव से उनका व्यक्तित्व प्रभावित होता है। इससे उपकल्पना संख्या दो प्रमाणित नहीं होती है।

ikfjokfjd fu;U=.k vFkok vu'kklu&

बच्चों के लालन–पालन में माता–पिता द्वारा जिस प्रकार के अनुशासन को काम में लाया जाता है, वह परिस्थिति और बच्चे के अनुसार भिन्न होता है। यदि प्रेम अभिमुख अनुशासन, दण्डात्मक अनुशासन, ढीला अनुशासन, अनियमित अनुशासन अर्थात् दण्डात्मक और ढीला अनुशासन अपनाया जाता हो तो बच्चों का व्यक्तित्व प्रभावित होता है। अनुचित अथवा पक्षपाती अनुशासन से बच्चे का व्यक्तित्व का निर्माण ठीक ढंग से नहीं हो पाता है।

rkfydk l[;k&5

ikfjokfjd fu;U=.k d Lo:i dk fooj.k

पारिवारिक नियन्त्रण या अनुशासन	संख्या	प्रतिशत
बहुत कठोर	32	32.0
सामान्य	27	27.0
अनियमित	41	41.0
योग	100	100.0

तालिका संख्या 5 से यह ज्ञात होता है कि अधिकांश 41.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार पारिवारिक नियत्रंण या अनुशासन अनियमित अर्थात् दण्डात्मक और ढीला अनुशासन है, 32.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार पारिवारिक नियत्रंण बहुत कठोर अर्थात् दण्डात्मक है, जबकि 27.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार पारिवारिक नियन्त्रण सामान्य अर्थात् प्रेम एवं नियंत्रण में समन्वय है।

अतः इससे स्पष्ट है कि अधिकांश बच्चों के अनुसार परिवार में नियत्रंण या अनुशासन कठोर दण्डात्मक एवं ढीला अनुशासन है। इन दोनों प्रकार के अनुशासन से बच्चों का व्यक्तित्व प्रभावित होता है। इससे उपकल्पना संख्या तीन प्रमाणित होती है।

ikfjokfjd vFk'kkL=&

बच्चे की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में परिवार की असमर्थता असुरक्षा उत्पन्न कर सकती है और बच्चे पर परिवार के नियन्त्रण की मात्रा को प्रभावित कर सकती है, क्योंकि वह प्रायः सांसारिक सहारा और सुरक्षा घर से बाहर खोजता है। परिवार की आर्थिक स्थिति एक बहु समस्यात्मक परिवार के कई योगदान देने वाले कारकों में से एक हो सकती है। इसी सन्दर्भ में बच्चों से उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की परिवार द्वारा पूर्ति किये जाने का अध्ययन किया गया।

अध्ययन से प्राप्त आंकड़ों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि अधिकांश 71.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार परिवार अर्थात् माता–पिता उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जबकि 29.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार पूर्ति नहीं करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि अधिकांश परिवारों में बच्चों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति किया जाता है।

ekrk&firk dk 0;olk; &

पिता के व्यवसाय का परिवार के बच्चों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। बच्चों की तो सामाजिक प्रतिष्ठा बहुत कुछ पिता के व्यवसाय से ही निर्धारित होती है। एम0 रोडमान ऐट0 आल0 1969, जे0एच0एस0 बोसार्ड एवं ई0एस0 बाल, 1966 में यह देखा गया है कि जो बच्चे अपने पिता के व्यवसाय को बताने पर शर्म का अनुभव करते हैं, उन बच्चों की उनके पिता, घर और स्वयं के प्रति विपरीत अभिवृत्तियाँ निर्मित होती है।[11] माँ का व्यवसाय भी बालकों के व्यवहार को प्रभावित करता है। माँ के व्यवसाय में रहने पर बच्चे में अकेलापन एवं अप्रसन्नता की भावनाएँ उत्पन्न होती है।

अध्ययन से प्राप्त आँकड़ों के विवेचन से स्पष्ट है कि सर्वाधिक 64.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के माता–पिता ऐसे व्यवसाय करते हैं, जिसे बच्चे को बताने में परेशानी होती है। इस प्रकार माता–पिता के व्यवसाय से बच्चे का आत्म–प्रत्यय प्रभावित हो रहा है।

ikfjokfjd&lkekftd lglEcU/k &

बालक को परिवार, सामाजिक अनुरूपता का प्रशिक्षण देता है, वह कोई ऐसा काम न करे, जिससे परिवार की आलोचना या बदनामी हो। इसके साथ ही परिवार बच्चों को विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों को बढ़ाने एवं सामाजिक सहभागिता में कार्य करने का अवसर देता है। जिससे बच्चे का सन्तुलित विकास होता है। इसी सन्दर्भ में उत्तरदाताओं से सामाजिक सहसम्बन्ध का अध्ययन किया गया है, जिसका विवरण इस प्रकार है –

rkfydk l[;k&6

ikfjokfjd&lkekftd lglEcU/k dk fooj.k

पारिवारिक–सामाजिक सहसम्बन्ध	संख्या	प्रतिशत
पड़ोसियों से सम्बन्ध	20	20.0
बाहरी लोगों का आना–जाना	32	32.0
सामाजिक गतिविधियों में सहभागिता कम	48	48.0
योग	100	100.0

तालिका संख्या–6 के विवेचन से विदित होता है कि सर्वाधिक 48.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार परिवार की सामाजिक गतिविधियों में सहभागिता कम है, 32.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार परिवार में बाहरी लोगों का आना–जाना लगा रहता है, जबकि 20.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार उनके परिवार का पड़ोसियों के साथ सम्बन्ध है।

इससे स्पष्ट है कि अधिकांश बच्चों के परिवार में वाह्य लोगों के साथ सम्बन्ध है, लेकिन पड़ोसियों के साथ सम्बन्ध नहीं है तथा सामाजिक गतिविधियों में सहभागिता भी कम है। इससे बालक का सन्तुलित सामाजिक विकास में बाधा पहुँचती है। इससे उपकल्पना संख्या चार असत्य सिद्ध होती है।

rkfydk l[;k&7

cPpksa dk lkekftd f'k{kk ij /;ku nsus dk fooj.k

सामाजिक शिक्षा	संख्या	प्रतिशत
पूरा ध्यान	43	43.0
ध्यान नहीं	26	26.0
खाने–पीने के समय	31	31.0
योग	100	100.0

तालिका संख्या–7 के विश्लेषण से स्पष्ट है कि सर्वाधिक 43.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार परिवार में सामाजिक शिक्षा पर पूरा ध्यान दिया जाता है, 31.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार खाने–पीने के समय सामाजिक शिक्षा पर ध्यान दिया जाता है जबकि 26.0 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार कोई ध्यान नहीं दिया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि अधिकांश उत्तरदाताओं के परिवार में सामाजिक शिक्षा पर पूर्ण ध्यान दिया जाता है, जो बाल विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

इस प्रकार समग्र विश्लेषण से निष्कर्षतः स्पष्ट है कि अधिकांश एकाकी परिवारों में से सदस्यों की संख्या अधिक है, जिससे परिवार के अन्तः क्रियात्मक व्यवस्थाओं पर प्रभाव पड़ता है। इन परिवारों में बच्चों के साथ भेदभाव किया जाता है एवं उनको विकृत नाम से पुकारा जाता है। इन परिवारों में बच्चों के माता–पिता का आपसी सम्बन्ध तनावपूर्ण है। माता–पिता के दुर्व्यसन एवं अनैतिक आदतों के कारण परिवार में तनाव बना रहता है। इन परिवारों में बच्चे भावनात्मक वंचना या पारिवारिक अस्वीकृति को महसूस करते हैं। इन परिवारों में बच्चों के लिए मनोरंजन एवं अवकाश उपलब्ध है, लेकिन इनके मनोरंजन एवं अवकाश पर परिवार का कोई नियन्त्रण नहीं है। बच्चे प्रायः हिंसापूर्ण, कामुक दृश्य (फिल्में) एवं कार्टून आदि देखना पसन्द करते हैं, इससे उनकी मनोवृत्ति में असामाजिक प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। इन बच्चों के परिवार में नियंत्रण अथवा अनुशासन कठोर दण्डात्मक एवं ढीला अनुशासन है। इन परिवारों में बच्चे की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, लेकिन बच्चों के माता–पिता ऐसे व्यवसाय करते हैं, जिसे बच्चों को बताने में परेशानी होती है। बच्चों के परिवार में सामाजिक सम्बन्ध एवं सहभागिता में कमी है, लेकिन सामाजिक शिक्षा पर पूर्ण ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पारिवारिक संरचना एवं क्रिया से बाल विकास प्रभावित हो रहा है।

lanHkZ %

1. अनुच्छेद–1, 'बच्चा होने का अधिकार' भारत सरकार के लिए प्रकाशित यूनीसेफ इंडिया कन्ट्री ऑफिस, न्यूयार्क, 2004, पृ02 ।
2. आहूजा, राम 2008 : 347, सामाजिक समस्याएँ, जयपुर : रावत पब्लिकेशन्स।
3. श्रीवास्तव, डी0एन0 वर्मा, प्रीति 2007 : 468, बाल मनोविज्ञानः बाल विकास, आगरा : विनोद पुस्तक मन्दिर।
4. आहूजा, राम 2008 : 346, तदैव।
5. श्रीवास्तव, डी0एन0, वर्मा, प्रीति, 2007 : 470–471, तदैव।
6. वहीं, पृ0 487 ।
7. बाल अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय 1989, संकल्प सं0 44/5, उद्धृत त्रिपाठी, टी0पी0, 2004 : 20, मानव अधिकार एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधि, इलाहाबाद : इलाहाबाद ला एजेन्सी पब्लिकेशन्स।
8. महिला और बाल विकास मंत्रालय : रिपोर्ट भारत सरकार प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
9. आहूजा, राम, 2008:347, तदैव।
10. वहीं, पृ0 349
11. श्रीवास्तव, डी0एन0, वर्मा, प्रीति, 2007: 489 तदैव।

***

f'k'kikyo/ke e lk[;

vf[ky'k dekj*

यहाँ सांख्य से तात्पर्य ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्यदर्शन से है, जिसमें प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान का निदर्शन किया गया है। सांख्य शब्द सम् उपसर्गपूर्वक 'चक्षिङ्' धातु से अङ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ सम्यक् ख्याति अर्थात् सम्यक् दर्शन या सम्यक् ज्ञान है। कुछ दार्शनिकों ने सांख्य के दो अर्थ किए हैं– सांख्य तथा ज्ञान। यथा– सांख्य– संख्यायन्ते गण्यन्ते येन तत् सांख्यम् संख्यायते। ज्ञान– प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिरूपोध्वबोधो समयक् ज्ञायते येन तत् सांख्यम्। परन्तु यहाँ सांख्य का अर्थ ज्ञान को ही ग्रहण किया गया है। सांख्य का अर्थ ज्ञान होने के कारण इसे ज्ञानदर्शन या ज्ञानशास्त्र भी कहा जा सकता है। सांख्य के इस विवेकज्ञान से महाकवि माघ भी प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। यही कारण है कि उनके महाकाव्य शिशुपालवधम् में अनेक स्थलों पर सांख्यदर्शन के तत्त्व प्राप्त होते हैं। यथा– सांख्यदर्शन में पुरुष को उदासीन माना गया है और कहा गया है– 'कर्त्तेव भवत्युदासीनः' अर्थात् कर्ता उदासीन होता है। इसी प्रकार प्रकृत महाकाव्य में बलराम भगवान् श्रीकृष्ण को उदासीन कहा है और कहा है कि हे श्रीकृष्ण! आपके उपस्थित रहने मात्र से ही सेना विजय प्राप्त कर लेगी और विजय आपकी कहलाएगी। इससे यही ध्वनित होता है कि जो कर्ता होता है, वह कुछ न करते हुए, उदासीन होते हुए भी फल का भोक्ता होता है अर्थात् उसी को फल की प्राप्ति होती है–

fot ;LRof; lnuk;k% lkf{kek=?ifn';rkeA
QyHkkft leh{;kDr cq)Hkkx bokRefuAA

सांख्यदर्शन में पुरुष को मूल प्रकृति से भिन्न तथा उदासीन माना गया है– कर्त्तेव भवत्युदासीनः। तथा न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।

इसी प्रकार महाकवि ने भी भगवान् श्रीकृष्ण को मूल प्रकृति से भिन्न तथा उदासीन बताया है और उन्हें परमपुरुष बताया है, जिन्हें कपिल आदि अपनी इन्द्रियों को वश में करके समाधि के द्वारा प्राप्त करते हैं। क्योंकि वे मोक्ष के उत्पत्तिस्थान हैं–

mnkfl rkj fuxghrekul xghre/;kRen'kk dFk¥puA
cfgfodkj idr% iFkfXon% ijkru Rok i#"k ijkfon%AA

सांख्यदर्शन में आत्मा अर्थात् पुरुष को कर्ता के रूप में या समान प्रतिपादित किया गया है और कहा गया है कि वह पाप–पुण्यादि कुछ भी न करते हुए भी कर्तृत्व अर्थात् फल को प्राप्त करता है, बुद्धि नहीं। जबकि बुद्धि ही सभी कार्यों को सम्पादित करती है और कर्ता तथा भोक्ता भी वही है–

Lo; fØ;kHkkx jfgrk/l;kRek cq)% lfUu/kkukn LQfVdoÙkFkk HkorhR;Fk%A

तथा

rLekÙkRl;kxknpru pruokofno fy³xeA
x.kdr Ro p rFkk dÙko HkoR;nklhu%AA

इसी प्रकार महाकवि ने युधिष्ठिर को कर्ता के रूप में वर्णित किया है कि वे स्वयं होमादि यज्ञीय क्रियाओं को न करते हुए भी कर्तृत्व को प्राप्त हुए। जबकि यज्ञकर्म का सम्पादन पुरोहित कर रहे थे–

rL; lk[;i#"k.k rY;rk fcHkr% Lo;edo r% fØ;k%A
dr rk rniyEHkrk?HkonofÙkHkkft dj.k ;FkfRoftAA

*शोधच्छात्र– संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

संख्य में बुद्धि को निश्चयात्मिका अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो बताया गया है और यह भी कहा गया है कि सभी कार्यों का सम्पादन बुद्धि द्वारा ही होता है। इसी प्रकार महाकवि ने भी बुद्धि को श्रेष्ठ बताया है और कहा है कि बुद्धि के द्वारा सत्यनिष्ठा से किया हुआ कार्य सदैव फलदाई होता है। जो व्यक्ति दृढ़ निश्चय करके बुद्धि से कार्य करते हैं, वे कभी दुःख का अनुभव नहीं करते, सुख एवं शान्ति का अनुभव करते हैं।

उद्धव जी कहते है कि हे श्रीकृष्ण! जो विद्वान् युक्तियुक्त और स्थिर बुद्धि को ही पलंग बनाकर उसका आश्रय ग्रहण करते हैं, वे उस पर सदा निश्चिन्त होकर सुखानुभव करते हैं–

lki/kkuk f/k; /khjk% LFk; lh [kVo;fUr ;A
r=kfu'k fu"k..kkLr tkur tkr u JeeAA

पुनः उद्धव जी बुद्धि के दो प्रकार कुशाग्र और अल्पबुद्धि के विषय में बताते हैं कि कुशाग्र बुद्धि उस तीक्ष्ण बाण के समान होती है, जो अल्प समय में ही अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाती है अर्थात् कार्य तत्त्व का अवगाहन करती है, जबकि अल्पबुद्धि पत्थर के समान अधिक स्थान लेकर भी अन्तःकरण में प्रविष्ट नहीं हो पाती है–

Li'kfUr 'kjoÙkh{.kk% Lrkdeurfo'kfUr pA
cgLi'kk/kfi LFkyu LFkh; r cfgj'eorAA

प्रमादी एवं अहंकारी व्यक्ति किस प्रकार सर्व साधन सुलभ होने पर भी सुचारु रूप से कार्य को सम्पादित नहीं कर पाते। इसको महाकवि बताते हैं, कि युक्तियों से कार्य को सम्पादित करने वाला व्यक्ति उपाय के रहने पर भी प्रमाद होने से, उसी प्रकार कार्य को सम्पादित नहीं कर पाता, जिस प्रकार सोने वाला बहेलिया उपशय अर्थात् मृगों के मार्ग में छिपकर बैठने के सथान पर रहकर भी मृगों को नहीं मार पता–

mik;ekfLFkrL;kfi u';UR;Fkk% iek|r%A
gfUr uki'k;LFkk/;kfi 'k;kyx;e'xkuAA

सांख्य में जिस प्रकार प्रकृति को त्रिगुणात्मिका त्रिगुणमविवेक विषयः बताया गया है, उसी प्रकार प्रकृत महाकाव्य में श्रीकृष्ण को त्रिमूर्ति अर्थात् त्रैविध्य को धारण करने वाला बताया गया है। श्रीकृष्ण ही रजोगुण का आश्रय ग्रहण करके संसार की रचना करने वाले ब्रह्म, सत्त्वगुण का आश्रय ग्रहण करके सृष्टि का पालन करते हुए विष्णु और तमोगुण का आश्रय ग्रहण करके संसार का संहार करते हुए शिव कहलाते हैं–

ineHkfjfr l't¥txnt% lÙoeP;r bfr fLFkfr u;uA
lgju gj bfr fJrLreL=/ke"k Hktfr f=fHkxk.k%AA

इसी प्रकार इनके त्रिगुण स्वरूप को महाकवि ने व्याकरण की धातुओं के साथ जोड़कर ऐसा सादृश्य प्रस्तुत किया है, जो उनके सांख्य तथा व्याकरण दोनों विषयों में प्रवीणता को दर्शाता है–

doy n/kfr drokfpu% iR;;kfug u tkr def.kA
/kkro% l'tfrlg'kkLr;% Lrkfrj= foijhrdkjd%AA

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण केवल कर्तृवाची प्रत्ययों सृज्, संहृ और शास् धातुओं को ही धारण करते हैं। परन्तु स्तु धातु इनके विषय में विपरीत कारण वाला है। क्योंकि ये धातुएँ सृजन, संहार तथा सृष्टि का पालन करने वाले ब्रह्मा, शिव एवं विष्णु की स्तुति के वाचक हैं। जबकि स्तु स्तूयते धातु केवल श्रीकृष्ण की, जो तीनों की समाहार है। इससे यही द्योतित होता है कि समस्त प्राणी इनकी स्तुति करते हैं और वे किसी की स्तुति नहीं करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण को सुख रहित बताया गया है। क्योंकि सुखानुभव एवं दुःखानुभव उसी को होता है जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति का भोग करता है तथा उसके प्रति मोह करता है। सत्त्व, रज तथा तमरूप बुद्धि तत्त्व के गुण भी उनके समक्ष नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि वे सत्त्वादि गुणत्रय का स्पर्श न करते हुए अपनी शक्ति से इस संसार एवं प्रकृति को क्लेशयुक्त देखते हैं। संसार के क्लेशमय होने के

कारण ही वे इससे मोह एवं लोभ नहीं करते और व्यक्ति को इस क्लेशमय संसार में किए हुए कर्मों के अनुरूप फल देते हैं–

lky;s ijL; egrk/;kfi fu;rfeg fu%l[k x.kk%A
;kfUr txnfi lnk"ken% Lo#pso lk';fr x.kku f}"kUu;eAA

सांख्य में पुरुष को निर्गुण कहा गया है। इसी प्रकार महाकवि ने भी श्रीकृष्ण को निर्गुणरूप में वर्णित किया है और निर्गुण की पूजा करने को स्वर्ग की प्राप्ति बताया है–

ukuk loZ,o leo{; defi x.kefr iT;rkeA
loZx.kfojfgrL; gj% ifjiwt;k d#ujUn! dk x.k%AA

तात्पर्य यह है कि भीष्मपितामह युधिष्ठिर को, सर्वगुण सम्पन्न होने के कारण श्रीकृष्ण की पूजा करने को कहते हैं और यह भी कहते हैं कि उनकी पूजा करने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

महाकवि माघ श्रीकृष्ण को सांख्योक्त मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः आदि के 25वें तत्त्व को परमपुरुष के रूप में वर्णित किया है और उन्हें अहंकार रहित होने के कारण कहते है कि न तो वे महान हैं, न प्रधान हैं, न भूत हैं, न तन्मात्रा हैं, न अहंकार हैं अपितु इन 24 तत्त्वों से परे 25वें तत्त्व परमपुरुष हैं–

u egku;s u p fcHkfr x.kler;k i/kkurkeA
LoL; dFk;fr fpjk; iFkXturk txR;ufHkekfurk n/krAA

इन्हीं परम पुरुष को योगदर्शन में पुरुषविशेष ईश्वर कहा गया है।

सांख्य में पुरुष को द्रष्टा कहा गया है और उसे क्रिया विहीन माना गया है। क्योंकि बुद्धि को ही सभी प्रकार के अनुभव होते हैं पुरुष को नहीं।

इसी प्रकार महाकवि ने श्रीकृष्ण को द्रष्टा के रूप में वर्णित किया है और यह भी वर्णित किया है कि वे गुणत्रय से प्रधानत्व को प्राप्त बुद्धि तत्त्व का किञ्चित भी उपकार नहीं करते। क्योंकि बुद्धि के त्रिगुणात्मक होने के कारण ही व्यक्ति जन्म–मृत्यु के दुःख को प्राप्त करता है–

midkjdL; n/krk?kkfi cgqx.kr;k i/kkurkeA
n%[ke;efulekIrork u ijL; fdf¥pnqidrqfePNfr AA

सांख्य के अनुसार बुद्धि ही सक्रिय रहती है वही सभी कर्मों को सम्पादित करती है। पुरुष तो केवल द्रष्टा मात्र है, वह निष्क्रिय है तथा वह केवल बुद्धि के द्वारा किए हुए कर्म के फल को भोगता है। इसी प्रकार महाकवि ने श्रीकृष्ण को निष्क्रिय के रूप में वर्णित किया है और यह भी बताया है कि वे तृण को भी टेढ़ा करने में समर्थ नहीं हैं। क्योंकि वे बुद्धि के द्वारा किए हुए कर्मों के फल को ही भोगते हैं। बुद्धि ही केवल कर्म करती है और वे स्वयं कर्म नहीं करते निष्क्रिय रहते हैं–

Lo;efdr;% dfVye"k r.kefi fo/kkrqe{ke%A
HkkkDrqefojreyTtr;k Qyehgrs ijdrL; de.k%AA

सांख्य के अनुसार पुरुष निर्गुण तथा अपरिणामी है। वस्तुतः वह न बँधता है, न संसरण करता है और न मुक्त होता है, अपितु प्रकृति ही असंख्य पुरुषों के आश्रय से बँधती है, संसरण करती है और मुक्त होती है–

rLekUu c/;rs/)k u eP;rs ukfi lqlqjfr df'prA
lqlqjfr c/;rs eP;rs p ukuk?J;k idfr%AA

इसी प्रकार महाकवि ने भी श्रीकृष्ण को अपरिणामी तथा निष्क्रिय के रूप में वर्णित किया है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण न मारे जाते हैं, न मरते हैं, न किसी को संतप्त करते हैं, न किए जाते हैं। इनको ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि इनकी प्रकृति अर्थात् बुद्धि अनेक स्वरूपा है। मारने आदि का कार्य तो तमोगुण का है। जबकि वे निर्गुण हैं। अतः चंचल प्रकृति ही सभी कार्य करती है, वे कुछ नहीं करते–

vfHkgUrs ;nfHkgfUr ifjrifr ;Pp rl;rsA
ukL; Hkofr opuh;fens piykfRedk idfrjso ghn'khAA

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि महाकवि माघ को सांख्य का विशुद्ध ज्ञान था। जिसका साक्ष्य उनके महाकाव्य शिशुपालवध में उनके द्वारा किए गए प्रकृति, पुरुष तथा महदादि के वर्णनों से प्राप्त होता है। महाकवि ने जहाँ एक ओर मूल प्रकृति से भिन्न निर्गुण तथा उदासीन परम पुरुष का वर्णन किया है, वहीं दूसरी ओर प्रकृति के त्रिगुणात्मक स्वरूप का भी चित्रांकन बड़ी सहजता से किया है। जहाँ एक ओर पुरुष को निष्क्रिय, अपरिणामी, द्रष्टा तथा कर्तृत्व फल के भोक्ता के रूप में वर्णित किया है, वहीं दूसरी ओर जड़ बुद्धि के द्वारा सभी कार्यों को सम्पन्न करने वाली तथा कर्ता एवं भोक्ता के रूप में भी वर्णन किया है। क्योंकि कर्ता एवं भोक्ता वही होता है जो क्रियावान होता है और वही सुख एवं दुःख का अनुभव भी करता है। इसका प्रमाण स्वयं परम पुरुष रूप आत्मा है, जो स्वयं कुछ नहीं करता फिर भी फल के भोक्त के रूप में दृष्टिगोचर होता है। चेतन पुरुष के संयोग से ही बुद्धि सभी कार्यों को सम्पादित करती है और कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व पद को प्राप्त करती है। परन्तु ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि पुरुष रूप आत्मा ही कर्ता एवं भोक्ता है।

vk/kkj xzUFk lwph %

1. सांख्यकारिका 20
2. शिशुपालवधम् 2.59
3. सांख्यकारिका 20
4. सांख्यकारिका 3
5. शिशु0 1.33
6. शिशु0 सर्ग 14 पृ0 715 डॉ0 केशवराव मुसलगांवकर
7. सां0 का0 20
8. शिशु 14.19
9. सां0 का0 23
10. शिशु0 2.77
11. शिशु0 2.78
12. शिशु0 2.80
13. सां0 का0 11
14. शिशु0 14.61
15. शिशु0 14.66
16. शिशु0 15.16 प्रक्षिप्त
17. सां0 का0 11
18. शिशु0 15.1 प्रक्षिप्त
19. सां0 का0 3
20. शिशु0 15.2 प्रक्षिप्त
21. योगदर्शन समाधिपाद सू0 24
22. सां0 का0 19
23. शिशु0 15.7 प्र0
24. शिशु0 15.8 प्रक्षिप्त
25. सां0 का0 62
26. शिशु0 15.14 प्रक्षिप्त

lUnHkZ xzUFk lwph %

1. महाकवि माघ कृत शिशुपालवधम्, व्याख्याकार– डॉ0 केशवराव मुसलगांवकर, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, संस्करण– द्वितीय, वि0 सं0 2069।
2. ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका, व्याख्याकार–म0 म0 श्री गुरुप्रसाद शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2015।
3. पातञ्जलयोगदर्शन, व्याख्याकार– हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण– 2067, 38 वां पुनर्मुद्रण।

***

vejdkr ds miU;klksa esa lkekftd&lkaLÑfrd lanHk

vouh'k dqekj flag*

अमरकांत के सभी उपन्यासों के केन्द्र में युवा–मन की हलचलें हैं। 'सूखापत्ता' में निम्न वर्ग व निम्न मध्यवर्ग के युवाओं का आदर्श व यथार्थ के बीच का द्वन्द्व है। 'आकाश पक्षी' उपन्यास में तथाकथित उच्च वर्ग का मुखौटा ओढ़े हुए से विवश होकर समझौता कर लेता है तथा विद्रोह का साहस नहीं जुटा पाता। 'ग्रामसेविका' उपन्यास की युवती सामाजिक बन्धनों को तोड़कर फेंकने का साहसपूर्ण कदम उठाती है। 'इन्हीं हाथियारों से' उपन्यास में युवा वर्ग देश की आजादी के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं।

'काले उजले दिन' का युवा अपने स्वार्थ के खातिर नैतिक मूल्य गढ़ता है। अमरकांत के उपन्यासों के केन्द्रीय पात्र मुख्यतः मध्यवर्ग से हैं परन्तु केन्द्रीय पात्रों के चरित्रों को विकसित करने में उच्चवर्गीय तथा निम्नवर्ग के पात्रों के दर्शन होते हैं, जो अपनी सामाजिक सांस्कृतिक चेतना से अनुप्रमाणित होकर ही व्यापार करते हैं। अमरकांत के उपन्यासों की कथावस्तु में सभी वर्गों के पात्र विभिन्न रूपों में देखने को मिलते हैं।

'सूखापत्ता' अमरकांत का प्रथम उपन्यास है, यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली मे लिखा गया है। यह उपन्यास, उपन्यासकार के शब्दों में उसके एक मित्र की कहानी है– ''यह मेरे मित्र की कहानी है। बीते दिनों के संस्करणों से युक्त उनकी मोटी डायरी पढ़ने के बाद यह उपन्यास लिखने की इच्छा हुई है। अमरकांत 'सूखापत्ता उपन्यास को अपने एक मित्र की कथा बताते हैं, पर उपन्यास की पूरी कथा और कथाकार की प्रारम्भिक जीवन पर दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कथा स्वयं अमरकांत की भी रही होगी। युवावस्था में स्वतंत्रता आन्दोलन में सम्मिलित होना तथा उसी प्रभाव से शिक्षा में व्यवधान आना बाद में मार्क्सवादी विचार धारा से प्रभावित होना आदि सभी घटनाएँ जो उपन्यासों के नायक के साथ दिखाई पड़ती है। वे अमरकांत के जीवन की भी घटनाएँ हैं' यह कोई आश्चर्य नहीं कि 'सूखापत्ता' उपन्यास का नायक कृष्ण कुमार स्वयं अमरकांत है।

''सूखापत्ता' उपन्यास में कथाकार ने निम्न मध्यवर्गीय युवाओं की मानसिक स्थितियों और उनकी कुण्ठाओं का वर्णन किया है। उपन्यास का मुख्य पात्र कृष्ण कुमार बलिया के ऐसे ही परिवेश मे पला बड़ा मध्यवर्ग का बालक है। वह पढ़ने लिखने में बहुत अच्छा है। और शारीरिक बनावट में दुबला–पतला है। अपने दूसरे साथियों को देखकर उसका मन ग्लानि से भर उठता है।

कुल मिलाकर अमरकांत ने 'सूखापत्ता' उपन्यास में तटस्थ होकर मध्यवर्गीय भारतीय मानस की कमजोरियों की यथार्थ स्थिति का चित्रण किया है। इस उपन्यास में अमरकांत का आलोचनात्मक यथार्थवादी (क्रिटिकल रीयलिस्टिक) रूप मुखर है। उनके दूसरे उपन्यासों में भी उनका प्रायः यही रूप दृष्टिगोचर होता है। अमरकांत की यह तटस्थ दृष्टि निश्चय ही सराहनीय है। इसी प्रकार इनका दूसरा उपन्यास 'आकाश पक्षी' उपन्यास की हेमा उच्चवर्गीय होते हुए भी प्रेम की प्यासी रहती है। क्योंकि उसके परिवार में अभिजात्यवादी संस्कारों के कारण उसे स्नेह नहीं मिलता। वह दूसरों का दुःख देखकर दुखी हो जाती है। हेमा एक मध्यवर्गीय युवा रवि से प्यार करती है। परन्तु उन दोनों के बीच सामाजिक अन्तर आड़े आ जाता है जिससे हेमा का जीवन घुटन से परिपूर्ण शव की भाँति हो जाता है। उच्चवर्गीय समाज में कर्म को प्रधानता नहीं दी जाती । आर्थिक रूप से सबल होने के कारण इस वर्ग के लोग

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

कर्म की ओर प्रवृत नहीं होते इसीलिए 'कटीली राह के फूल की मधु भी कहती है कि जिस सोसायटी में मै रहती हूँ उसने मुझे निकम्मा बना दिया है। मैं सदा रूपये पैसे के घमण्ड में रहती हूँ जबकि मैं डरपोक और स्वार्थी हूँ। मुझमें कोई गुण नहीं, यह मै इन दिनों जान गयी हूँ मधु विलासी जीवन जीती हुई पैसों को सब कुछ समझती है। वह प्रेम भी एक ऐसे अनूप नामक युवक से करती है, जो आयु में उससे छोटा रहता है। साथ कम पढ़ा भी, लेकिन भोग की कामना से वह उसे अपनी ओर आकर्षित करना चाहती है। किन्तु, अनूप उसमें आराम तलबी, स्वार्थ, सड़ांध, संकीर्णता और दुर्बलता'' देखता है। इससे मधु को ठेस पहुँचती है। उच्चवर्गीय लोग भाग्य पर विश्वास करते हुए अमीरी गरीबी को भगवान मानकर आनन्दमय जीवन व्यतीत करने के समर्थक हैं। इसलिए मधु कहती है ''मैं तो वैसा ही जीवन पसन्द करती हूँ जिसमें आनन्द ही आनन्द हो।''

'आकाश पक्षी' उपन्यास के सामंत बड़े सरकार अपने दंभ के कारण अपने बच्चों को पड़ोसियों के बच्चों से को हमेशा दूर रखते हैं। प्रदर्शन प्रिय होने के आलावा वे अय्यास भी है। वह अपने घर में ही पत्नी व जवान बेटी के होते हुए युवा महराजिन से अवैध सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। हमेशा निम्न व निम्नमध्यवर्गीय लोगों के साथ पशुवत व्यवहार करके उन्हें गाली देकर बुलाते हैं। और बेवजह उन लाचार व गरीब लोगों को मारते–पीटते हैं। क्योंकि उनकी सोच है कि ऊँचा हमेशा ऊँचा रहेगा और नीचा हमेशा नीचा रहेगा।''

'ग्रामसेविका' उपन्यास अमरकांत के शुरूआती दौर का उपन्यास है। इसका प्रकाशन 1962 ई0 मे हुआ था। कथाकार के अनुसार यह उपन्यास ग्रामसेविकाओं के इण्टरव्यू के आधार पर लिखा गया। प्रारम्भ में इसका प्रकाशन धारावाहिक के रूप में 'नयी हवा नही रोशनी' के नाम से उत्तर प्रदेश के सूचना विभाग के साप्ताहिक पत्र ग्राम्या में हुआ। बाद में वृहद् रूप में उपन्यास 'ग्राम सेविका' के रूप में हिन्दी कथा साहित्य के सामने आया।

यह उपन्यास उस गाँव को लेकर लिखा गया है जो भारतीय गाँव का प्रतीक है। जहाँ पर गरीबी शोषण, अज्ञान और अंधविश्वास का राज है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय सरकार ने गाँव–गाँव में शिक्षा के प्रचार प्रसार हेतु अनेक सुविधा उपलब्ध करायी जिसमें प्राथमिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा अनौपचारिक शिक्षा व्यवस्था आँगनबाड़ी केन्द्र आदि प्रमुख हैं। उन्हीं शिक्षा व्यवस्था में ग्राम सेविका नियुक्त भी थी।

'ग्रामसेविका' उपन्यास अत्यन्त पिछड़े इलाके के भारतीय गाँवों की गरीबी, अज्ञान, अंधविश्वास एवं शोषण का प्रमाणिक दस्तावेज है। इस उपन्यास की पूरी कथा ग्रामसेविका दमयन्ती के आस–पास ही घूमती है पर उसी कथा के माध्यम से गाँव की समस्त समस्याएँ उजागर हो जाती है।

अमरकांत ने अपनी सामाजिक सांस्कृतिक चेतना को मुखर करने के लिए ग्रामसेविका उपन्यास में चार पात्रों दमयन्ती, जंगी अहीर, हरचरण और जमुना का चयन किया है। दमयंती उपन्यास की मुख्य नायिका है, जो बचपन से दुःखों और विपत्तियों को झेलते हुए समाज के शोषण के विरूद्ध आवाज उठाती है और अपने जीवन में कभी निराश नहीं होती। दमयंती की माँ का बचपन में ही इलाज के अभाव में निधन हो जाता है, यह सभी घटना उसके जीवन में घटित होते रहते हैं।

ग्रामसेविका उपन्यास में प्रेमचन्द के उपन्यासों के आदर्श और सुधार को बखूबी देखा जा सकता है। अमरकांत का यह सपना शीघ्र ही टूटा और धीरे–धीरे उनकी प्रवृत्ति में बदलाव आया।

उनमें इन स्थितियों के प्रति एक गहरी वेदना है। एवं परिवर्तन की मूक आकांक्षा भी। ठीक इसी प्रकार इनका दूसरा उपन्यास 'काले उजले दिन' उपन्यास की रचना सन् 1969 ई0 में आत्मकथात्मक शैली में किया है। यह एक मध्यम वर्गीय पात्र की आत्मकथा है। जब कोई भी कथाकार किसी भी कथावस्तु के लिए इस शैली का प्रयोग करता है तो पाठक यह सोचने को बाध्य हो जाता है, कि कहीं कथाकार अपनी ही जिंदगी के बारे में तो नहीं बयान कर रहा है चाहे जो हो अमरकांत ने इस उपन्यास में ऐसे मध्यवर्गीय परिवार की कहानी का वर्णन किया है, जिसके पास काम चलाने भर के पैसे हैं तथा जहाँ संकोच और लिहाज की बेड़ी प्रत्येक पात्र के पाँवों में पड़ी है।

अमरकांत ने 'काले उजले दिन' उपन्यास के कथा नायक की दारूण स्थिति का बड़ा प्रभावकारी वर्णन प्रस्तुत किया है। कथानायक बताता हैं कि ''वह मुझसे सीधे मुँह बात नहीं करते और जब करते तो कटहा कुत्ते की तरह। मेरे लिए तो बेटा शब्द उनके शब्दकोश में था ही नहीं। आश्चर्यजनक बात यह है कि हर प्रकार का जुल्म सहने के बावजूद कथानायक अपने पिता और विमाता का खुलकर विरोध नहीं कर पाता।

अमरकांत ने अपने प्रत्येक उपन्यास में थोड़ा बहुत जंगे आजादी का वर्णन अवश्य किया है। 'काले उजले दिन' उपन्यास में भी कथाकार ने अपने कथानायक के जीवन में घटी एक ऐसी घटना का वर्णन किया है, जिसका सम्बन्ध आजादी की लड़ाई से है। कुल मिलाकर कथाकार ने इस उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज में जड़ जमायी विसंगतियों एवं समस्याओं को बेबाक ढ़ग से चित्रित किया है। इसमें आँखों देखे जीवन का संवेदनशील चित्रण तथा साथ ही समस्याओं के निराकरण का दिशा संकेत भी है। यह उपन्यास 'सूखापत्ता', 'आकाशपक्षी' आदि उपन्यासों से अलग है। यहाँ सामाजिक समस्याओं एवं विकृतियों के चित्रण के प्रति तटस्थता नहीं है, वरन् उसमें परिवर्तन की पक्षधरता है। इनका एक और उपन्यास 'इन्हीं हथियारों से' जो कि साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित उपन्यास है। बहुत वृहद् उपन्यास है। यह लगभग 550 पृष्ठों का उपन्यास है। उपन्यास की कथावस्तु सन् बयालीस के स्वतंत्रता आंदोलन में बलिया जिले का जनता की सहभागिता और घटनाओं पर आधारित है। यूँ तो आजादी की लड़ाई और विभाजन की त्रासदी को लेकर अब तक कथा साहित्य में बहुत सी कहानियों और उपन्यासों की रचना हो चुकी है। आजादी के स्वरूप और आजादी के बाद की स्थितियों को केन्द्र में रखकर बहुत सारी बहसें भी हो चुकी हैं। किन्तु हमें स्वतंत्रता आंन्दोलन को लेकर जैसा वर्णन 'इन्ही हथियारों से उपन्यास देखने को मिलता है। वह अन्य कथाकारों की रचनाओं में देखने व पढ़ने को नहीं मिलता।

'इन्ही हथियारों से' उपन्यास में किसी बड़े राष्ट्रीय नेता का नेतृत्व शामिल नहीं था। जो थोड़े पढ़े–लिखे और समाज के जिम्मेदार कहे जाने वाले लोग हैं, वे इस आन्दोलन में से या तो तटस्थ थे या किसी न किसी रूप में अंग्रेजों के साथ थे। विद्यार्थियों और ग्रामीण जनता का एक समूह अपने आप में संगठित हुए थे और उन्होने मिलकर अंग्रेजी हुकूमत से लोहा लिया था। इस लड़ाई में न तो वे किसी एक सिद्धान्त को लेकर चल रहे थे और न ही किसी एक पार्टी का आदर्श उनके सामने था। उपन्यास में रमाशंकर और रामचंदर जैसे साधारण ग्रामीण कार्यकर्ता है। जो आजादी के लिए अपने जान की बाजी लगा देते है। नफीश, वीरेश, अम्बिका, पंचदेव और बिहारी जैसे छात्र हैं जो एक जुट होकर आन्दोलन में साथ देते हैं। सभी लोगों के विचार एक है किसी में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। इस उपन्यास को पढ़ने पर यह सवाल मन में उठने लगता है कि क्या इतने संघर्षो के बाद जो आजादी हमें प्राप्त हुई सचमुच की आजादी है यह आन्दोलन आजादी के लिए लड़ा गया था। मगर लोगों के सपने पूरे नहीं हुए। आजादी नहीं मिली तो क्या उसे हासिल करने के लिए एक बार फिर इन्हीं हथियारों को उठाना जरूरी हो गया है जो सन् बयालीस के आन्दोलन में चलाये गये थे। अमरकांत ने अपने उपन्यास 'इन्ही हथियारों से' के माध्यम से यह उपदेश देने का काम किया है। भारतीय नागरिक जो तुम आजादी की थाली को भोजन करके चिरनिन्द्रा में सोये हो, उठो जागो और अपने कर्तव्यों का निर्वाह करो, नहीं तो ये राजनीतिक शक्तियाँ तुमको जीने नहीं देंगी।

InHk %

1. 'सूखापत्ता' – अमरकांत, राजकमल पेपर बैक, नई–दिल्ली, दूसरा संस्करण 2004
2. आकाशपक्षी– अमरकांत, कृतिकार प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 1986
3. ग्रामसेविका– अमरकांत, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
4. काले उजले दिन– अमरकांत, रामकमल प्रकाश नई–दिल्ली
5. इन्ही हथियारों से– अमरकांत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2008
6. आज का हिन्दी उपन्यास– डॉ0 इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1976।
7. कथाकार अमरकांत– विजय कुमार वैराटे, अभय प्रकाशन, कानपुर, प्रथम सस्करण 2006

***

ck) n'ku e ^/;ku* lk/kuk dk egRo

t; idk'k ;kno*

c)opu %& बुद्ध गया में बोधि प्राप्त करने के अनन्तर 45 वर्षों तक लगातार मध्यमण्डल में चारिका करते हुए स्थान–स्थान पर जो उपदेश किये, उनके शिष्यों ने उन्हें कण्ठस्थ कर लिया, वे ही बुद्धवचन कहलाये। बुद्धवचनों का वर्गीकरण त्रिपिटक है। पिटक तीन है– यथा–विनय पिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्म पिटक। पिटक 'पिटारी' को कहते हैं। पिटारी की भाँति होने से एक प्रकार के संग्रह को एक 'पिटक' कहते हैं।

fou; fiVd& विनय 'अनुशासन' को कहते हैं, जिसमें भगवान बुद्ध द्वारा भिक्षु और भिक्षुणियों के आचार–सम्बन्धी नियम प्रज्ञप्त हैं।

lÙkfiVd इसमें विनय से भिन्न सामान्य बुद्धवचनों का संग्रह है।

vfHk/kEe fiVd& यह त्रिपिटक का तीसरा मुख्य भाग है। इसमें भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट दाशर्निक मन्तव्यों का संग्रह है। अभिधर्म में 'अभि' शब्द 'अतिरेक' या 'विशेष' अर्थ का वाचक है। 'धर्म' शब्द परियत्ति धर्म के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह ग्रन्थ सात प्रकरणों में विभक्त है। यद्यपि इन ग्रन्थों में अनेक गम्भीर और दुर्बोध दार्शनिक तत्वों का विवेचन किया गया है; तथापि संक्षेपतः चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण–ये चार परमार्थ धर्म ही इन सभी प्रकरणों के सामान्य अभिधेय है।

fpÙk &

QUnu piy fpÙk njD[k nfUuokj;A
vt djkfr e/kkoh mlidkjk o rtuAA

धम्मपद के चित्त वग्ग की यह गाथा चित्त के स्वभाव को व्यक्त करती है कि यह जो चित्त (मन) है। स्वभावतः चपल है, चंचल है। इसको वश में कर पाना कठिन है।

ऐसे चित्त को मेधावी पुरूष उसी प्रकार सीधा करता है– जैसे बाण बनाने वाला बाण को।

धम्मपद के यमक वग्ग की पहली गाथा में कहा गया है कि यह चित्त (मन) ही सभी धर्मों में अग्र है। बौद्ध दर्शन में इस मन को एकाग्र करने, इसका दमन करके वश में करने को कहा गया है, लेकिन, यह कठिन कार्य है। ऐसा धम्मपद की गाथा में कहा गया है। अतः इस दुरूह कार्य को करने के लिए साधक को चित्त निग्रह की एक सतत् प्रक्रिया द्वारा इस चित्त को एकाग्र करने का पथ दर्शाया गया है, जिसे ध्यान के द्वारा सम्पादित किया जाता है।

/;ku xkFkk ''झायति उपनिज्झायति ज्ञानं ''जो आलम्बन का उपनिध्यान करता है, वह ध्यान है। ध्यान के पाँच अङ्ग होते हैं। जो ध्यानस्थ साधक को आलम्बन में चित्त को एकाग्र करने में सहायक होते हैं। ये ध्यानाङ्ग 1. वितर्क, 2. विचार, 3. प्रीति, 4. सुख, 5. एकाग्रता । चित्त को एकाग्र करने में उत्पन्न होने वाले नीवरणों (बाधक तत्त्व) को प्रदान करते हैं, जिससे चित्त एकाग्र हो सके।

fordl %

''वितक्केतीति वितक्को'' जो धर्म आलम्बन के विषय में तर्क, वितर्क करता है, वह वितर्क है। आलम्बन में चित्त को आरोपित करना इसका लक्षण है। मिलिन्दपञ्हो में बड़े सहज ढंग से इसे प्रस्तुत किया है। राजा मिलिन्द प्रश्न करता है, कि भन्ते नागसेन! वितर्क का क्या लक्षण है।

*शोध छात्र, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, का0 हि0 वि0 वि0, वाराणसी ।

^^HkUr ukxlu fd yD[k.kk forDdk ^^fr**

vliUuk yD[k.kk egkjkt forDdk ^^fr**

नागसेन उत्तर देते हैं– महाराज कार्य में स्वयं को लगाना वितर्क है। इसको समझाने के लिए नागसेन उपमा द्वारा बताते हैं कि – महाराज जैसे बढ़ई अच्छी तरह से तैयार किये हुए काठ के टुकड़े को जोड़ (संधि) में लगा देता है, वैसे ही किसी काम में अपने को लगा देना वितर्क का लक्षण है।

विर्तक दो प्रकार का होता है – क्षेम विर्तक तथा प्रविवेक विर्तक।

1- {ke ford % अपनी शारीरिक क्रिया से किसी भी चल या अचल को कष्ट नहीं देना ही क्षेम वितर्क है।

2- ifood ford % एकान्त साधना का सुख ही प्रविवेक वितर्क है।

nfr; /;kuk³x fopkj& ''विचरणं विचारो सो अनुमज्जन लक्खणो'' अर्थात् आलम्बन में पुनः पुनः विचरण करना ही विचार है। अनुसञ्चरण इसका अर्थ है। धर्म के कारण चित्त आलम्बन में विचरण करता है। आलम्बन का चारों ओर स्पर्शन इसका लक्षण है।

'मिलिन्दपञ्हो' में विचार को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है– भन्ते नागसेन कि लक्खणो विचारो ''ति''। अनुमज्जन लक्खणो महाराज विचारो ''ति''।

विर्तक और विचार में जो असमानता है उसे इस उदाहरण द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है– थाली को पीटने से ध्वनि निकलती है। यहाँ जिस तरह पीटना है, उसे विर्तक और जो ध्वनि का निकालना है, उसे विचार समझना चाहिए।

ihfr % ''पिणेति इति पीति'' अर्थात् जो धर्म काय एवं चित्त का तर्पण करता है, उन्हें बढ़ाता है। वह प्रीति है। जब यह प्रीति उत्पन्न होती है तब वह चित्त धातु विकसित कमल की भाँति प्रफुल्ल हो जाती है।

जैसे मरूस्थल का कोई प्यासा और थका हुआ पथिक दूर से आते हुए किसी दूसरे पथिक से जल के विषय में पूछता है और उससे यह जानकर कि थोड़ी ही दूर पर स्वच्छ एवं मधुर जल से परिपूर्ण एक महाह्रद है। अपने चित्त में प्रसाद एवं स्फूर्ति का अनुभव करता है। तदन्तर महाह्रद की दिशा में थोड़ा चलने पर जब वह जल लेकर आते हुए एक–दूसरे व्यक्ति को देखता है, तो अपने चित्त में और अधिक तृप्ति, प्रसन्नता एवं स्फूर्ति आदि भाव इस प्रीति के लक्षण अथवा कृत है– सम्पूर्ण कार्य एवं चित्त में व्याप्त हो जाना इसका कृत्य है।

यह प्रीति पाँच प्रकार की होती है।

1. क्षुद्रिका प्रीति, 2. क्षणिका प्रीति, 3. अवक्रान्तिका प्रीति, 4. उद्वेगा प्रीति, 5. स्फरणा प्रीति।

1. क्षुद्रिका प्रीति– यह शरीर में लोम हर्षण मात्र ही कर सकती है।

2. क्षणिका प्रीति – यह क्षण–क्षण पर विद्युत्पात के समान होती है।

3. अवक्रान्तिका प्रीति– यह समुद्र तट की तरङ्ग के समान शरीर में फैलकर समाप्त हो जाती है।

4. उद्वेगा प्रीति : यह बलवती होती है, यह अपने वेग से शरीर को ऊपर की ओर उछलती हुई सी प्रतीत होती है।

5. स्फरणा प्रीति : यह सम्पूर्ण शरीर में फैल जाने की तरह प्रतीत होती है। इनसे ऐसा अनुभव होता है, मानो प्रसन्नता एवं स्फूर्ति सारे शरीर में व्याप्त हो गयी हो।

''पाति च चित्तं व्यापाद वसेन उक्कण्ठितुं अदत्वा आरम्मणे परितु द्वमेव करोति, आरम्मण सम्पिमापन लक्खणा हि प्रीति तयापदनीवरणस्सा उजुपटिपक्खा ''ति''।

l[k % स्पर्श होने पर जैसे तैल सम्पूर्ण रूई में व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार योगी की सन्तान में उत्तम चित्तजरूपों को व्याप्त करने वाली सुख वेदना उत्पन्न होती है। इसे ही सुख कहा गया है।

,dkxrk % ''एकग्गभावो समाधि'' एकलम्बनतारूपी एकाग्रता ही समाधि है। एकं अग्गं (आरम्मणं) यस्या ति एकग्गं, एकगस्स भावो एकग्गता अर्थात् जिसका एक ही आलम्बन होता है उसे 'एकाग्र' कहते हैं। उसका भाव एकाग्रता है। यह आलम्बन में चित्त का सम या सम्यक् आधान करती है। यह वह धर्म है जिसके योग से चित्त प्रबन्धन आलम्बन में एकत्र वर्तमान होता है।

/;kuk³x dk dk;Z %

1- fordl /;kuk³x % यह सत्यान (थीन) एक मिद्ध नामक प्रत्यनीकभूत नीवरण धर्मों का दहन (प्रहाण) करता है। स्त्यान एवं मिद्ध का स्वभाव सर्वदा अभिनिरोपण करना है। अतः विरूद्ध स्वभाव होने से वितर्कध्यानङ्ग स्त्यान मिद्ध नामक नीवरण धर्मों का अपनी सन्तान में नहीं आने देने के लिए उनका दहन करता है।

2- fopkj /;kuk³x % यह विचिकित्सा नामक नीवरण धर्म का दहन करता है। वितर्क ने जिन सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन में अभिनिरोपण किया था, विचिकित्सा उन धर्मों में संसय उत्पन्न कर सकती है, अतः विचार अभिनिरोपित धर्मों को प्राप्त–आलम्बन से हटने न देने के लिए आलम्बन का पुनः–पुनः अनुमज्जन (विचार–विमर्श) करता है।

3- ihfr % यह व्यापाद नामक नीवरण–धर्म का दहन करता है। व्यापाद द्वेष ही है। वह चण्डलक्षण है, अतः आलम्बन के प्रीति अप्रीति स्वभाव वाला है। विचार के द्वारा पुनः अनुमज्जन करने पर भी यदि व्यापाद उसमें विघ्न उपस्थित करता है तो विचार आलम्बन का भली–भाँति विमर्श नहीं कर सकता। प्रीति आलम्बन के प्रति प्रिय स्वभावाली है। व्यापाद एवं प्रीति दोनों परस्पर विरूद्धस्वभाव होने के कारण प्रीतिध्यानाङ्ग व्यापाद–नीवरण को चित्तसन्तति में न आने देने के लिए उसका दहन करता है तथा वितर्क के द्वारा गृहीत एवं विचार के द्वारा पुनःपुनः अनुमज्जित आलम्बन में अत्यन्त प्रीति उत्पन्न करता है।

l[k%& यह औद्धत्य (उद्धच्च) एवं कौकृत्य (कुक्कुच) नामक नीवरण धर्मों का प्रयाण करता है। उद्धच्च का स्वभाव अनुपशम और कुक्कुच का अनुप्ताप है।

,dkxzrk& यह कामच्छन्द नामक नीवरण धर्म का प्रमाण करता है। काम विषयों में राग (आसक्ति) उत्पन्न करने वाले लोभ एवं तृष्णा को कामच्छन्द कहते हैं।

नीवरण चित्त के बन्धन कहे गये हैं, यह चित्त को एकाग्र नहीं होने देते हैं। इस प्रकार यह ध्यानाङ्ग समाधि की अवस्था में साधक को चित्त एकाग्रता में सहायक का कार्य करते हैं, इसलिए बौद्ध दर्शन में ध्यान और ध्यानाङ्गों का अद्वितीय महत्व है।

lanHkZ %

1. अभिधम्मत्थसङ्गहो (प्रथम भागो)– प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ0 63, 64, 65
2. अभिधर्मकोश–(भाष्य बसुबन्धुकृत), पृ0–7
3. अथविनिश्चय सूत्रम्– काशी प्रसाद जायसवाल–अनुशील संस्थानम्, पाटलिपुत्रम्, पृ0 45
4. अभिधर्मदीपः– काशी प्रसाद जायसवाल, रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना, पृ0–94
5. अभिधर्मावतार– बुद्धशासन समिति, वर्मा, पृ0 10,
6. अभिधर्म समुच्चय– विश्वभारती शान्ति निकेतन, कलकत्ता, पृ0 68
7. मज्झिम निकाय– द्वारिका दास शास्त्री, पृ0 166
8. पपञ्चसूदनीनाम– अद्कथा (पठम भागो), पृ0 473,
9. अभिधर्मदीप–पृ0 544
10. अभिधर्मकोश– सम्पादक, राहुल सांस्कृत्यायन , काशी विद्यापीठ, पृ0 75
11. धम्मपद पालि– भिक्षुधर्म रक्षित, पृ0 19
12. खुद्दकनिकाय इतिवुत्तक पालि– स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, पृ0 197
13. मिलिन्दपञ्हो– स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, पृ0 74
14. विसुद्धिमग्ग– सम्पादक– स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारती प्रकाशन, पृ0 68, 94
15. मज्झिमनिकाय– राहुल सांस्कृत्यायन, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, श्रावस्ती, पृ0 75, 78–
16. अभिधर्मसङ्गीतिपर्याय पाद्शास्त्र–लाल जी श्रावक, केन्द्रीय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय, सारनाथ, वाराणसी, पृ0 118, 254

***

i:epn dk dFkk&lkfgR; % ukjh&'kfprk&lUnHk

c't:'k dekj nc*

आज, जब पत्रकारिता लोकतंत्र के चतुर्थ स्तंभ के रूप में स्थापित है और कथा–साहित्य अपने चरमोत्कर्ष पर है तो उसका कर्तव्य–अधिकार क्षेत्र भी बढ़ गया है। प्रत्येक दैनिक से लेकर साप्ताहिक समाचार–पत्र एवं मासिक–अर्द्धमासिक पत्र–पत्रिकाओं में पृष्ठों की संख्या एवं उनका संदर्भ न्यूनाधिक रूप से निश्चित है। फिर भी पीत पत्रकारिता (अश्लील साहित्य) का पिछले दशकों में बड़े जोर–शोर से चलन बढ़ा है। यद्यपि इसके मूल में देश, समाज की अधुनातन पाश्चात्य संस्कृति का सामान्य संस्कृति में सामान्यीकरण मुख्य कारण रहा है।

आज जब सुबह समाचार–पत्र/टी0वी0 समाचार चैनल खोलिए, तो अन्तर्राष्ट्रीय– राष्ट्रीय–प्रांतीय–स्थानीय–खेल जैसे निश्चित पृष्ठों पर न्यूनाधिक रूप से पीत पत्रकारिता का प्रभाव–वर्चस्व स्थापित नजर आता है। एम0पी0,एम0एल0ए0, उद्योगपति, खिलाड़ी, वरिष्ठ नागरिक से लेकर सामान्य नागरिक तक का चेहरा अश्लीलता से पुता नजर आता है। तब प्रश्न यह उठता है कि यह संस्कृति जो नैनो गति से पनप रही है, इसका ओर–छोर क्या है? किसी भी आम नागरिक से चर्चा करिए तो सभी यह चाहते हैं कि यह संस्कृति जल्द से जल्द नष्ट हो जाय, कहाँ से कड़ा कानून इस संदर्भ में बनना चाहिए, विभिन्न आयोगों के अलग–अलग विचार आते हैं। कोई कहता है– मृत्युदण्ड (फाँसी) दिया जाय तो कोई आजीवन कारावास/ नपुंसक बना दिये जाने की बात करता है, परन्तु फिर यह विचार सामने आता है कि क्या यह, इस समस्या का स्थायी निराकरण है? यदि नहीं तो समय आ गया है कि हम अपने अतीत में झाँके, उसका अध्ययन करें कि वह समाज, जिसे आज के हाइटेक लोग आदिम या पिछड़ी संस्कृति का समाज कहते –समझते हैं, उस समाज में ऐसा क्या था कि माँ–बहन–बेटी–पत्नी–प्रेमिका आदि का स्थान–सम्मान सुरक्षित था, केवल पुरूष नारी का ही भाव नहीं था।[1]

इधर हिन्दी कथा–साहित्य में नारी–विमर्श की बड़ी चर्चा है। इस चर्चा में पुरूष और नारी दोनों शामिल है। कुछ पत्रिकाओं के सम्पादकों ने तो जैसे युग–युग से बन्दी नारी की मुक्ति का ही आन्दोलन शुरू कर दिया है। ''आदर्श स्त्रीत्व का अर्थ पूर्ण स्वाधीनता है। सतीत्व आधुनिक हिन्दू नारी के जीवन की केन्द्रीय भावना है। पत्नी एक वृत्त का केन्द्र है जिसका स्थायित्व उसके सतीत्व पर निर्भर है।''[2]

विवेकानन्द, पवित्रता को स्त्री और पुरूष दोनों का सर्वप्रथम धर्म कहते हैं और चाहते हैं कि स्त्री अपने पति को छोड़कर शेष पुरूषों को पुत्रवत् तथा पुरूष अपनी पत्नी को छोड़कर सभी को माता, बहन तथा पुत्री के समान देखें। ऐसी पवित्रता और सतीत्व ही मनुष्य के पाशविक भावों को नष्ट कर सकता है।[3]

बीसवीं शताब्दी के नारी जागरण तथा महात्मा गांधी एवम् प्रेमचंद जैसे राष्ट्र–नायकों के स्वामी विवेकानन्द के इस नारी शुचिता के दर्शन को अपनाया और नारी की शिक्षा, बन्धनों से मुक्ति तथा उसके अधिकारों एवं उसकी स्वाधीनता के आन्दोलन में उसके भारतीय जीवन–आदर्श को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया। प्रेमचंद ने नारी के आदर्श में त्याग और सेवा के साथ पवित्रता भी उसका अंग है। प्रेमचन्द्र ने इन्द्रनाथ मदान को 7 सितम्बर 1934 को अपने पत्र में लिखा था– ''स्त्री का मेरा आदर्श त्याग है, सेवा है, पवित्रता है, सब कुछ एक में मिला–जुला–त्याग जिसका अन्त नहीं, सेवा सदैव, सहर्ष और पवित्रता ऐसी कि कोई किसी पर उस पर उँगली न उठा सके।''[4]

*शोध छात्र, आर0आर0पी0जी0कॉलेज, अमेठी।

शिवरानी देवी ने ऐसी एक घटना का वर्णन किया है, ''जब से प्रेमचंद और सवा साल की बेटी कमला के साथ स्टीमर से सरयू पार कर रही थी तो एक नवयुवक उनकी ओर बढ़ता आ रहा था। शिवरानी देवी ने प्रेमचंद को जब इसे बताया तो उन्होंने उस नवयुवक की गर्दन पकड़ी और सरजू में झोक देने को तैयार हो गये।''[5] इस प्रकार प्रेमचंद अपने निजी जीवन के साथ अपने औपन्यासिक पात्रों के जीवन में भी नारी शुचिता को कलंकित करने के पुरूष के किसी भी प्रयास को क्षमा नहीं कर सके। प्रेमचंद हिन्दी साहित्यकारों में एकमात्र ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने नारी–जागरण का शंखनाद किया, उसके 'अबला' तथा 'दासी' के परम्परागत कलंक को मिटाया, उसे शिक्षित किया और राजनीति में सक्रिय बनाया, उसे विधवा विवाह, बेमेल विवाह, दहेज, तलाक आदि कुप्रथाओं के प्रति सचेत किया और अपनी स्वाधीनता तथा अस्तित्व एवं अधिकारों के लिए संघर्ष की शक्ति प्रदान की। उन्होंने अपने नारी पात्रों में आदर्श माना, पत्नी, प्रेमिका एवं बहन के चरित्र को उत्पन्न किये तथा ऐसे नारी पात्रों की सर्जना की जो अन्याय, शोषण तथा दमन की मुक्ति के लिए लड़ सकी, लेकिन वे अपने किसी नारी पात्र को इतना आधुनिक नहीं बनना एवं देखना चाहते थे कि वह विवाह–पूर्व स्वच्छंद यौन सम्बन्ध बनाये और अपनी उन्मुक्तता से 'तितली' एवं 'स्वच्छन्द नारी' बनकर समाज को कुमार्ग पर ले जाये। इसे कोई उनका 'सेक्स टेबू' कहे, परम्परागत सतीत्व पालन की मूर्खता कहे, नारी को लक्ष्मण–रेखा में बाँधने का हिन्दू–दुराग्रह तथा आधुनिकता का विरोधी कहे तो कहे, प्रेमचन्द भारतीय नारी–शुचिता से कोई समझौता नहीं करते और न कोई ढ़ील देते हैं।

प्रेमचंद–साहित्य में नारी–शुचिता के अनेक प्रसंग मिलते हैं। इनके पहले उपन्यास 'असरारे मआबिद' उर्फ 'देवस्थान रहस्य' में महादेव मन्दिर का महन्त रामकली आदि स्त्रियों का चीर–हरण करता है, परन्तु इसमें इन स्त्रियों की सहमति होती है। 'सेवासदन' की सुमन ने गृहिणी बनने के स्थान पर 'इन्द्रियों के आनन्द–भोग' की शिक्षा पायी थी तथा उसमें अपने रूप–सौन्दर्य का अभिमान था। इसी कारण से सुमन स्वयं ही अपनी पवित्रता भंग करती है और गृहिणी से वेश्या बनती है। 'प्रेमाश्रम' में जमींदार का कारिन्दा गौस खाँ मनोहर की पत्नी विलासी का अपमान करता है तो वह आहत होती है। इस पर मनोहर गौस खाँ की हत्या कर देता है। इसी उपन्यास में गायत्री विधवा है, सम्पत्तिवान है और सती–साध्वी स्त्री है, किन्तु उसकी छोटी बहन का पति ज्ञानशंकर उसके शरीर तथा धन दोनों को हथियाना चाहता है। गायत्री के पिता राम कमलानन्द अपने दामाद ज्ञानशंकर की प्रवृत्तियों को समझ जाते हैं और विद्या से कहते हैं, ''अगर उसके सतीत्व पर जरा भी धक्का लगा तो तुम्हारे कुल का सर्वनाश हो जायेगा।''[6] संयोग कुछ ऐसा होता है कि ज्ञानशंकर और गायत्री जब अलिंगनबद्ध होते हैं तभी विद्या कमरे में प्रवेश करती है और गायत्री आत्म–ग्लानि से रोती हुई चीख मारकर कहती है, ''मैं उसके (बहन विद्या के) सामने साध्वी, सती बनती थी, अपने पतिव्रत पर घमण्ड करती थी, पर– मैं उसकी गृह–विनाशिनी, अग्नि, उसकी हाँड़ी में मुँह डालने वाली कुतिया हूँ।''[7] रामकलानन्द का शाप फलीभूत होता है और अन्त में ज्ञानशंकर आत्महत्या कर लेता है।

'रंगभूमि' उपन्यास में नारी की यौन–शुचिता के कई प्रसंग है, एक प्रसंग विनय–सोफिया का है जो प्रेमी–प्रेमिका है, दूसरा सूरदास सुभागी का है जो अपयश का भागी बनता है तथा तीसरा सुभागी के साथ घीसू आदि बलात्कार की चेष्ट करते हैं और सज़ा पाते है। भैरों के पीटने पर जब उसकी घरवाली सुभागी सूरदास के झोपड़े में आश्रय लेती है तो भैरो, नायकराम आदि उस पर पराई औरत को वश में करने का दोष लगाते हैं तो सूरदास कहता है, ''मैं पराई स्त्री को अपनी माता, बेटी, बहन समझता हूँ। जिस दिन मेरा मन इतना चंचल हो जायेगा, तुम मुझे जीता न देखोगे।''[8] आगे सूरदास नायकराम से वही कहता है, ''क्या औरत की आबरू कुछ होती ही नहीं। सुभागी गरीब है, अबला है, मजदूरी करके अपना पेट पालती है, इसलिए जो कोई चाहे उसकी आबरू बिगाड़ दे? जो चाहे, उसे हरजाई समझ ले। औरत की आबरू कोई हँसी खेल नहीं है। इसके पीछे सिर कट जाते हैं, लहू की नदी बह जाती है।''[9] सूरदास यही करता है और विद्याधर एवं घीसू को सजा हो जाती है। 'कायाकल्प' उपन्यास में सांप्रदायिक दंगे के दौरान ख्वाजा साहब का बेटा अहिल्या को उठाकर ले जाता है और बलात्त्कार की चेष्ट करता है तो अहिल्या

उसकी ही छुरी से उसकी हत्या कर देती है और खुद ख्वाजा साहब ही सूरदास वाला तर्क देते हुए कहते हैं, ''उसने हर एक लड़की के लिए नमूना पेश कर दिया। खुदा और रसूल दोनों उसे दुआ दे रहे हैं।+++ उसने खून नहीं किया, कत्ल नहीं किया, अपनी असमत की हिफाजत की, जो उसका फर्ज था। वह खुदाई कहर था, जो छुरी बनकर इसके सीने में चुभा।''[10]

'निर्मला' उपन्यास में निर्मला का जीवन और चरित्र ही यौन–अतृप्ति का प्रतीक है। वह अपने पति तोताराम में पति को नहीं पिता को देखती हैं। अतः वह अपने सौतेले बड़े पुत्र मंसाराम से हँसती–बोलती है। इसका परिणाम यह हुआ कि मंसाराम की मृत्यु हुई और निर्मला पति की निगाह में गिर गयी। बाद में यही निर्मला अपनी सहेली के पति डाक्टर भुवन की ओर आकर्षित होती है और डाक्टर भुवन जैसे ही एकान्त में अपना प्रेम प्रकट करता है, तो निर्मला वहाँ से भाग खड़ी होती है। सुधा इस घटना को जानकर अपने पति डाक्टर भुवन को ऐसी भर्त्सना करती है कि भुवन आत्महत्या कर लेता है, पर सुधा ऐसे सौभाग्य से वैधव्य को पसन्द करती है।[11] 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में कमला प्रसाद पूर्णा के साथ दुर्व्यवहार करना चाहता है, परन्तु उसे पूर्णा का विरोध तथा समाज का अपयश मिलता है। 'कर्मभूमि' उपन्यास में अमरकान्त विवाहित होकर भी कुमारी सकीना से प्रेम करता है और सकीना भी उसे चाहती है। एक दिन जब दोनों प्रेम के आवेग में थे तभी पठानिन आ जाती है और उत्तेजित होकर कहती है, ''चुपचाप चला जा, नहीं तो आँखे निकाल लूँगी। तू है किस घमण्ड में? अभी एक इशारा कर दूँ तो सारा मुहल्ला जमा हो जाय। हम गरीब हैं, मुसीबत के मारे हैं, रोटियों के मुहताज हैं। जानता है क्यों? इसलिए कि हमें आबरू प्यारी है। खबरदार जो इधर का रूख किया। मुँह में कालिख लगाकर चला जा।''[12] इस घटना की तीव्र प्रतिक्रिया होती है और अमरकान्त को शहर से ही जाना पड़ता है और उसकी पत्नी सुखदा इन शब्दों में अपने पति का मूल्यांकन करती है– ''उन्होंने मेरे साथ विश्वासघात किया है। मैं ऐसे कमीने आदमी की खुशामद नहीं कर सकती। 'गोदान' में नारी–शुचिता के कई प्रसंग है, जो सामाजिक प्रश्नों को उत्पन्न करते है। होरीराम का अपना परिवार है तथा धनिया सती–साध्वी पत्नी है, जिसने होरी के सिवा किसी पुरूष को आँख भरकर देखा न था।[14] उपन्यास में गोबर तथा विधवा झुनिया के प्रेम सम्बन्ध, झुनिया के पुरूषों के कामुकता के अनुभव, पंडित को बलात्कार की चेष्टा पर पीटना, गोबर से गर्भवती होना आदि कथा प्रसंग नारी के कई रूपों को उद्घाटित करते हैं। झुनिया एक पुरूष के साथ सम्बन्ध ही रखना चाहती है और इस सम्बन्ध में वह गोबर से पहली ही मुलाकात में साफगोई से कह देती है– ''मेरा होकर रहना पडेगा। मैं तो जिसकी हो जाऊँगी, उसकी जन्म–भर के लिए हो जाऊँगी, सुख में, दुख में, सम्पत में, विपत में, उसके साथ रहूँगी। हरजाई नहीं हूँ कि सबसे हँसती–बोलती फिरूँ। न रूपये की भूखी हूँ, न गहने–कपड़े की। बस भले आदमी का संग चाहती हूँ।[15] इस अवसर पर झुनिया एक पंडित द्वारा बलात्कार की चेष्टा की घटना भी गोबर को सुनाती है। झुनिया गाँव की औरत होने पर भी पुरूष की काम–लोलुपता पर कुछ और महत्वपूर्ण बातें करती है। वह आश्चर्य करती है कि किसी का रोज–रोज मन कैसे बदल जाता है तथा क्या आदमी गाय–बकरी से भी गया बीता है? ''जब मर्द इधर–उधर ताक–झाँक करेगा तो औरत भी आँख लड़ायेगी। मर्द दूसरी औरतों के पीछे दौड़ेगा, तो औरत भी जरूर मर्दों के पीछे दौड़ेगी। मर्द का हरजाईपन औरत को भी उतना ही बुरा लगता है, जितना औरत का मर्द को।''[16] उपन्यास में मातादीन–सिलिया का प्रसंग भी कुछ ऐसा ही है। मातादीन तन–मन लेकर भी सिलिया की उपेक्षा करता था और काम करने की मशीन समझता था लेकिन उसके माता–पिता अपने भाई–बन्दों के साथ आते हैं और मातादीन के मुँह में हड्डी डाल देते हैं। सिलिया का बापू हरखू कहता है कि हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धरम हमें दो और उसकी माँ कहती है कि हम चमार हैं इसलिए हमारी कोई इज्जत ही नहीं। इसी प्रकार सोना की दृष्टि से सबसे बड़ा पाप किसी पुरूष का पर–स्त्री और पर–पुरूष की ओर ताकना था। इस अपराध के लिए उसके यहाँ कोई क्षमा न थी।

मेहता और मालती के प्रसंग में मालती स्वच्छन्द नारी है। लेखक के अनुसार मालती बाहर से तितली और अन्दर से मधुमक्खी है, लेकिन उसमें तितलीपन क्रमशः कम होता जाता है और मधुमक्खी के समान सेवा–कर्म में लग जाती है। वह प्रेम को शरीर की नहीं आत्मा की वस्तु मानती हैं तथा

सेवा–त्याग– मानवतावादी दृष्टि प्रमुख हो जाती है। 'गोदान' में ही रायसाहब की बेटी मीनाक्षी के तलाक के प्रसंग में प्रेमचंद उस समय के नारी–मुक्ति आन्दोलन की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि मीनाक्षी समाचार–पत्रों में स्त्रियों के अधिकारों की चर्चा पढ़ती और 'जनाना क्लब'' जाने लगी थी। यहाँ शिक्षित ऊँचे कुल की महिलायें आती थी और वे वोट, अधिकार और स्वाधीनता तथा नारी–जागृति की खूब चर्चा करती थीं, जैसे पुरूषों के विरूद्ध कोई षड्यन्त्र रचा जा रहा हो। इनमें अधिकांश वे देवियाँ थीं जिनकी अपने पुरूषों से न पटती थी, जो नयी शिक्षा के कारण पुरानी मर्यादाओं को तोड़ डालना चाहती थी। इन्हीं स्त्रियों में एक मिस सुल्ताना थीं जिसके कहने पर मीनाक्षी ने पति पर गुजारे का दावा किया था, परन्तु उसके पति दिग्विजय सिंह ने उस पर बदचलनी का आरोप लगाया तो मीनाक्षी मुकदमा जीतने पर भी इस अपमान का बदला लेने के लिए हंटर लेकर उसके बंगले पर पहुँची और खचंडी की भाँति पति तथा वहाँ नाचती वेश्या और पूरी चंडाल चौकड़ी की हंटर से पिटाई करती है। इस घटना का यही अर्थ है कि प्रेमचन्द मीनाक्षी जैसी स्त्री पर चरित्र–पतन के झूठे आरोप पर पति की हंटर से पिटाई कराते हैं। नारी की चारित्रिक पवित्रता उसके लिए सबसे अधिक प्रिय है और रक्षणीय है।

प्रेमचंद की कहानी 'शाप' (1910) नारी के पतिव्रत धर्म एवं सतीत्व की अद्भुत शक्ति को प्रस्तुत करती है। 'शान्ति' (1918) कहानी की सुनीता एक ऐसी भारतीय पत्नी है, जो पति से अपने समान पूर्ण समर्पण चाहती है और पति के कुमार्गी होने तथा एक्ट्रेस के साथ भाग जाने पर उसे देवता समझकर पूजा करने को तैयार नहीं है। इसी प्रकार 'त्यागी का प्रेम' (1921), नैराश्य लीला (1923) और नरक का मार्ग (1925) कहानी भी नारी शुचिता का सन्दर्भ तलाशती नजर आती है। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की नायिका प्रेमा कहती है, ''स्त्री हारे दरजे की दुराचारिणी होती है। अपने सतीत्व से अधिक उसे संसार की और किसी वस्तु पर गर्व नहीं होता, न वह किसी चीज को इतना मूल्यवान समझती है।''[17] प्रेमचंद की 'वेश्या' (1933) कहानी में माधुरी (वैश्या) पुरूष और नारी की यौन–दृष्टि से अन्तर को स्पष्ट करते हुए अपने पत्र में लिखती है– ''यह समझ रखो, नारी अपना बस रहते हुए कभी पैसों के लिए अपने को समर्पित नहीं करती। यदि वह ऐसा कर रही है तो समझ लो उसके लिए और कोई आश्रय और कोई आधार नहीं है और पुरूष इतना निर्लज्ज है कि उसी दुरावस्था से अपनी वासना तृप्त करता है और इसके साथ ही इतना निर्दय कि उसके माथे पर पतिता का कलंक लगाकर उसे उसी दुरावस्था में मरते देखना चाहता है। क्या वह नारी है? क्या नारीत्व के पवित्र मन्दिर में उसका स्थान नहीं है?''[18]

प्रेमचंद की कहानी 'मिस पद्मा' (1936) एक आधुनिक नारी का चित्र प्रस्तुत करती है जो प्रेमचंद के नारी–दर्शन को समझने के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह आज के 'लिव–इन–रिलेशनशिप' पर लिखी गयी हिन्दी की पहली कहानी है। इस कहानी में मिस पद्मा के पास रूप, यौवन, धन, शिक्षा, सम्मान सब कुछ है। वह वकालत करती हैं और स्वतंत्र रहकर भोग–विलास का आनन्द उठाती है। विवाह उनके लिए एक अप्राकृतिक बंधन था, इसलिए वह यौन–स्वतन्त्रता की अनुयायी थी। उसे प्रेमी भी ऐसा ही मिला जो स्वयं भी अपनी स्वतन्त्रता खोना न चाहता था, फिर भी दोनों मैत्री भाव से एक साथ रहते है। प्रो0 प्रसाद, पद्मा का आर्थिक एवं मानसिक शोषण करता है और पद्मा उसके बच्चे की माँ बनती है तो वह उससे पहले ही अपनी एक छात्रा के साथ इंग्लैण्ड भाग जाता है और पद्मा का सुख–स्वप्न ध्वस्त हो जाता है। यह कहानी आधुनिक नारी की यौन–स्वच्छंदता, विवाह की अस्वीकृति तथा अवैध सन्तानोत्पत्ति पर गहरी चोट करती है। साथ ही यह स्पष्ट करती है कि नारी को इस पश्चिमी आधुनिकता से सिवा कष्ट, व्यथा और उत्पीड़न के कुछ नहीं मिलने वाला है। प्रेमचंद का मन विवाह के पक्ष में यह है कि नारी–पुरूष के अधिकार समान होने चाहिए। वे 'कुसुम' (1932) में कहते हैं कि सुखमय दाम्पत्य की नींव अधिकार साम्य पर ही रखी जा सकती है। परन्तु प्रेमचन्द रूप और सेवा में सेवा को चुनते हैं और योरोपीय नारी की आमोद प्रियता और भारतीय नारी की पति परायणता में पति परायणता को श्रेष्ठ मानते हैं। प्रेमचन्द चरित्र–पवित्रता को 'घासवाली' (1929) की दलित नायिका भुलिया के चरित्र में प्रकट करके दलित नारी को भी बहुत ऊँचाई तक ले जाते हैं। भारत की नारी चाहे निम्न वर्ग की हो, दलित हो, मजदूरनी हो, उसमें चरित्रगत शुचिता कूट–कूट कर भरी है।

प्रेमचंद का युग वास्तव में, भारत के सांस्कृतिक नवजागरण का युग था और नारी–जागरण तथा नारी उत्थान इसी नवजागरण का अंग था। नवजागरण भारत को आधुनिक बना रहा था, परन्तु वह पुरातन मूल्यों की नींव पर ही निर्मित हो रहा था। इसी प्रकार भारतीय नारी भी अपने परम्परागत मूल्यों के साथ आधुनिक बना रही थी और इसी कारण वह घर, परिवार, विवाह, पतिव्रत, चारित्रिक शुचिता जैसे परम्परागत मूल्यों के प्रति समर्पित थी और साथ ही अपने अधिकार, स्वतन्त्रता और अस्तित्व का आग्रह कर रही थी। यह प्रेमचंद की ही नहीं युग की माँग थी। नारी–पत्रिका 'गृहलक्ष्मी' के दिसम्बर, 1925 (पौष संवत् 1982) के अंक में एक शिक्षित नवविवाहित का पत्र छपा था, जिसमें वह अपने युग के नारीवदियों से कहती है, ''पढ़ी–लिखी स्त्री को उस मछली की तरह न बनाओ जो तैर नहीं सकती, उस आम के पेड़ की तरह न बनाओ, जिसमें कभी फल–फूल नहीं लग सके। उसे उस रास्ते पर चलने दो जिस पर स्त्री को चलना चाहिए। जिस प्रकार पुरूषत्व आपका गुण है, उसी प्रकार स्वीत्व स्त्री का गुण है। +++ स्त्री अपना घर चाहती है, अपना द्वार चाहती है, अपना पति चाहती है, अपना बच्चा चाहती है। जितनी बातें इस चाह की बाधक हैं, वे उसके लिए घातक हैं।''[19] प्रेमचंद का विचार भी यही है। 'गोदान' में मेहता कहते है– ''नारी केवल माता है और इसके उपरान्त वह जो कुछ है वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे मान विजय है।''[20] नारी के इस प्रेमचंदीय दर्शन में घर–परिवार का मूलाधर होने पर उसके चरित्रगत पवित्रता की रक्षा की स्थितियाँ स्वतः निर्मित हो जाती है। लेकिन आज की शिक्षित नारी और कुछ हिन्दी लेखिकाओं का स्त्रीवाद इसी घर–परिवार तथा नारी की पति निष्ठा को ही ध वस्त कर रही हैं। हिन्दी की चर्चित लेखिका मैत्रेयी पुष्पा इसी बात को यों कहती है, ''घर और घेर दो शब्द हैं। घेर में जो दशा जानवरों की होती है, घर में वही स्त्री की नियति होती है। ++ मुक्ति की कोई संभावना नहीं, आना अन्ततोगत्वा वही है। मालिक प्यार करे तो ठीक वरना खाना देता रहे और पीटता रहे।''[21] पश्चिम के स्त्री आन्दोलन तथा भारत की कुछ शिक्षित महिलाओं, पत्रिकाओं तथा मीडिया, विज्ञापन और सौन्दर्य प्रतियोगिताओं आदि ने भारतीय नारी को पूर्णतः घर और यौन सम्बन्ध ों के बन्धन से मुक्ति को ही नारी की स्वतन्त्रता मान लिया है, परन्तु ऐसे कुछ सौ–दो–सौ– कुछ हजार लोग देश की पचपन करोड़ से ज्यादा स्त्रियों की आबादी को ऐसी घिनौनी सेक्स आजादी का अंग नहीं बना सकेंगे। इसी देश में मृणाल पांडे, चित्रा मुद्गल, ममता कालिया, राजी सेठ, सुनीता जैन, चन्द्रकांता, कमल कुमार, मेहरून्निसा परवेज, सूर्यबाला जैसी अनेक लेखिकाएँ ऐसे आधुनिक नारी–मुक्ति के विरोध में खड़ी हैं और सच तो यह है कि महानगरों में शिक्षित तथा कामकाजी स्त्रियाँ भी ऐसी घृणित मुक्ति के लिए तैयार नहीं है। अतः इस देश में विवेकानन्द, गांधी और प्रेमचंद के नारी–दर्शन को बड़ी से बड़ी आंधी भी नष्ट नहीं कर सकेगी। यह सच है कि आँधी चलती रहेगी, कामुकता एवं अश्लीलता का विस्तार भी होगा, कुछ देश की शिक्षित युवतियाँ उसे कैरियर भी बनायेंगी तथा फिल्मों एवं सौन्दर्य प्रतियोगिताओं में नग्न–प्रदर्शन भी करेंगी तथा वेश्यावृत्ति का व्यापार भी चलता रहेगा, परन्तु भारत के सम्पूर्ण नारी समाज को इन अर्थों में आधुनिक बनाना असम्भव ही होगा।

भारतीय नारी में चरित्र–शुचिता की जड़े इतनी गहरी है कि वह तितली बनकर भी मधुमक्खी बनी रहती है। मधु–मक्खी परिवार, सेवा तथा त्याग की प्रतीक है। प्रेमचंद का यही नारी–दर्शन था, भारतीय नारी का भी यही जीवन–दर्शन है। इसकी बुनियाद इतनी मजबूत और स्थायी है कि पश्चिम और आधुनिकतावादियों की नग्न नारीवाद की आँधी उसे तनिक भी हिला न सकेगी। अन्त में, भारत–भारती की इन दार्शनिक पंक्तियों के साथ विचार–विराम;

u ge gh jgx] u l[k&lkt lkj]
exj lf"V dk Øe e pyrk jgxkA
idV iku ijc e tk l;k gkxk]
lnk 'kke if'pe e <yrk jgxkAA**

lUnHk %

1. 'हंस' मई 1997, सम्पादकीय से
2. 'विवेकानन्द साहित्य' भाग–1, पृ0 324–325
3. वहीं, भाग–3, पृ0 42
4. 'प्रेमचंद : चिट्टी–पत्री–2, पृ0 235
5. 'प्रेमचंद : घर में' पृ0 67
6. 'प्रेमाश्रम' पृ0 302–303
7. वहीं, पृ0 316
8. 'रंगभूमि', पृ0 114
9. वहीं, पृ0 444
10. 'कायाकल्प', पृ0 213
11. 'निर्मला', पृ0 204
12. 'कर्मभूमि' पृ0 130
13. 'कर्मभूमि', पृ0 196
14. 'गोदान' पृ0 126
15. वहीं, पृ0 50
16. वहीं, पृ0 54
17. 'प्रतिज्ञा', पृ0 135
18. 'मानसरोवर' – 2, पृ0 49
19. 'गृहलक्ष्मी'– मासिक पत्रिका, पौष संवत् 1982
20. 'गोदान' पृ0 202
21. 'दैनिक जागरण' (पटना), 'कसौटी' से, 2 सितम्बर, 2005

***

lLd`r ok³e; e fufgr 'kklu&0;oLFkk

l/kk'k pkc*

किसी भी सामूहिक कार्य के सम्पादन के लिए एक व्यवस्था की आवश्यकता होती है। जनता का समूह समाज ग्राम, जनपद से क्रमशः वृद्धि को प्राप्त करता हुआ राष्ट्र का रूप लेता है। इस राष्ट्र को सुव्यवस्थित करने तथा विप्लवादि से बचाने के लिए एक सुनियोजित व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इस व्यवस्था को बनाने वाला या इसका चिन्तन करने वाला शास्त्र ''नीतिशास्त्र'' या ''अर्थशास्त्र'' के नाम से जाना जाता है। जैसे शुक्रनीति, विदुरनीति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र आदि।

नीतिशास्त्रकारों ने अपने विशाल दृष्टिकोण के कारण सम्पूर्ण पृथ्वी को एक राष्ट्र मानकर इसकी रक्षा, पालन एवं सम्वर्द्धन के लिए एक सुनियोजित व्यवस्था की परिकल्पना की है। भारतीय मनीषा ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की भावना से ओतप्रोत रही है। इसीलिए राजनीतिक जगत् में लब्धप्रतिष्ठ आचार्य कौटिल्य चाणक्य अपने 'अर्थशास्त्र' की भूमिका देते हुए प्रथम पक्ति में लिखते हैं कि पृथ्वी के लाभ, पालन के लिए पूर्वाचार्यों ने जितने भी अर्थशास्त्र लिखे हैं उन सभी के मतों को संगृहीत कर मैं अपना अर्थशास्त्र लिख रहा हूँ। यथा–

^^ifFk0;k ykHk ikyu p ;koURFk'kkL=kf.k iok'pk;% iLrkforkfu ik;'kLrkfu lâR;dfeneFk'kkL= ÑreAA**

इस अर्थशास्त्र में बहुत सारे विषयों पर विचार किया गया है। जैसे– विद्या, समुद्देश्य, वृद्धसंयोग, इन्द्रियजय, अमात्योत्पत्ति, मन्त्रिपुरोहितोत्पत्ति, शौचाशौचज्ञान, मन्त्रणा दूतप्रणिधि, राजप्रणिधि आदि।

परन्तु इन सभी विषयों में मूलभूत कारकों पर शासन व्यवस्था आधारित होती है, यथा राष्ट्रवासी जनता, राजा, मन्त्री मन्त्रणा एवं दूत। जनता की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्त्ति एवं उसकी रक्षा तथा सुव्यवस्थित कार्यप्रणाली के निर्धारण एवं देखरेख के लिए शासन व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

अतः उपर्युक्त पाँच बिन्दु को ध्यान में रखकर ही यह कार्य प्रस्तुत किया जा रहा हैं।

turk dh eyHkr vko';drk, & इस भौतिक जगत् में प्रतिपल पंख पसारती आवश्यकताओं को एक साथ उपस्थापित करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। जनता के गुण और कर्त्तव्यों को छोड़कर उनकी आवश्यताओं को उपस्थापित करने का कारण यह है कि इन्हें की पूर्ति के लिए शासन व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

आचार्य चाणक्य ने इन आवश्यकताओं को इस प्रकार उपस्थापित किया है।

;fLeu n'k u lEekuk u ofÙku p ckU/ko%
u p fo|k··xe% df'pr r n'k ifjot;rAA
/kfud% Jkf=;k jktk unh o|Lr ipe%
ip ;= u fo|Ur r= fnol olrAA
ykd;k=k Hk; yTtk nkf{k.; R;kx'khyk
ip ;= u fo|Ur u d;kr r= lfLFkfreAA

इस तरह आचार्य कौटिल्य ने निम्नांकित आवश्यकताओं को रेखांकित किया है। 1. सम्मान, 2. वृत्ति (वर्णानुकूल कार्य सम्पादन), 3. बान्धव, 4. धनिक (वैश्य या जीवनोचित धनापूर्ति करने वाला), 5.

*शोध छात्र, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्रोत्रिय (वेदों को जानने वाला, ज्ञानी), 6. नदी, 7. वैद्य, 8. लोकयात्रा (जीवनोचित धन लाभ के उपाय), 9. राजा, 10. भय (राज भय), 11. लज्जा (शर्मा), 12. दाक्षिण्य (कुशलता), 13. त्याग (शीलता), 14. विद्या लाभ।

लाभ प्रकार चौदह आवश्यकताओं में प्रायः सभी दृष्ट, अनुभूत एवं कल्पित आवश्यकताएँ समाहित हैं।

ये आवश्यकताएँ देश, काल एवं परिस्थिति के अनुकूल होती हैं। सभी की आवश्यकताएँ समान हो यह आवश्यक नहीं है।

jktk %

राजा, प्रजाओं का पालक या शासक होता है। प्रजापालक, नरपति, धरणीपति आदि इसके उपनाम होते हैं। सम्पूर्ण राज्य के संचालन प्रकार का नियन्ता एवं कर्मभोक्ता राजा ही होता है। कोई भी समूह तब तक अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं होता जब तक उसका एक सुयोग्य नायक न हो। समूह नायक के अभाव में भी लक्ष्य प्राप्त नहीं करता और यदि नायक की संख्या भूयसी हो जाय तब भी सफल नहीं होता है। संस्कृत साहित्य में यह सूक्ति अति प्रसिद्ध है– ''अनायकाः विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः।''

इस राजा के बहुत सारे गुणों की आवश्यकता विभिन्न नीतिकारों ने अपने–अपने विचार से निरूपित किया है। यथा–

dkfVY; & rLeknfj"kMoxR;kxufUn; t ; dohrA

इन षड् शत्रुओं के नाम हैं – काम क्रोध, लोभ मान (अभिमान) मद और हर्ष। कौटिल्य (चाणक्य) अपने अर्थशास्त्र के छठें अध्याय में स्पष्ट लिखते हैं–

^^dkeØk/kykHkekueng"kR;kxkRdk;%A**

'kØkpk; & इन्होनें शुक्रनीति में प्रथम अध्याय में राजा के बहुत सारे गुणों का निरूपण किया है। सभी गुणों में सारातत्त्व एक ही है कि ''प्रजा का सम्यक् पालन राजा का परम धर्म है।'' यथा –

uiL; ijek /ke% ituku ifjkyueA
n"Vfuxg.k fuR; u uhR;k·rk fouk áHkA

eu & आचार्य मनु का मानना है कि प्रजा का पालन करने के लिए ही राजा को विधाता ने बनाया है यथा –

^^j{kkFkeL; ykdL; jktkuel'tr· iHk%A**

क्षत्रिय धर्म का निरूपण करते हुए महाभारत में भी यहीं बातें कही गयी है– प्रजाश्च परिपालयेत्। संस्कृत लौकिक साहित्य में इन्हीं गुणों का न्यास किया गया है। प्रजापालन धर्म के विषय में प्रख्यात नाटककार भवभूति ने उत्तररामचरितम् में राजाराम के मुख से स्पष्ट कहलाया है कि– प्राजुरजन के लिए मैं अपना स्नेह, दया, सौख्य तो छोड़ ही रहा हूँ। यदि जानकी को भी तदर्थ छोड़ना पड़े तो मुझे कोई व्यथा नहीं होगी।

इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी कञ्चुकी राजा का वर्णन करता है कि ''सभी प्रजाओं की रक्षा अपने पुत्र की तरह करते हुए राजा उसी तरह थककर विश्राम कर रहे हैं जैसे वन्य गजराज अपने समूह (हाथी समूह) को सुरक्षित स्थान पहुँचाकर विश्राम किया करता है। यथा–''

itk% itk% Lok bo rU=f;Rok fu"kor JkUreuk fofoäeA
;Fkkfu l´k; jfoirIr% 'khr xgkLFkkufeo f}iUn%AA

राजा वस्तुतः राजा तब होता है जब वह शरीर, बुद्धि, ज्ञान, कार्य और फलप्राप्ति में भी समुचित लाभ प्राप्त करता हो। अनुकूलता सबमें बनी रहे। इसलिए महाकवि कालिदास कहते हैं कि जैसे आकार (शरीर सौष्ठव) है वैसी ही प्रज्ञा है, जैसी प्रज्ञा है वैसा ही आगम है, जैसा आगम है वैसा ही कार्यारम्भ है और जैसा कार्यारम्भ है वैसा ही फलोदय है। यथा –

vkdkjln'kiK% iK;k ln'kkxe%A
vkxe ln'kkjEHk% vkjEHkln'kkn;%AA

राजा के कर्तव्यों का पालन अति कठिन है। इन कठिनाईयों को झेलता हुआ जो राजा अपने कुल की प्रतिष्ठा की रक्षा करता है वही राजा कहलाने योग्य है। राजा को न तो अपने पर अभिमान होना चाहिए और न ही प्रजापालन मार्ग के दुःखों से डरना चाहिए। इसी तत्त्व को स्पष्ट करते हुए विशिष्ट नाटककार विशाखदत्त मुद्राराक्षसम् में लिखते हैं कि –

lfoJC/kjx% ifFk"k fo"ke"ol;pyrk
fpj /k;.kk<k x:jfi Hkok ;k·L; x:.kkA
/kj rkeokPpuoo;fl ok<: 0;oflrk
ekuLoh nE;Rokr L[kyfr u p n%[k ogfr pAA

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राजा अपने दुःखों को न गिनता हुआ प्रजाओं के सुख में अपने सुख की अनुभूति करता हुआ, सूर्य की तरह, पवन की तरह दिन–रात अपने कार्य में लगा रहता है। प्रजाओं के पालन में सज्जनों का परित्राण एवं दुष्टों का विनाश करता हुआ राजा यश प्राप्त करता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति श्रीमद्भागवद्गीता के श्लोक से भी होता है। यथा –

ifj=k.kk; lk/kuk fouk'kk; p n"Ñrke
/ke lLFkkiukFkk; lEHkkofe ;x ;xAA

eU=h &विविध नीतिकारों एवं काव्यकारों ने महत्त्व दिया है कि राजा और मन्त्री में परस्पर तालमेल होना परमावश्यक होता है। विशाखदत्त ने भी एक स्थान पर स्पष्ट कहा है कि राज्य लक्ष्मी राजा एवं मन्त्री दोनों के कन्धों पर पैर रखकर स्थिर होती है। यथा –

vR;fPNr efU=f.k ikfFkko p
fo"VH;iknkdifr"Br Jh%AA

महाकवि भारवि भी इसी पक्ष का समर्थन करते हैं। किरातार्जुनीयम् महाकाव्य में वो लिखते हैं कि जब राजा और मन्त्री दोनों राज्यव्यवस्था में परस्पर अनुकूल भाव रखते हों तभी सारी सम्पत्तियाँ अर्थात् राज्य की सुख समृद्धि राज्य को प्राप्त होती है। यथा –

lnk·udy"k fg dkor jfr
ui"oekR;"k p lolEin%AA

आचार्य शुक्र कहते हैं कि भले राजा स्वयं कार्य में समर्थ हो तथापि बिना मन्त्री से मन्त्रता किये उसे कोई कार्य नहीं करना चाहिए। यथा –

lofo|kl d'kyk uik áfi leU=for
efU=fHkLr fouk eU= udk·Fk fpUr;RDofpr AA

इन विचारों का सार तत्त्व नहीं आता है कि राज्य की सुखसमृद्धि यदि वाञ्छित है तो कुशल राजा के साथ कुशल मन्त्री का भी होना अनिवार्य है। इसलिए नीतिकारों ने मन्त्रियों की योग्यता भी निर्धारित की है। आचार्य शुक्र का कहना है कि मन्त्रीकुल, गुण और शील किसी भी सामूहिक कार्य के सम्पादन के लिए एक व्यवस्था की आवश्यकता होता है। जनता का समूह समाज, ग्राम जनपद से क्रमशः वृद्धि को प्राप्त करता हुआ राष्ट्र का रूप लेता है। इस राष्ट्र को सुव्यवस्थित करने तथा विप्लावादि से बचाने के लिए एक सुनियोजित व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इस व्यवस्था को बनाने वाला या इसका चिन्तन करने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र या अर्थशास्त्र के नाम से जाता है। जैसे शुक्रनीति, विदुरनीति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र आदि।

नीतिशास्त्रकारों ने अपने विशाल दृष्टिकोण के कारण सम्पूर्ण पृथ्वी को एक राष्ट्र मानकर इसकी रक्षा, पालन एवं सम्वर्द्धन के लिए एक सुनियोजित व्यवस्था की परिकल्पना की है। भारतीय मनीषा वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से ओतप्रोत रही है। इसीलिए राजनीतिक जगत् में लब्धप्रतिष्ठ आचार्य कौटिल्य चाणक्य अपने अर्थशास्त्र की भूमिका देते हुए प्रथम पंक्ति में लिखते हैं कि पृथ्वी के लाभ, पालन के लिए पूर्वाचार्यों ने जितने भी अर्थशास्त्री लिखे हैं उन सभी के मतों को संगृहीत कर मैं अपना अर्थशास्त्र लिख रहा हूँ। यथा –

^^ifFk0;k ykHk ikyu p ;koUR;Fk'kkL=kf.k iokpk;%
iLrkforkfu ik;'kLrkfu lâR;dfeneFk'kkL= ÑreA**

इस अर्थशास्त्र में बहुत सारे विषयों का विचार किया गया है। जैसे– विद्या समुद्देश्य, वृद्दसंयोग, इन्द्रियजय, अमात्योत्पत्ति, मन्त्रिपुराहितोत्पत्ति, शौचाशौच्ज्ञान, सन्त्रणा दूतप्रणिधि, राजप्रणिधि आदि।

परन्तु इन सभी विषयों में मूलभूत कारकों पर शासन व्यवस्था आधारित होती है, यथा राष्ट्रवासी जनता, राजा मन्त्री, मन्त्रणा एवं दूत। जनता की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्त्ति एवं उसकी रक्षा तथा सुव्यवस्थित कार्यप्रणाली के निर्धारण एवं देखरेख के लिए शासन व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

अतः उपर्युक्त पाँच बिन्दु को ध्यान में रखकर ही यह कार्य प्रस्तुत किया जा रहा है।

turk & जनता की मूलभूत आवश्यकताएँ इस भौतिक जगत् में प्रतिफल पंख पसारती आवश्यकताओं को एक साथ उपस्थापित करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। जनता के गुण और कर्त्तव्यों को छोड़कर उनकी आवश्यकताओं को उपस्थापित करने का कारण यह है कि इन्हीं की पूर्ति के लिए शासन व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

आचार्य चाणक्य ने इन आवश्यकताओं को इस प्रकार उपस्थापित किया है।

;fLeu n'k u lEekuk u ofÙku p ckU/ko%
u p fo|k··xe% df'pr r n'k ifjot;r AA
/kfud% Jkf=;k jktk unh o|Lr i'pe%
i'p ;= u fo|Ur r= fnol olr AA
ykd;k=k Hk;s yTtk nkf{k.;s R;kx'khyrk
i'p ;= u fo|Ur u d;kr r= lfLFkfreAA

इस तरह अचार्य कौटिल्य ने निम्नांकित आवश्यकताओं को रेखाकिंत किया है। 1. सम्मान 2. वृत्ति (वर्णानुकुल कार्य सम्पादन), 3. बान्धव 4. धनिक (वैश्य या जीवनोचित धनापूर्ति करने वाला) 5. क्षेत्रिय (वेदा को जानने वाला जानी) 6. नदी 7. वेद्य 8. लोकयात्रा (जीवानोचित धन लाभ के उपाय) 9. राजा 10. भय (राज भय) 11. लज्जा (शर्म), 12. दक्षिण्य (कुशलता) 13. त्याग (शीलता), 14. विद्या लाभ।

इस प्रकार चौदह आवश्कताओं में प्रायः सभी दृष्टि, अनुभूत एवं कल्पित आवश्यकताएँ समाहित हैं।

ये आवश्यकताएँ देश, काल एवं परिस्थिति के अनुकूल होती हैं। सभी की आवश्कताएँ समान हो यह आवश्यक नहीं है।

jktk & राजा प्रजाओं का पालक या शासक राजा होता है। प्रजापालक, नरपति, धरणीपति आदि इसके उपनाम होते हैं। सम्पूर्ण राज्य के सचांलन प्रकार का नियन्ता एवं कर्मभोक्ता राजा ही होता है। कोई भी समूह तब तक अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं होता जब तक उसका एक सुयोग्य नायक न हो। समूह नायक के अभाव में भी लक्ष्य प्राप्त नहीं करता और यदि नायक की संख्या भूयसी हो जाय तब भी सफल नहीं होता है। संस्कृत साहित्य में यह सूक्ति अति प्रसिद्ध है– ^^vuk;dk% fou';fUr] u';fUr cgqnk;dkA**

इस राजा के बहुत सारे गुणों की आवश्यकता विभिन्न नीतिकार ने अपने अपने विचार से निरूपित किया है। यथा – वीर राजभक्त प्रियभाषी हितकारक उपदेश देने वाला, क्लेश सहने वाला सदा धर्म पर चलने वाला, कुमार्गगामी राजा को भी कुमार्ग से सन्मार्ग पर लाने की क्षमता वाला हो। पवित्र आचरण वाला हो, काम क्रोध लोभ और आलस्य हो हीन हो। यथा –

dqyxq.k'khyo)k´Njku HkäkfUi;onku A
fgrkin'kdkUDy'klgku /kejrkUlnkAA
dqekxs uiefi cn/;k)Ùks {kek´NphuA
fueRljkUdkeØks/kykHkghukf=jkylku AA

आचार्य कौटिल्य (चाणक्य) ने विविध नीतिकारों के मत गहन मन्थन कर अपना नियम बनाया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथमाधिकरण के आठवें अध्याय में अमात्य नियुक्तिविषयक विविध मत उपस्थपित किया गया है। यहाँ भरद्वाज विशालाक्ष, पराशर, नारद, कौणवदन्त (भीष्म), उद्धव, इन्द्र आदि का मत–मतान्तर विवेचित है।

स्वयं आचार्य चाणक्य मन्त्री की नियुक्ति पर विचार करते हुए लिखते हैं कि मन्त्री वही जो स्वराष्ट्र (जिस राष्ट्र का वह मन्त्री बनेगा) में उत्पन्न हुआ हो (अर्थात् स्वदेशी हो), कुलीन हो, बुराइयों से दूर रहने वाला हो या अपनी बुराइयों को पहचानकर उसे दूर करने में समर्थ हो। जिसका कुलशील अच्छा हो, हाथी, घोड़े, रथ आदि के सञ्चालन में दक्ष हो, युद्धविद्यानिपुण हो, गीतवाद्यादि में भी कुशल हो, अर्थशास्त्र का ज्ञाता प्रत्युत्पन्न मतिवाला, चतुर, मधुर एवं उचित बोलने वाला हो। प्रगल्भ, प्रतीकार एवं प्रतिवाद करने में समर्थ हो। उत्साही, प्रभावशाली, क्लेशसहिष्णु पवित्र हृदयवाला हो। सभी के साथ मधुरव्यवहार करने वाला स्वामी में अनुराग रखने वाला, आरोग्य धैर्यवाला, अभिमानरहित, स्थित स्वभाव वाला हो। स्त्री, भूमि आदि के लिए वैरता न करने वाला हो। यथा–

जानपदोऽभिजातः स्ववग्रहः कृताशिल्पश्क्षुष्मान् प्राज्ञो धारयिष्णुर्दक्षो वाग्मी प्रगल्भ प्रतिपत्तिमानुत्साह प्रभावयुक्तः क्लेशसहः शुचिर्मैत्रो दृढ़भक्ति शीलबलारोग्यसत्त्वसंयुक्त स्तम्भचापल्यवर्जितः संप्रियो वैराणाम–कर्तेत्यमात्यसम्पत्।।

इन सभी गुणों से योग्य मन्त्री सतत् राज्य के अभ्युदय में सहायक होते हैं।

संस्कृत साहित्य में ऐसे मन्त्रियों के दर्शन यत्र–तत्र उपलब्ध होते हैं। महाकवि भास विरचित प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् में यौगन्धरायण और सम्पूर्ण राज्य को सन्मार्ग से विचलित नहीं होने देता है। राजा की समृद्धि के लिए वह कठोर से कठोर निर्णय लेने से पीछे नहीं हटता जिसका वर्णन ''स्वप्नवासवदत्तम्'' में वासवदत्ता के अग्निदाह वृत्तान्त में वर्णित है।

वस्तुतः वही मन्त्री राज्य को सुनियन्त्रित रखता है जो स्वार्थ से कोशों दूर हो। अपना सुख चाहने वाला मन्त्री कभी प्रजा को सुख नहीं दे सकता। मौर्य वंश की स्थापना कर चाणक्य स्वयं प्रासाद में नहीं अपितु कुटिया में निवास करता है। विशाख ने जो वर्णन चाणक्य के निवास का किया है, उससे चाणक्य की त्यागशीलता स्पष्ट दिखाई देती है। यथा–

miy'kdyeirr Hkndi xke;kuk
oVfHk:iârkuk cfg"kk Lrke ,"kk%A
'kj.kefi lef)% 'k";ekukfHkjkfHk&
fouferiVykUrin';rs th.kidM;e AA

eU= ;k eU=.kk – राजा और मन्त्री के अनन्तर तीसरे तत्त्व के अनन्तर तीसरे तत्त्व के रूप में मन्त्र या मन्त्रणा का स्थान होता है। मन्त्र से तात्पर्य है योजना। राजा और मन्त्री मिलकर देश राज्य की समृद्धि के लिए, शत्रुओं का विनाश करने के लिए समृद्धि लाभ के अवरोधक तत्वों को रोकने के लिए जो योजना बनाता है, उसे नीतिकार मन्त्र कहते हैं। इस मन्त्र की सफलता मन्त्र की गोपनीयता पर निर्भर करता है। मन्त्रभेद सर्वदा विनाश का कारण होता है। विद्वान राजा वही है जो मन्त्र को गुप्त रखता है। कार्य के रूप में ही प्रस्तुत करता है। चाणक्य नीति में इसी बात को स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है। यथा –

eulk fpfUrrs dk;l okpk uo idk'k;rA
eU=.k j{k;n xs< dk;l pkfi fu;kt ;rAA

आचार्य चाणक्य का कहना है कि कोई भी कार्य बिना मन्त्र के नहीं होना चाहिए। यथा – मन्त्रपूर्वाः स्मारम्भाः। इस मन्त्र की गोपनीयता के लिए आचार्य चाणक्य ने कठोर नियम बनाये हैं। इनका कहना है कि मन्त्रणा को उजागर करने वाले का सर्वथा उच्छेद कर देना चाहिये। यथा –

''तदुद्देश्य संवृत्तः कथानामनिस्त्रावी पक्षिभिरप्यनालोकयः स्यात्।। श्रूयते हि शुकसारिका–भिर्भन्त्रो भिन्न श्वभिरन्यैश्रशतिर्यग्योनिभिश्र।।'' तस्मान्मत्रोददेशमानायुक्तो नोपगच्छेत्। उच्छिद्येत मन्त्रभेदी।

इस प्रकार मन्त्र की गोपनीयता रखने वाला राजा या मन्त्री सफलता को प्राप्त करता है। वस्तुतः कभी–कभी स्वयं गुप्तचर के लिए भी मन्त्र का वास्तविक उद्देश्य छिपा ही रह जाता है। कार्य सम्पादन के बाद ही उसे मन्त्र का वास्तविक रहस्य ज्ञात होता है।

nr & शासन व्यवस्था में दूत का महत्त्व भी उत्कृष्ट होता है। राजा एवं मन्त्री के सुनियोजित कार्य को कार्यान्वित करने का काम दूत का ही होता है। यदि दूत अपने कार्य को कुशलतापूर्वक परिणाम तक पहुँचाने वाला न हो तो राजा एवं मन्त्री के चिन्तन का कोई परिणाम नहीं हो सकता है। अतः दूत के गुणों का परीक्षण आवश्यक होता है। शुक्राचार्य ने अपनी बुद्धि से विचार करते हुए लिखा है कि जो शत्रु तथा प्रजागण के व्यवहार को जानने के लिए कुशल एवं यथार्थ बातों को सुनकर उसे सही नहीं बताने में कुशल हो उसे ही दूत बनाना चाहिये। यथा –

'k=i tkHkR;oÙk foKkr d'kyk'p ;A
r x<pkjk dÙk0;k ;FkkFkJrck/kdk%AA

ऐसा दूत आज की भाषा में जासूस कहलाता है।

आचार्य चाणक्य इस दूत को तीन प्रकार का बतलाते हैं। इनके मत से मन्त्री (अमात्य) के सभी गुणों से युक्त निसृष्टार्थ नामक दूत हैं। जिसमें इनके गुणों के चार भाग में भाग हो वह परिमितार्थ नामक दूत है और जिसमें पूर्वोक मन्त्री (अमात्य) का आधा गुण हो वह शासनहर नामक दूत होता है। यथा – vekR;lEinkirk ful"VkFkA iknx.kghu% ifjferkFk% v/kx.kghu% 'kklugj%A

संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त दूत को देखा जाय तो महाकवि भारवि का दूत (वनेचर) स्पष्टवक्ता है। अपने स्वार्थ को छोड़कर राजा का हित चाहने वाला है। वह कहता है कि मैंने जो देखा वह बता रहा हूँ। मेरा कथन सत्य है, चाहे वह आपको अच्छा लगे या न लगे मैं आपका हित चाहने वाला हूँ। उचित बोलना दूत का धर्म है। जो उचित है वह मनोहर भी हो यह आवश्यक नहीं है– ''हितं मनोहारि च दुर्लभ वचः।''

'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य में दूत हंस अपने कार्यसाधन में कुशल है। वह दमयन्ती को नल के प्रति आकर्षित करने के लिए जाता है। उसकी विशिष्टता है कि दमयन्ती को कभी नहीं कहता है कि तुम नल से विवाह करने को तैयार हो जाओ पर अपना वाग्जाल ऐसा फैलता है कि दमयन्ती स्वयं कहती है कि आप मेरी शादी नल से करा दो, अन्यथा मैं आग में जल जाऊँगी– ''चेतो नलं कामयते मदीयम्''

milgkj & प्राचीन भारतीय साहित्य में शासन व्यवस्था को लेकर किये गए इस कार्य में शासन व्यवस्था के आधारभूत तत्त्वों का प्रदर्शन विवेचन यथोचित किया गया है। राजा के अधिकार क्षेत्र में आने वाली जनता एवं समस्त वस्तुओं के सम्यक् पालन पोषण एवं अभिवृद्धि के लिए शासन व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इसमें जनता की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति पर प्रथम ध्यान दिया जाना अपेक्षित है। इसके लिए राज–मन्त्री, दोनों की मन्त्रणा (राज्य हित के लिए बनाई गई योजना) एवं दूत का विशिष्ट स्थान होता है। राजा और मन्त्री दोनों की योग्यता एवं परस्पर सापेक्षभावना परमावश्यक है। मन्त्री की मन्त्रणा तभी सफल होती है, जब राजा समुचित कार्यक्षम हो, अन्यथा सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है। जब नाटककार विशाख इस बात को स्पष्ट करते हैं कि –

n0;i ftxh"kef/kxR; tMkReuk·fi
ur;'kfLofu in fu;r ifr"BkA
vn0;eR; Hkfo 'k)u;k·fi eU=h
'kh.kkJ;% irfr dyto{koR;kAA

सारांशतः यह कहा जाय कि शासन व्यवस्था तभी सफल होती है, जब व्यवस्था में लगे हुए लोग लक्ष्यसिद्धि में रत हों, अपने पक्ष से प्रीति रखते हों और विपक्ष से कोई सम्बन्ध न रखते हों। इसके विपरीत होने पर शासन व्यवस्था कभी सफल नहीं होती। न्यायशास्त्र और राजनीति शास्त्र का साधन (हेतु) तुल्य होता है। विशाखदत्त मुद्राराक्षसम् में लिखते हैं कि –

lk/;s fuf'preUo;u ?kfVr foHkR li{k fLFkfr
0;koÙk p foinkÙkk Hkofr ;ÙkR lk/ku fl);
;R lk/;s Lo;e o rY;e Hk;k% i{k fo:)s p ;r
rL;kxhdj.ku okfnu bo L;kRLokfeuk fuxg%AA

इस शोध प्रपत्र में विविध नीतिशास्त्रों एवं काव्यों का अवलोकन कर शासन व्यवस्था का समुचित रूप प्रस्तुत किया गया है।

lUnHk% %

1. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पृ0 1
2. वहीं
3. चाणक्य नीति, 1/8
4. कौटिल्य का अर्थशास्त्र, 1/7/1
5. वहीं, 1/6/1
6. शुक्रनीति, 1/14
7. महाभारत, शान्तिपूर्व 7/2
8. महाभारत, शान्तिपर्व 60/4
9. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पंचम् अंक
10. रघुवंशम् – सर्ग 1
11. मुद्राराक्षसम् 3/3
12. भवद्गीता, चतुर्थ अध्याय
13. मुद्राराक्षसम् 4/13
14. किरातार्जुनीयम्, प्रथम सर्ग
15. शुक्रनीतिः 2/2
16. वहीं, 2/8–9
17. कौटिल्य का अर्थशास्त्र 1/9/1
18. मुद्राराक्षसम् 3/15
19. चाणक्यनीत 2/7
20. कौटिल्य का अर्थशास्त्र 1/15/2
21. वहीं, 1/15/3–6
22. शुक्रनीति 2/189औ163
23. कौटिल्य का अर्थशास्त्र 1/16/2–4
24. किरातार्जुनीयम्, प्रथम सर्ग
25. नैषधीयचरितम्, तृतीय सर्ग
26. मुराक्षसम् 7/14
27. वहीं, 5/10

***

fgUnh lkfgR; d fodkl e e/;dkyhu dof;f=;k dk ;kxnku

jRu'k ;kno*

साहित्य और समाज एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं। समाज पर ही साहित्य निर्भर है। समाज में हो रही हर गतिविधियों (परिवर्तन) का अंकन साहित्य में होता है और साहित्य उस समाज की गतिविधियों के द्वारा ही उसे दिशानिर्देशित भी करता है। समाज रूपी रथ के दो चक्र हैं– नर और नारी। दोनों के समुचित सहयोग पर ही उसकी प्रति अवलम्बित रहती है, जिसमें पुरूष पौरूषमय तो नारी भावनामय होती है। यह समूची सृष्टि नर–नारी के सम्बन्धों पर अवलम्बित है। पुरूष प्रारम्भ से ही रसभोक्ता रहा है। प्रारम्भ से पुरूष प्रधान भारतीय समाज में पुरूष ने हर वस्तुओं पर अपनी प्रभुता कायम रखी और स्त्रियों की भूमिका को नकारता रहा है। इस संदर्भ में कृष्णदत्त पालिवाल ने लिखा है– ''आश्चर्य की बात यह है कि संस्कृत के समाज में शास्त्रार्थ की शताब्दियों की लंबी परम्परा है, परन्तु उस पर स्त्री की भूमिका पर बात कम हुई है, स्त्री की भूमिका भी कहीं है तो वह उपेक्षित रही है। सारा–का–सारा संस्कृत साहित्य मर्दवाद के वर्चस्व के आख्यान से रचा गया है। ऐसी स्थिति के कारण शास्त्र–चिंतन के विकास में स्त्रियों की भूमिका क्षीण रही है।''[1]

प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज, संस्कृति और शिक्षा व्यवस्था पर एक 'विशेष वर्ग' का वर्चस्व था। यह प्रभुता रखने वाले लोग स्वयं के परिवार के स्त्रियों पर शिक्षा की बंदिश लगाए हुए थे। इसलिए पुरूष के समान रसभोक्ता होते हुए नारी भी साहित्य सृजन के क्षेत्र में पुरूष के समकक्ष खड़ी नहीं हो पायी। क्योंकि उसका अधिकांश समय बच्चों के पालन–पोषण और संरक्षण में ही व्यतीत हो जाता था। स्त्री कब साहित्य का सृजन करे? इतिहास इस बात का साक्षी है कि घरेलू कार्यों और बच्चों के संरक्षण से नारी को जब भी समय मिला है उसने सभी क्षेत्रों में आगे बढ़कर अपने सहधर्मियों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने की चेष्टा की है। गार्गी, मैत्रेयी, पुष्पा जैसी विलक्षण विदुषियाँ अपनी विद्वत्ता से समाज को हतप्रभ भी की। इस संदर्भ में कृष्णदत्त पालिवाल ने लिखा है– ''शास्त्रार्थ में स्त्रियाँ अपनी उपस्थिति दर्ज करती रहीं हैं और विजय भी स्त्रियों को मिलती है। कई बार अकेली स्त्री ने पुरूष समाज को हतप्रभ कर दिया है। पुरूष उनके सामने शास्त्रार्थ में चुप रहे हैं या फिर हक्के–बक्के।''[2]

इस प्रकार यहां हम मध्यकालीन भारतीय स्त्रियों द्वारा की गई हिन्दी साहित्य–सेवा को रेखांकित करने का प्रयास करेंगे।

HkfDrdkyhu dof;f=;k

भक्तिकालीन कवयित्रियों में यत्र–तत्र युगीन समस्याओं का सच्चा प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। इन भक्त कवयित्रियों ने अपने समाज और संस्कृति के तमाम अन्तर्विरोधों को भक्ति की प्रेममयी रसधारा में बहा देने का प्रयास किया है। भक्तिकाल को दो भागों में बांटा गया है– निर्गुण धारा और सगुण धारा। कुछ कवयित्रियां निर्गुणमार्गी थीं तो कुछ सगुणमार्गी। सच तो यह है कि स्त्री रचनाकारों का साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण भक्तिकाल से ही होता है। इस काल में भारत की प्रत्येक भाषा में अनेक महत्वपूर्ण कवयित्रियां पैदा हुईं, जो इस प्रकार हैं– राजस्थान में मीराबाई, तमिल में आण्डाल, कन्नड़ में अक्क महादेवी, काश्मीर में लल्लेश्वरी, महाराष्ट्र में गोदा, महदबां, जनावाई, मुक्तावाई इत्यादि।

निर्गुण काव्यधारा में कुछ निर्गुण भक्ति से प्रेरित कुछ कवयित्रियां हैं। इस काव्यधारा की प्रमुख कवयित्रियों में उमा पारवती, इन्द्रमती, दयावाई, सहजोवाई आदि हैं। इसमें दयावाई और सहजोवाई की

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

विशेष ख्याति है। ये साखियाँ ज्यादा लिखी हैं। सहजोवाई संजीवनी माता के असीम उपकारों का विनम्र भाव से बखान करते हुए कहती है–

**ge ckyd re ek; gekjhA iy&iy ekfg djk j[kokjhAA
fufl fnu xknh e gh jk[kkA bl for opu fprkou Hkk[kkAA
fÐ"k vkj tku ufg nokA <fj&<fj tkÅ rk xfg&xfg yokAA**[3]

दयावाई की एक साखी का पद निम्न है–

**fujiPNh d iPN re fujk/kkj d /kkj]
ej re gh ukFk bd] thou iku vk/kkjA**[4]

स्वाभाविक है कि जीवन डोर से जुड़ा प्रियतम का रंग चढ़ने के बाद किसी और रंग के लिए अवसर ही नहीं बचता। प्रियतम ही भगवान है और जीवन का आधार भी। इस पद में भारतीय संस्कृति की स्पष्ट छाप दिखती है। इस प्रकार इन निर्गुण कवयित्रियों की बहुत सारे पद पन्नों के नीचे दबे पड़े हैं और बहुत कम ही प्राप्त हो पाये हैं। अगर इनके सभी पद खोज लिए जाते तो हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि होती।

सगुण भक्ति धारा को दो भागों में बांटा गया है। रामभक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा। रामभक्ति शाखा को हिन्दी में प्रचारित करने का श्रेय रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा की पांचवी पीढ़ी में आने वाले स्वामी रामानन्द जी को है। कृष्णभक्ति शाखा को प्रचारित करने का श्रेय बल्लभाचार्य और उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को है। रूप, गुण, शील और सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति भगवान को अपने समीप देख पाने की लालसा भक्त की सहज इच्छा होती है। इस इच्छा की पूर्ति पहली बार सगुण भक्ति धारा के माध्यम से हुई।

सगुण भक्तिधारा में अनेक कवयित्रियां हुई हैं जिनमें मीराबाई का नाम प्रमुख है। मीराबाई ने अपने जीवन संघर्ष और रचनाकर्म से स्त्री रचनाकारों का मार्ग प्रशस्त किया। मीरा के प्रभाव से एक तरफ राजस्थान के राजघराने से कवयित्रियां आगे आईं, तो दूसरी तरफ विभिन्न सम्प्रदायों से जुड़ी हुई कवयित्रियां भक्तिभाव से प्रेरित हुईं।

हिन्दी की प्रथम महिमामयी कवयित्री मीरा हैं जिनकी रचनाएँ आज भी प्रमाणिक रूप में उपलब्ध हैं। अन्य कवयित्रियों की रचनाएँ उपलब्ध होने के कारण मीरा को ही हिन्दी की प्रथम श्रेष्ठ कवयित्री माना जाता है। मीरा का जन्म संवत् 1573 में मेड़तिया के राजा रतनसिंह राठौर के घर हुआ। इनका विवाह उदयपुर के राजा भोज के साथ हुआ। मीरा कृष्ण की अनन्य भक्त थीं। अल्पकाल में ही पति (भोज) की मृत्यु हो गयी, जिससे कृष्ण के प्रति इनकी भक्ति और बढ़ गई। बाद में ससुराल वालों द्वारा कृष्णभक्ति और सत्संग का विरोध करने के कारण मीरा ने तुलसीदास जी से परामर्श लेने के लिए निम्न दोहा भेजा–

**Lokfr Jh ryl h dyHk"k.k n"ku gju xlkbA
ckjfg&ckj iuke djg] vc gjg lkd lenkbAA
× × × × ×
ej ekrk&firk d le gk] HkDru l[knkbA
ged dgk mfpr dfjok g] lk fyf[k;k lenkbAA**[5]

कहा जाता है कि इस पर गोस्वामी जी ने 'विनय पत्रिका' में यह पद लिख कर भेजा था–

**tkd fi; u jke ongh A
lk uj rft; dkfV ojh le t|fi ije lugh AA**

वेनीमाधव ने अपने 'मूल गोसाई चरित' में इस पत्र के आदान–प्रदान का उल्लेख करते हुए लिखा है–

**rc vk;k eokM r] foiuke l[kiky]
ehjk if=dk] yk;k iieiokyA

if< ikrh mÙkj fy[k] xhr dfoÙk cuk;]
lc rft gfj Hktok Hkyk] dg fn;k foi iBk;AA**[6]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन कवयित्रियों में मीरा प्रेरणा स्रोत का वह केन्द्र है जिन्होंने अपने जीवन संघर्ष व रचनाशीलता से स्त्री रचनाकारों का मार्ग प्रशस्त किया। इस धारा की अन्य कवयित्रियों में गंगावाई, सोन कुँवरि, बृषभानु कुँवरि, छत्रकुँवरिवाई, ब्रजदासी रानी, सुन्दर कुँवरवाई, ताज, स्वर्णलली, माधवी आदि का नाम प्रमुख है, इन स्त्री रचनाकारों के बहुत सारे पद आज भी अप्राप्य हैं। अगर प्राप्त होते तो हिन्दी साहित्य का कुछ भला होता।

jhfrdkyhu dof;f=;k

हिन्दी साहित्य में उत्तर–मध्यकाल को रीतिकाल के नाम से जाना जाता है। इस कालावधि की सम्पूर्ण परिस्थितियों का विवेचन करने से यह विविद होता है कि उस समय देश की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थिति बड़ी सोचनीय अवस्था में थी। यह काल सामाजिक, राजनीतिक उथल–पुथल और सामन्ती विचारधारा पर आश्रित था। यह वैभव और विलास का युग था। स्त्री इस काल की केन्द्रिय विषय है, परन्तु भोग्या के रूप में। युगीन परिस्थितियाँ चेतना का निर्माण करती हैं। इसलिए प्राचीन काल से महिला कवयित्रियों की जो परम्परा चली आ रही थी, उसका रीतिकाल में बहुत ह्रास हुआ। फिर भी छिट–फुट महिला कवयित्रियों की कुछ रचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। ''18वीं शताब्दी में चरणदासी सम्प्रदाय की अनुयायी सहजोबाई और दयाबाई नाम की दो विदुषी नारियाँ हुईं जिन्होंने भक्ति के अतिरिक्त साहित्य–सृजन भी की। सहजोबाई ने 'सहज प्रकाश' और 'सोलह तत्व निर्णय' पुस्तक रचना की तथा दयाबाई ने 'दया–बोध' और 'विनय मालिका' नामक ग्रन्थ लिखी।''[7]

रीतिकाल में महिला कवयित्रियों का आभाव सा दिखाई देता है। इसका मुख्यकारण उस समय की तत्कालीन परिस्थितियाँ थीं। फिर भी कुछ कवयित्रियों में कुँवरिवाई, रत्नकुँवरि, छत्रकुँवरि आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। उत्तर मध्यकालीन मराठी संत कवयित्रियों में 'वेणावाई' (17वीं शताब्दी), अक्कावाई (17–18वीं) के नाम उल्लेखनीय हैं। मुस्लिम भक्त कवयित्रियों में ताज और शेख रंगरेजिन के नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अपनी लोकभाषा में कविताएँ की हैं। ताज कवयित्री की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य है–

**lqu fny tkuh ejs fny dh dgkuh]
rq e nLr dh fodkuh] cnukeh gq lgxh eA
× × × × ×
uUn ds dekj dokku rjh ljr ij]
gks rk exykuh fgUnvkuh gks jgxh eAA**[8]

lanHk %

1. बहस में स्त्री– राधाबल्लभ त्रिपाठी, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 7
2. वहीं, पृ0 सं0 7
3. हिन्दी संतकाव्य–संग्रह– सं0– श्रीगणेश प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण– 1952, पृ0 286–287
4. भक्तिकाव्य में नारी– डॉ0 गजानन शर्मा, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण– 1972, पृ0 सं0 56
5. मीरा पदावली– सं0 नीलोत्पल– प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 15
6. वहीं, पृ0 सं0 16
7. नारी–विमर्श की भारतीय परंपरा, सं0– कृष्णदत्त पालिवाल, पृ0 सं0 166
8. आधी आबादी : संदर्भ एवं प्रसंग, डॉ0 श्रद्धा सिंह, कला मन्दिर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 119

***

An Overview of Microfinance in India:A study of SKS Microfinance Finance Institution in Allahabad District and its impact on rural women

Dr. Mukta Tripathi*
Dr. Sarita Verma**

Abstract

The paper attempts to examine an overview of microfinance in India.It is emerging as a po-werful tool for poverty alleviation in India. Its major objective is to provide a cost effective mechanism for providing financial services to the poor. Micro-Finance is dominated by SHGs (Self Help Groups) - Banks linkageProgram. Micro Finance may be defined as "provision of thrift, the wide network of the organized banking system deep credit and other financial services and products of very into rural areas. Market and the government both failed to small amounts to the poor in rural, semi urban or urban provide credit access to the poor. In fact the failure ofareas, for enabling them to raise their income levels and institutional initiatives of rural credit and to the improve living standards". Prof. Yunus, the pioneer in the field proved that provision of micro credit to poor women in Bangladesh worked well and helped them to get out of poverty. It is based on trust and not on any complicated legal procedures. It gave them a sense of empowerment. Data were collected both primary and secondary. This paper is focused on a study of SKS MFI in Allahabad District.

Introduction :

Present study focuses attention on microfinance Delivery System and its impact on empo-werment of the poor. In Developing Countries, poverty is the main problem and this approach helps to remove poverty.We know that social security is a fundamental human right. access to credit provides financial security and financial security ensure a path for economic develop-ment.Since Independence in 1947, the governments of India and Reserve Bank of India have made efforts to provide the poor with access to credit. In spite of the increase in the physical outreach of formal credit institutions in the past several decades, the rural poor continue to depend on informal sources of credit. Institutions have also faced difficulties in dealing effectively with a large number of small borrowers. Their credit needs are small and frequent and their ability to offer collaterals is limited. Besides, bulky procedures and risk views of the bank left a gap in serving the credit needs of the rural poor. The incredible success story of Grameen Bank of Bangladesh and Bank Rakyat Indonesia's Micro banking system is led to search for alternative policies, systems, and processes, saving and loan products, other cor-responding services and new delivery mechanisms that would fulfill the credit requirements of the poor. It is in this context that micro credit has emerged as the most suitable and prac-tical alternate and conventional banking for unreached poor population.

Literature Review:

MIX defines an MFI as "an organization that offers financial services to the very poor." Ac-cording to the UNCDF (2004) there are approximately 10,000 MFIs in the world but they only reach four percent of potential clients, about 30 million people. On the other

*Guest Faculty, Department of Economics, University of Allahabad.
**Lecturer,(Economics), GGIC Kharwai, Pratapgarh.

hand, according to the Microcredit Summit Campaign Report (Microcredit Summit, 2004) as of December 31st 2003, the 2,931 microcredit institutions that they have data on, have reported reaching "80,868,343 clients, 54,785,433 of whom were the poorest when they took their first loan." Even though they refer to microcredit institutions, they explain that they include "programs that provide credit for self-employment and other financial and business services to very poor persons" (Microcredit Summit, 2004).

Statement of the problem:

The microfinance delivery channel provides credit to the poor people and helps them to im-prove their economic level. No study was conducted in Allahabad district about the impact of SKS MFI delivery channels on empowerment of the rural poor.

Objective of the Study:

Present study was undertaken with a specific objective:-

To study the role of SKS-MFI in empowerment of the rural women.

Research Methodology:

District Allahabad is situated in Southern Eastern part of the State Uttar Pradesh. It liesbet-weenthe parallels of 24º 47 north latitude and 81º 19 east longitudes. Allahabad is bounded on the eastern side by district Sant Ravi Das Nagar (Varanasi), north side by district Jaunpur and Pratapgarh, western side by district Kausambhi (Earlier Allahabad) and Chitrakoot, south-eastern side by district Mirzapur and on the southern side by district Rewa of Madhya Pradesh state. From north to south the breadth is 109 kms and from east to west length is 117 kms. The study was empirical and analytical. Both Primary and secondary data were used for the study.

Status of Microfinance in India:

Microfinance services in India are provided mainly by two different models.

1. SHG-Bank Linkage model
2. MFI-Bank Linkage model.

The self-help group bank linkage model has emerged as the more dominant model due to its adoption by state-owned formal financial institutions, namely, commercial, regional rural and cooperative banks. The MFIs bank model too is gaining importance due to the massive sup-port it gets from banks, especially new generation banks in the private sector and foreign funding agencies. This microfinance model was initiated by Bangladesh Grameen Bank and is being used by some of the Micro Finance Institutions (MFIs) in our country. The group in this case does financial intermediation on behalf of the formal institution. This is the predominant model followed in India.

Grameen Groups:

In this model, financial assistance is provided to the individual in a group by the formal insti-tution on the strength of group's assurance. In other words, individual loans are provided on the strength of joint liability/co obligation. The other dimensions of the microfinance approach are:

- Savings/Thrift credit with subsidy
- Credit is linked with savings/thrift
- Absence of subsidies

other models is also significant microfinance providing Channel.

The main dimensions of the microfinance approaches in Allahabad District:

- Savings/Thrift precedes credit with subsidy (SGSY Scheme)
- Credit is linked with savings/thrift (SHG-Bank Linkage Model/NGOs)
- Absence of subsidies, savings (Microfinance Institution)

Group plays an important role in credit appraisal, monitoring, and recovery.

Micro Finance Institution:

This covers credit facility at micro level for providing finance to small producers and small micro enterprises in rural and urban areas. These MFIs working as mainly Non-banking fi-nancial companies and provides financial assistance in the form of group-individual lending.

This paper is related to joint liability groups. These groups are making by Microfinance Insti-tution. There is an individual Banking-based model that has its clients as individuals or joint liability groups. This model is best suited to lending to enterprises.

SKS Microfinance Institution:

VikramAkula forms S.K.S, as an NGO in December, 1997 and begins operations in Tumnoor Village in Meadak District of Andhra Pradesh. SKS Microfinance Limited (SKS) is a non-banking finance company (NBFC), regulated by the Reserve Bank of India. SKS moves from being a non-profit organization to becoming a for-profit company in 2005. SKS' mission is to eradicate poverty by providing financial services to the poor. SKS was found in 1997 by Vi-kramAkula, who also served as its executive chair until November 2011. Its Headquarters is situated in Hyderabad, India. The company operates across 19 of 26 Indian states. According to a CRISIL Report on Top 50 Indian Microfinance Institutions (MFIs), SKS Microfinance is the largest MFI in India with more borrowers, more branches and more loans as of 30 Sep-tember 2008.SKS distributes small loans that begin at Rs. 2,000 to Rs. 12,000 (about $44-$260) to poor women so they can start and expand simple businesses and increase their in-comes. Their micro-enterprises range from raising cows and goats in order to sell their milk, to open a village tea stall. SKS uses the group lending model where poor women guarantee each other's loans. Borrowers feel financial literacy training and must pass a test before they are allowed to take out loans. Weekly meetings with borrowers follow a highly disciplined approach. Re-payment rates on collateral-free loans are more than 99% because of this sys-tematic process. SKS also offers micro-insurance to the poor as well as financing for other goods and services that can help them combat poverty. SKS aims to make microfinance fi-nancially self-sustainable. SKS use systematic processes, technology, and training to help en-sure and offer quality service for the borrowers.

Latest Data on progress of SKS MFI as, on 31st Dec, 2015

Members: 58 lakhs

Branches: 1398

Amount Disbursed: 299790 crore (or USD 4910 million).

SKS MFI in Allahabad District

Branch office of SKS is situated in Naini (Allahabad) .It has 134 Centers in this branch. It is working in 95 villages of Allahabad. This MFI serve financial services to 2400 Clients. Loan pattern of SKS MFI can be depicted by following table.

Table -1 : Structure of Loan

Name	Rate of Interest	Loan amount (Range)	Meetings
S.K.SMFI	24.55 % per an-num	Rs. 2,000-Rs.50,000	weekly

Two Success Story:

1. This MFI is mainly success in South region but only one success story was found in Allahabad City. Rama Devi from Naini, Allahabad .She has started bamboo works. She has no income before joining the MFI. She enhanced her income level (Rs. 5,000/- per month) after becoming a member.
2. 25 Years Meera Desai of village Mowaiyya, Allahabad District married at the age of 15 has taken loan from Sonata twice.Sunita has 3 children eldest being 9 years of age.

Her husband picks up sand from river and sells it to the construction company earning a daily wage of Rs. 150/-. Their earning came to a halt when the boat suffered wreckage.SKS's loan came to rescue. Now they have their own boat and the whole of earning comes to their house only.Sunita says, "I joined SKS& took loan from them.I took the second loan and made our boat. Earlier we had to hire somebody else's boat & work.We had to share the earning with the owner of the boat. Now the whole earning comes home."

Findings:

These Findings are based on 100 members of 20 Joint Liability Groups in Dandi Village of Chaka block in Allahabad District.

1. Each group has five members.
2. It was interesting fact that all members of JLGs were able to make their signature be-cause this institution provides financial literacyprogramme to their clients.
3. Awareness level was 100 %. It means members of JLGs knew working process of SKS-MFI.
4. Pass-book was maintained by field credit officer and members also.
5. Repayment rate was 88 %.
6. Out of 100 respondents 60 % members received loan amount Rs. 10,000.
7. All members received loan for doing small business like cosmetic shop, grocery, Dairy, goat-keeping etc.
8. Employment status was increased from 17 % to 83 %.
9. All transaction of loan amount between MFIs and clients is completed in cash.

After analyzing, we have seen that the participation in MFI made a significant impact on economic empowerment of their clients. Most of the members are able to increase their income and employment status. It has been observed that, MFIs are charging high interest rates. Borrowers feel Burden of loan.By getting an established microfinance market, MFIs reduce their initial cost in group formation of clients, educating them and creating awareness about microfinance. This is one of the reasons for the dominance of the micro-finance sector in the southern states. Now the problem is that a similar trend is being fol-lowed in the northern states as well.However, as the sector completes almost two decades of age with a high growth path, financial requirement of the needy. Hence MFIs should reduce their rate of interest. MFIs should provide all kind of credit plus activities in northern region. MFIs can be taken to make the operation more transparent and efficient.

References:

Books:

1. BurraNeera&Deshmukh Joy, Murthy RanadiveRanjanai k. (2005); "Micro-credit, Po-verty and Empowerment Linking the Triad", SAGE Publication, New Delhi Thousand Oaks Landon …pp 45, 116-117 & 203.

2. GhatePrabhu "Indian Microfinance - The Challenges of rapid growth", SAGE Publi-cations, New Delhi, 2007……pp 39, 73-75.
3. Karmakar K.G. (2008); "Microfinance in India" SAGE Publications India Private Ltd Mathura Road New Delhi.……pp 36-38, 190-192 & 215, 59.

Reports:

1. Microfinance India State of the sector Report, 2006-2008 by PrabhuGhate Sage Pub-lication.
2. Microcredit summit Report, 2004.

Web Links:

1. http://www.mixmarket.org/en/demand.show.profile.asp?ett=237-microfinance institu-tions.
2. http://en.wikipedia.org/wiki/SKS_Microfinance.
3. http://www.sksindia.com/

***

सम्पादकीय सम्पर्क :
जन सेवा एवं शोध शिक्षा संस्थान
सी–23, आवास विकास कालोनी,
प्रतापगढ़–230001 (उ0प्र0) भारत
मो0– 09415627372, 08004802456
ई–मेल : unmesh0110@gmail.com
shivendrakr.maurya@gmail.com

ISSN 2394-2207

₹ 300/-

RAJ GRAPHICS # 09415842611